॥ सप्तग्रन्थाः ॥

(सिद्धान्तवचनावली, अमृतवचनावली,
पक्षग्रहण (संक्षिप्त विवरण), विशोधनिका १–४ सहित)

॥ सिद्धान्तवचनावली ॥

संयुक्त प्रकाशन

अमृतवचनावली

पुष्टि सिद्धान्त चर्चा सभा

(दि. १०-१३ जनवरी ९२ पार्ले, मुंबई)

संक्षिप्त विवरण

चर्चाकार:

गोस्वामी श्याम मनोहर तथा गोस्वामी हरिरायजी

विशोधनिका

(प्रथम प्रकरण)

गोस्वामी श्याममनोहर

विशोधनिका

(द्वितीय प्रकरण)

गोस्वामी श्याममनोहर

विशोधनिका

(तृतीय प्रकरण)

धने गृहे यदासक्ताः सेवकाः सम्भवन्ति हि।
लाभपूजार्थयत्नाश्च तदा स्यात् कुपितो हरिः ॥१॥
भक्तिमार्गं परित्यज्य शिश्नोदरकृतोद्यमाः।
आसुरावेशिनो दासाः तदौदास्यं भवेद् हरेः ॥२॥
अहङ्कारेण कुर्वन्ति तथा महदतिक्रमम्।
निजाअपि तदा कृष्णः कुप्यति स्वजनप्रियः ॥३॥
यदा महत्कुलोद्भूताः त्यजन्ति कुलगां गतिम्।
तदातु तत्कुलस्वामी क्रोधमेति न संशयः ॥४॥
अन्विष्यतां हि सर्वत्र न क्वापि सुपथस्थितिः।
तथा निजाचार्यनिष्ठा तथा दैन्यं हरेः परम् ॥५॥
तथा तद्वाक्यपरता न वैराग्यं तथाविधम्।
न यथालाभसंतोषः कथं कृष्णः प्रसीदति ॥६॥

॥ इति श्रीमद्-हरिरायचरण-विरचितं बहिर्मुखत्वनिरूपणम् ॥

गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजश्याममनोहरविरचिता

विशोधनिका

गोस्वामी श्याममनोहर

गोस्वामी
श्याम मनोहर

सप्तग्रन्थाः

(सिद्धान्तवचनावली, अमृतवचनावली,
पक्षग्रहण(संक्षिप्त विवरण), विशोधनिका १-४ सहित)

गोस्वामी श्याम मनोहर

प्रकाशक : गोस्वामी श्याम मनोहर
६३, स्वस्तिक सोसायटी,,
४था रास्ता, जुहुस्कीम,
विले-पार्ला, मुंबई ४०००५६

सहयोग प्रकाशन : श्रीचंद्रकान्त एन. शाह, कान्दिवली, मुंबई.

प्रथम संस्करण : अक्षयतृतीया वि.सं.२०७७

प्रति : ५००

नि:शुल्कवितरणार्थ

मुद्रक : पूर्वी प्रेस,
१, लोहानगर, गोंडल रोड,
राजकोट-३६०००२.

।। श्रीहरि: ।।

।। प्राक्कथन ।।

प्रस्तुत एककायापन्न सात ग्रन्थोंका पुन:प्रकाशन मेरेलिये निरतिशय हार्दिक प्रसन्नताका विषय है.

हमारे सम्प्रदायमें भगवद्भक्तिके रूपमें अनुष्ठेय भगवत्सेवा भगवत्कथा भगवत्स्वरूप भगवदुपभुक्तप्रसाद भगवत्तीर्थधामयात्रा अथवा तो तदर्थ दी जाती दीक्षा क्या हमारी आजीविका हो सकती है या नहीं?

इस प्रश्नपर हम आचार्यवंशजोमें एकमत हो कर खुले आम न तो ‘हां’ कह पानेकी निर्लज्जता प्रकट कर पानेका दु:साहस प्रकट दिखलायी देता है और नहीं ‘ना’ कह पानेका नैतिक मनोबल हमारे भीतर शेष रहा है. अत: कभी सम्प्रदायके प्रचार-प्रसारका बहाना, तो कभी उत्तमोत्तम नेग-भोग-रागप्रचुर पुष्टिप्रभुके सुखका बहाना, तो कभी वर्तमानमें नाथद्वारामें स्थित सम्प्रदायकी प्रधानपीठके अन्तर्गत श्रीगोवर्धनधरण श्रीनाथजीकी देवालयप्रणालीसे की जाती सेवारीतिका बहाना, तो कभी पुष्टिमार्गीय जनताके भक्तिभावोंके पोषणका बहाना, तो कभी तथाकथित पूर्वाचार्योंसे चली आती परम्पराका बहाना बना कर विवादास्पद मुद्दोंको बरगलाते रहना हमारी लाचारी बन गयी है.

(१)

वैसे तो इन जैसे सभी मद्दोंके सैद्धान्तिक स्पष्टीकरण वैयक्तिक भी तथा सार्वजनिक भी मौखिक या लिखित रूपसे अपनी समझके अनुसार मैं देता ही रहा हूं. फिर भी अन्यान्य दूसरे सभी विचारबिन्दुओंको स्पर्श करे बिना कभी एक बातको अनपेक्षित भार दे कर तो कभी दूसरी बातको ऊपर उछाल कर सन्तुष्ट होते रहते हैं मेरे आलोचक. यह नाटक निरन्तर चलता ही रहा और आज भी चल रहा है. चिरंजीवी गोस्वामी शरद् बावाके, परन्तु, सुझावपर कि हम सभीको मिलजुल कर एकबार इसका सर्वानुमतसे निर्णय

लेनेका प्रयास कर लेनेमें क्या आपत्ति है! मैंने अपनी रजामंदी दरसायी थी. एतदर्थ मैंने सर्वप्रथम विवादास्पद १३ मुद्दोंके बारेमें 'सिद्धान्तवचनावली' नामिका पुस्तिका मूलाचार्योंके वचनों और उनके हिन्दी-गुजराती अनुवादके साथ प्रकाशित करवायी. ये वचनावली मेरी समझको प्रकट करनेको विश्वकर्माबाग पार्ले मुंबईमें दि.१०,११,१२ जनवरी १९९२ में आयोजित सिद्धान्तचर्चासभामें विचारणीय मुद्दोंके रूपमें प्रस्तुत करनेको थी. इसके साथ असहमति रखनेवालोंको इन या अन्य भी ऐसे पूर्वाचार्योंके वचनोंके आधारपर या तो त्रुटिनिर्देशन या फिर इनका स्वाभिप्रेत भावार्थ प्रस्तुत करना था कि पूर्वोत्तरपक्षविधया यथावकाश विचार हो पाये.

साथ ही साथ जिन पूर्वाचार्योंकी चली आ रही परम्पराकी दुहाई दी जाती है, उनके वचनोंका भी संकलन 'अमृतवचनावली' नाम्ना परिशिष्टके रूपमें प्रस्तुत किया गया. वह परन्तु स्वाभिप्रेतार्थ सिद्धान्तचर्चामें समुपस्थित ३५ गोस्वामिमहानुभाव और ४ शास्त्रियोंमें किसीने भी अद्यावधि प्रस्तुत नहीं किया. फिरभी एतदर्थ गो.श्रीशरद् (मांडवी), गो.श्रीव्रजप्रियजी (मुंबई) गो.श्रीमनोज (मुंबई) आदि बारह नवयुवक गोस्वामिओंके आयोजकमण्डलका प्रयास इस विषयमें भविष्यमें कभी लिखे जानेवाले सम्प्रदायके इतिहासमें सुवर्णाक्षरोंमें लिखने योग्य स्वीकारना पड़ता है.

(२)

साथ ही साथ मेरे द्वारा प्रस्तावित सिद्धान्तवचनावली और उसके भावार्थके साथ सहमत न हो पानेवाले आठ गोस्वामी महानुभावोंमेंसे केवल श्रीहरिरायजी (जामनगर) के अपवादको छोड़ कर अवशिष्ट सातमेंसे किसीने भी न तो दूसरा भावार्थ या न मेरे भावार्थमें त्रुटिनिर्देश करनेका साहस प्रकट किया. अत: इस विषयमें तो स्वयंकी असहमति और उसके हेतुओंकी चर्चा भरी सभामें और बादमें अनर्गल प्रलापके रूपमें ही सही, कुछ न कुछ प्रतिविधान करते रह कर भी जामनगरके श्रीहरिरायजीने अतीव अभिनन्दनीय उत्तरदायित्व अपना प्रकट किया. एतदर्थ वाल्लभसम्प्रदाय इनका सर्वदा ऋणी

रहेगा रहेगा और रहेगा ही.

(३)

चर्चासभाके पहले, जब जुनागढकी हवेलीको सार्वजनिक न्यास घोषित करवानेको, नि.ली.गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमलालजीकी गादीपर बिराजनेको उत्कण्ठित गो. महानुभावने शाक्त दर्शनार्थी द्वारा मुकदमा दायर करवाया था. उसके न्यायनिर्णयमें गुजरातराज्यके उच्चन्यायालयने हवेली/मन्दिरके ठाकुरजी, उनकी सेवा करनेवाले गोस्वामियोंकी चरणभेंट भी पब्लिक ट्रस्टकी होती है विधान किया. तब गो.महाराजोंके ठाकुरजी बिराजनेके घर आदि सभी कुछ व्यक्तिगत होने है ऐसे आशयके देश-विदेशके ७० शहरोंमें १७,००० शपथपत्र एकत्रिक करके मैंने उच्चत्तम न्यायालयमें इन्टरवेंशन किया था. एतदर्थ कई गोस्वामिमहानुभावोने मुझे अधिकृत (पावर ओफ एटर्नी) बनाया था. उन अधिकारपत्रोंमें भी यही सिद्धान्त अनमने मनसे स्वीकारे गये थे और उनमेंके प्राय: अनेक महानुभाव चर्चासभामें सम्मिलित हुए थे. सो विरोध न कर पानेके कारण और सिद्धान्त पसन्द न होनेके कारण भी तटस्थ रहे थे : न विरोध और न समर्थन !

इससे पूर्व सम्प्रदायके प्रधानपीठाधीश गोस्वामी तिलकायत महाराजश्री और वयोवृद्धत्तम सूरतके श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्रीसे उनकी अध्यक्षतामें मैंने एक मीटिंग बुलानेकी बिनती की थी कि सिद्धान्तविरुद्ध न्यायनिर्णयोंके संदर्भमें हमें अपने सिद्धान्तोंका घोषणापत्र प्रकट करना चाहिए. घोषणापत्रके मसौदे में वोही बाते थी जो इन दोनों ही महानुभावोंने उच्चत्तम न्यायालय और चेरिटीकमिश्नरके सामने चले अपने-अपने मुकद्दमोंमें स्वीकारी ही थी. फिर भी दोनोंने अनुपस्थित रहना पसन्द कर अन्तमें १९९२ जनवरी की चर्चासभामें भी अनुपस्थित रहे. इनके अघोषित प्रतिनिधिके रूपमें जामनगरके श्रीहरिरायजीने पहले तो यद्यपि बेतुकी चर्चाओंमें कालक्षेप करवाके चर्चासभाको एक मखौल बनानेका भरचक प्रयास किया परन्तु अन्तमें पक्षग्रहणकी प्रक्रियामें बहोत सारे सिद्धान्त स्वीकारने ही पडे और

चर्चा स्थगित करवा दी गयी. बादमें गो.श्रीतिलकायतमहाराजश्री और सूरतवाले महाराजश्री इन्हें चर्चासभामें मानों विजयी रहे हो ऐसी 'पुष्टिसिद्धान्तसंरक्षण शिरोमणि' पदवीसे विभूषित कर दिया बादमें अखबारोंमें अभद्र अनर्गल आरोप-प्रत्यारोपोंकी शृंखला चली, अन्तमें सूरतवाले महाराजश्रीके नामसे उनके पौत्रोने 'विमर्श' नामक ग्रन्थ प्रकट करवाया. उस विमर्श और चर्चाकार श्रीहरिरायजीके विधानोंका समाधान मैंने 'विशोधनिका' के चार भागोमें किया.

(४)

इस तरह सिद्धान्तचर्चासभामें, उससे पहले भी और बीचमें भी देशके उच्चत्तम न्यायालयमें शपथपत्रमें स्वीकारे गये स्वमार्गीय सिद्धान्तोंको न्यायालयार्थ ही स्वीकारे थे, पुष्टिमार्गीय अनुयायिजनतामें प्रचार-प्रसारके लिये नहीं, कह कर छटक जानेवाले अनेकानेक गो. महानुभावोंकी न्यायालयमें शपथपत्रमें, और सिद्धान्तघोषणापत्रमें प्रकट की गई स्वीकृतियोंको विस्तृत अमृतवचनावलीके रूपमे प्रकाशित वैसी, कीया जा रहा हे, दुविधाकी मनोग्रन्थिको उजागर करने.

खैर यह संक्षेपमें सात ग्रन्थोंको एककायतया प्रकाशित करनेका इतिवृत्त है. कुल मिला कर (अब नित्यलिलास्थ) दो गोस्वामी महानुभभावोंके उद्गार जो उन्होंने मेरे सामने कहे थे उन्हें हम सभीकी मानसिकताका प्रस्तुत उदाहरण मानते हुए यहां उद्धृत करना चाहूंगा :

ज्येष्ठ भ्राता : श्याममनोहरजी ! जो सिद्धान्त आप कह रहे हो वह तो हमें हृदयसे मान्य ही है परन्तु दो-तीन पीढी तक दूसरा कोई धनोपार्जनका उपाय हमें मिल नहीं जाता तब तक इसे बन्द करनेका आपका दुराग्रह हमें विवेकपूर्ण नहीं लगता.

लघु भ्राता : दादाभाई ! ऐसे मत बोलो वरना हम देवलक सिद्ध हो जायेंगे.

ज्येष्ठ भ्राता : तो आप ही बताओ न कि हमें क्या खुलासा देना.

लघु भ्राता : दादाभाई ! ऐसे कहना चाहिए कि हमें तो पूर्णतया मान्य है परन्तु हमारे पितामहको उनकी वणिकवृत्तिके कारण मान्य नहीं. और बड़ोका अनादर हम कैसे करें?

ज्येष्ठ भ्राता : श्याममनोहरजी ! सुन लिया न ! बस यही हमारी ओरका खुलासा है.

मेरे पास हतप्रभ हो कर मौन रहनेके अलावा कुछ कहनेको बच नहीं गया था. महाराज ! सुन्यो परि समुझ्यो नाहीं!

श्रीमहाप्रभु और उनके दोनों आत्मज प्रभुचरण आदि सिद्धान्तोपदेशकोंके चरणारविन्दोंमें समर्पित करते हुए. इस ग्रन्थका मुद्रणोपयोगि उत्तरदायित्व श्रीप्रवीण डढाणिया और पीयूष गोंधिया ने निर्वाह किया है. उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापन करता हुं. आर्थिक सहयोग करनेवाले श्रीचन्द्रकान्त शाह के प्रति भी कृतज्ञ हुं.

अक्षयतृतीया,
वि.सं.२०७७ **गो.श्या.म.** (मुंबई)

अनुक्रमणिका

१. सिद्धान्तवचनावली १–६१

२. अमृतवचनावली ६२–१६७

३. पक्षग्रहण (संक्षिप्त विवरण) १६८–२५८

४. विशोधनिका–१ २५९–३५९

५. विशोधनिका–२ ३६०–५११

६. विशोधनिका–३ ५१२–६५०

७. विशोधनिका–४ ६५१–७१६

***

(क) तस्माच्छ्रीवल्लभाख्य त्वदुदितवचनादन्यथा रूपयन्ति।
भ्रान्ता ये ते निसर्गत्रिदशरिपुतया केवलान्धन्तमोगाः।।

(श्रीप्रभुचरण-कृत-वल्लभाष्टक ३).

।। सिद्धान्तवचनावली ।।

(हिन्दीभाषाभावानुवाद)

(क) हे श्रीवल्लभ! आपके कहे हुए वचनसे विपरीत जो कोई कुछ कहते हैं वे सभी भ्रान्त केवल अन्धन्तम नरकको जाने वाले सहज आसुरी जीव हैं. (श्रीप्रभु.कृत.वल्ल.३)

(ख) तदाश्रयो न वचनैः किन्तु तन्मार्गनिष्ठया।
मार्गनिष्ठा न स्वबोधैः किन्तु तादृग्गुरूदितैः।।
गुरूदितानि वाक्यानि न स्वतो ह्यनुवादतः।
अनुवादो न स्वबुद्ध्या किन्तु मूलक्रमागतः।।
अथापि तत्र चापेक्ष्यो दृढः स्वाचार्यसंश्रयः।

(शिक्षापत्र ८।२६-२८).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ख) श्रीमहाप्रभुका आश्रय केवल वाणीसे नहीं किन्तु महाप्रभुके मार्गमें निष्ठा रखकर करना चाहिये. मार्गमें निष्ठा अपनी थोथी समजसे नहीं किन्तु मार्गके गुरुके द्वारा कहे गये वचनोंके अनुसार रखनी चाहिये. गुरुके कहे हुए वचनोंका अर्थ स्वतः ही नहीं किन्तु अनुवादतः समजना चाहिये. अनुवाद भी केवल अपनी बुद्धिसे नहीं किन्तु मूलक्रम-परम्पराके अनुसार करना चाहिये. इस सारे प्रकारमें पुनः श्रीमहाप्रभुका दृढ आश्रय तो अपेक्षित है ही (शिक्षापत्र ८।२६-२८).

(ग) यो वदत्यन्यथा वाक्यम् आचार्यवचनाज्जनः।
संसृति प्रेरको वापि तत्सङ्गो दुष्टसङ्गमः।।
यश्च कृष्णे रतिं नित्यं बोधयत्यप्रयोजनाम।
निरपेक्षः सात्विकश्च तत्सङ्गः साधुसङ्गमः।।
एवं निश्चित्य सर्वेषु स्वीयेषु अन्येषु वा पुनः।
महत्कुलप्रसूतेषु कर्तव्यः सङ्गनिर्णयः।
श्रीमदाचार्यचरणे मतिः स्थाप्या सदा स्वतः।
ततएव स्वकीयानां सिद्धिः कार्यस्य सर्वथा।।

संयुक्त प्रकाशन

(शिक्षापत्र.३।८-११)

।। सिध्दान्तवचनावली ।।

(हिन्दी भाषा भावानुवाद)

संयुक्तप्रकाशन

प्रकाशन–सहयोगी :

गोस्वामी श्रीरघुनाथलालजी
मनु भवन, भगतसिंह मार्ग, पार्ले, मुंबई, ४००–०५६.

गोस्वामी श्रीअनिरुद्धलालजी
मोटी हवेली, मांडवी, कच्छ, ३७०–४६५.

गोस्वामी श्रीकिशोरचन्द्रजी
मोटी हवेली, पंच हाटडी, जूनागढ, ३६२–००१.

गोस्वामी श्याम मनोहर
अडेल, महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य मार्ग, नया शहर,
किशनगढ, अजमेर, ३०५–८०२.

गोस्वामी श्रीमधुसूदनालालजी
१५, एकांबरेश्वर गोस्वामी अग्रहारम्, मद्रास, ६००–००१.

चतुर्थपीठाधीश्वर गोस्वामी श्रीदेवकीनन्दनजी
चतुर्थपीठ, गोकुल, मथुरा, २८१–३०३.

प्रथमपीठाधीश्वर गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी
‘लालमणि’, २५।३१, आत्माराम मर्चन्ट रोड,
भुलेश्वर, मुंबई, ४००–००२.

गोस्वामी श्रीमथुरेशजी–श्रीव्रजेशजी–श्रीकन्हैयालालजी
२–बी एवरेस्ट पार्क, गोरधन वाडी, कांकरिया,
अहमदाबाद, ३८०–०२८.

गोस्वामी श्रीराजेशकुमारजी
‘अडेल’, ए–२३, श्रीजयकृष्ण सोसायटी, इसनपुर,
अहमदाबाद, ३८२–४४३.

गोस्वामी श्रीनीरजकुमारजी
बडा मन्दिर, जीवनजी महाराज लेन,
भुलेश्वर, मुंबई ४००–००२.

नि:शुल्क वितरणार्थ : प्रथम आवृत्ति. **प्रति :** १०,०००

प्रकाशनवर्ष : १९९२ जनवरी.

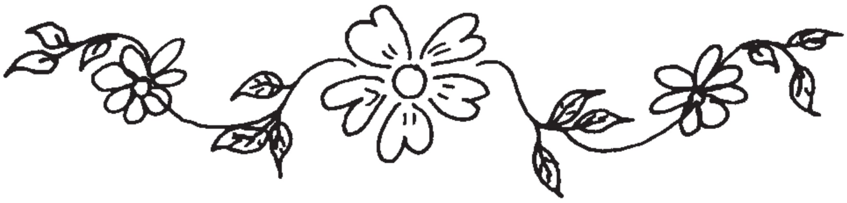

द्वितीय आवृत्ति–सहप्रकाशक
गोस्वामिनी श्रीमति पार्वतीवहुजी एज्युकेशनल एण्ड चेरिटेबल ट्रस्ट
७९, पंकज सोसायटी, भट्टा, अमदावाद, ३८०००७.

श्रीगोविन्दभाइ गांधी,
‘व्रजरज’ पोस्टओफिस के पास, हालोल, ३८९३५०.

नि:शुल्कवितरणार्थ
द्वितीय आवृत्ति
प्रत : ५०००
प्रकाशनवर्ष : १९९२ जनवरी

:: શુદ્ધિપત્ર ::

-***-પ્રસ્તુત 'સિદ્ધાંતવચનાવલી' પુસ્તિકાના પ્રકાશન અને ચર્ચાસભામાં વિતરણ થયા પછી ચર્ચા દરમ્યાન લક્ષ્યમાં આવેલી અમુક ક્ષતિઓ તરફ ભાવાનુવાદકર્તાઓનું ધ્યાનાકર્ષણ કરતાં ભાવાનુવાદકર્તાદ્વારા સાભાર સ્વીકારવામાં આવેલી ત્રુટિઓની યાદી -

પૃષ્ઠ ૧૮ ઉપર શીર્ષક (૧) માં (ગ) અનુચ્છેદમાં જ.ભે.કારિ.૪નો ગુર્જરાનુવાદ છૂટી ગયો છે. આ ક્ષતિ તરફ ગો. શ્રીરઘુનાથલાલજી (ગોકુલ-મુંબઈ)દ્વારા ધ્યાન દોરવામાં આવતાં હવે તે આ મુજબ ઉમેરવાનો છે : ''ઘરગૃહસ્થી ના નિર્વાહમાટે ભગવદ્-ગુણગાન કરનારાઓના મુખથી સાંભળવામાં આવેલી ભગવત્કથા સંસારાસક્તિ વધારનારી હોય છે.''

પૃષ્ઠ ૨૪ ઉપર શીર્ષક (૩) માં (ક) અનુચ્છેદમાં ''ગોપને મુખ્યં...લ્યબ્લોપે પંચમી'' લીટીઓ મૂલમાં અસાવધાનીથી અપાઇ ગઇ છે જોકે પ્રસ્તુત ચર્ચામાં તેમનો ભાવાનુવાદ આપવો અભિપ્રેત નહોતો (ભાવાનુવાદક). પૃષ્ઠ ૨૮ ઉપર શીર્ષક (૫)માં (ક) અનુચ્છેદમાં ''અત્ર ગૃહસ્થાન-વિધાનેન...ભવતિ''નો હિન્દી-ગુર્જર ભાવાનુવાદ છૂટી ગયો છે. આ ક્ષતિ તરફ ઘણા મહાનુભાવો દ્વારા ધ્યાન દોરવામાં આવતાં તે આ મુજબ ઉમેરવાનો છે : ''અહિંયા સેવોપયોગી સ્થાન તરીકે ઘરનું વિધાન કરવામાં આવ્યું છે તેથી જો પોતાના ઘરમાં બિરાજતા પ્રભુનું ભજન છોડીને બીજે કશે ભજન (ભેટસામગ્રી, મનોરથ કે ઝાંખી રૂપે) કરવામાં આવે તો તેને 'ભક્તિ' ન કહેવાય. :: હિન્દી :: યહાં સેવોપયોગી સ્થાનકે રૂપમેં ઘરકા વિધાન કિયા ગયા હૈ અતઃ યદિ અપને ઘરમેં બિરાજતે પ્રભુકા ભજન છોડ કર ઔર કહીં ભજન (ભેટસામગ્રી, મનોરથ યા ઝાંખી કે રૂપમેં) કિયા જાતા હૈ તો ઉસે 'ભક્તિ' નહીં કહા જા સકતા હૈ.''

પૃષ્ઠ ૩૪ ઉપર શીર્ષક (૬)માં(ડ) અનુચ્છેદમાં હિન્દી તેમજ ગુજરાતી ભાષાઓમાં આવેલ 'ઉટપટાંગ' ભાવાનુવાદ તરફ ગો.શ્રીહરિરાયજી (જામનગર) દ્વારા દોરવવામાં આવેલ લક્ષ્યને કારણે સાભાર ભાવાનુવાદક હવે અહિંયા પોતાના ઊટપટાંગ ભાવાનુવાદને ઠેકાણે સુધારેલ ભાવાનુવાદ આ મુજબ પ્રસ્તુત કરવા માગે છે : ''પ્રભુની કૃપાથી જ તેના આશયનું મેં (શ્રીહરિરાય મહાપ્રભુએ) વિવરણ કર્યું છે''. આ મુજબ હિન્દીમાં પણ સુધારી લેવાની તસ્દી સુજ્ઞ જનોં લઇ લેશે.

પૃષ્ઠ ૩૬ ઉપર શીર્ષક (૭) માં (ખ) અનુચ્છેદમાં 'મહાપાતકિનં' આ મૂલ શબ્દનો ભાવાનુવાદ છૂટી ગયો છે જે તરફ શ્રીવસન્તશાસ્ત્રીજી (મથુરા) દ્વારા લક્ષ્ય દોરવવામાં આવતાં સાભાર ભાવાનુવાદક અહિંયા તે રજુ કરે છે : ''બ્રહ્મહત્યા સુરાપાન સુવર્ણસ્તેય ગુરુપત્નીગમન અને એતત્-સંસર્ગી મહાપાતકી હોય છે.''

પૃષ્ઠ ૪૪ ઉપર શીર્ષક (૯) માં (ડ) અનુચ્છેદમાં હિન્દી ભાવાનુવાદની નવમી પંક્તિમાં શ્રીહરિરાયજી દ્વારા ધ્યાન દોરવવામાં આવતાં ભાવાનુવાદક પણ સાભાર સ્વીકારે છે કે અહીંયા હિન્દીમાં 'ગુરુકી' શબ્દ પછી 'ભી' શબ્દ હોવો જોઇતો હતો. તેમજ ગુજરાતીમાં નવમી પંક્તિમાં 'ગુરુની' શબ્દ પછી 'પણ' શબ્દ હોવો જોઇતો હતો.

।। श्रीहरिः ।।

।। प्राक्कथन ।।

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यद्वारा प्रवर्तित पुष्टिसंप्रदायमें हमारी-उपदेशक तथा अनुगामी जनाँनी-आज सबसे बड़ी कोई समस्या है तो वह यही कि यदि हम अपने संप्रदायके प्रवर्तक-प्रसारक पूर्वाचार्योंके द्वारा लिखित ग्रन्थोंको प्रमाण मानते हैं तो जो कुछ आज महाप्रभुके नामपर चल रहा है वह नितान्त सिद्धान्तवैपरीत्य ही है; और यदि जो कुछ चल रहा है उसे ही आदर्श माननेके मोहके कारण हम उसे छोड़ना न चाहते हों तो ग्रन्थोपदिष्ट सिद्धान्त सर्वथा निरर्थक, असंगत एवं अनुयायिजनोंके समक्ष अनुच्चारणीय ही हो जाते हैं. इस दुविधाको दूर करनेको जो स्पष्टीकरण दिये जाते हैं उनमेंके परिगणित मुद्दे प्राय: अधोनिर्दिष्ट हैं :

(१) महाप्रभुके सिद्धान्त क्या हम ही जानते हैं-हमारे पूर्वजोंको क्या महाप्रभुके वास्तविक सिद्धान्तोंका ज्ञान नही था?

(२) आजस पाँचसौ वर्ष पूर्वके समाज देश और काल को देखकर महाप्रभुने अपने सिद्धात घड़े थे. आज तो वह स्थिति ही नहीं रही है; और कई समस्याएँ नई भी अब हमारे ही सामने उठ खड़ी हुई हैं. समाज-देश-कालके परिवर्तित परिप्रेक्ष्यमें अब उभरी समस्याओंका व्यावहारिक निराकरण किये बिना केवल सैद्धान्तिक जड़ाग्रह रखना सारे संप्रदायको उच्छिन्न कर देनेकी नादानी होगी!

(३) स्वमार्गीय सिद्धान्त तो सभी स्वसंप्रदायिओंको मान्य होने ही चाहियें. परन्तु देशके धर्मनिरपेक्ष संविधान तथा कराधानों के भीषण प्रावधानोंसे बचनेके लिये कुछ बातें स्वसिद्धान्तोंके विपरीत भी अपनानी पड़ी हैं. इस विवशताका सिद्धान्त-जड़ाग्रहीआँके पास भी क्या समाधान है?

(४) जो लोग सिद्धान्तवचनोंके नामपर बावेला मचा रहे है वे स्वयं भी सर्वांशमें सिद्धान्तोंका पालन कहाँ कर रहे हैं?

(५) सदिओंसे जन-जनमें व्याप्त किसी भी संप्रदायसे संबन्धित सभी धार्मिक निर्णय केवल लिखित ग्रन्थोंके आधारपर लिये नही जा सकते, जीवित परंपराओंका भी अपना कोई महत्त्व होता ही है.

(६) स्वमार्गीय सिद्धान्त तो सभीको सर्वदा मान्य होने ही चाहिये परन्तु ग्रन्थोक्त कई सिद्धान्त उच्चकक्षाके अधिकारिओंके लिये प्रकट किये गये हैं. आज ऐसी उच्चकक्षाके अधिकारी जीव है कहाँ ! निम्नकक्षाके जैसे अधिकारी आज दृष्टिगत होते हैं उनके लिये परंपरया जैसा प्रकार प्रचलित है वह ठीक ही है.

(७) आजकी प्राथमिक आवश्यकता सम्प्रदायमें रचनात्मक कार्यक्रमको अपनानेकी है, न कि कलहपूर्ण सैद्धान्तिक विवादोंमें सम्प्रदायको उलझानेकी.

(८) अपना मार्ग तो प्रमाणमूलक सिद्धान्तोंपर अवलम्बित नहीं. यह मार्ग तो परमात्माकी प्रमाणातीत पुष्टिशक्तिपर अवलम्बित है. सार्वजनिक मन्दिर, अतः, यदि बन्द किये जाते हैं तो भोग-राग-शृंगारद्वारा पुष्टिपुरुषोत्तमको लाड़ लड़ानेकी सेवाप्रणालिका ही लुप्त हो जायेगी. सार्वजनिक मन्दिर यदि बन्द कर दिये जाते हैं तो अपने मार्गके वैष्णव इतर मार्गमें प्रव्टि हो जायेंगे.

(९) सिद्धान्तापसिद्धान्तकी चर्चा सार्वजनिक रूपसे नहीं करनी चाहिये. अन्यथा मूर्ख अनुगामिजनता स्वमार्गीय आचार्योंके प्रति आदरविहीन हो जायगी. अतः ऐसी चर्चा गोस्वामी आचार्योको बंद दरवाजेमें ही करनी चाहिये.

(१०) सिद्धान्त तो सभी मान्य होने ही चाहिये परंतु आजीविकाका दूसरा कोई सुलभ उपाय मिल नहीं जाता तब तक सार्वजनिक मन्दिरोंमें भगवत्सेवाका आजीविकार्थ प्रदर्शन रोकनेका दुराग्रह व्यावहारिक कैसे माना जा सकता है?

(११) हमें जो कुछ करना है हम करेंगें-किसीको भी हमारी

आलोचना करनेका क्या अधिकार है!

देवताशास्त्रमें रुद्रकी संख्या ग्यारह मानी जाती है और हमें लगता हैं कि ये एकादश रुद्र ही आजकी तारीखमें वाल्लभसम्प्रदायके संहरणकी रोद्रलीला प्रकट कर रहे है.

इन रौद्र विधानोंके संक्षिप्त और शान्त समाधान हमें खोजने होंगे. हम यह दावा तो नहीं कर सकते कि हमारा यह प्रयास सभीके लिये सन्तोषकारी ही होगा. फिर भी इन रौद्र विधानोंके प्रति हमारी शान्त वैचारिक प्रतिक्रियाको शब्दोमें अभिव्यक्त करना ही इस प्राक्कथनका मुख्य प्रयोजन है :

(१) हमारे पूर्वज-बापदादा महाप्रभुके सिद्धान्तोंको जानते थे या नहीं यह, उनके दिवंगत होनेके बाद, केवल उनके द्वारा लिखित ग्रन्थोंके आधारपर ही जाना जा सकता है. कोई कारण नहीं है कि पूर्वजोंकी समझकी सुध सिर्फ पिता या पितामह की समझ तक ही लेनी और उससे उपर नहीं. महाप्रभुसे प्रारंभ कर परवर्ती ग्रन्थकारोंके वचन प्रस्तुत वचनावलीमें संकलित है ही.

(२) शास्त्रत: प्रमाणिक कई बातें देशकालादिके परिवर्तनके कारण कई बार अशक्य बन जाती हैं. परिवर्तित देश-कालमें उभरी नई समस्याओंको सुलझानेके लिये नये समाधान भी खोजने ही पड़ते हैं. उन समाधानोंको, परन्तु, किसी दूसरेके नामपर थोप देना नीतिमत्ता नहीं. महाप्रभुके सिद्धानतोंका अनुसरण, यदि, अशक्य हो गया हो तो नया मार्ग अवश्य प्रवर्तित किया जा सकता है. उस नये मार्गको, परन्तु, महाप्रभुके नामपर हठात् थोप नहीं देना चाहिये.

(३) हाल ही मैं राजस्थानके उच्चन्यायालयने वाल्लभ सम्प्रदायके सिद्धान्तोंकी सुविशद समीक्षा करते हुवे, एक पुष्टिमार्गीय मन्दिरको 'सार्वजनिक-प्रन्यास' घोषित करनेवाली सारी सरकारी कारवाईओंको निरस्त कर दिया है. अत: इस लाचारीके बहानेमें अब कोई दम नहीं रहा. जो सेवास्थल सार्वजनिक न्यास घोषित हो चुके हैं वहां भी अपसिद्धान्तके मोहको छोड़ कर : तनुवित्तजा सेवाके व्यावसायिक विभाजनपर; और नित्यसेवा-

मनोरथोंके सार्वजनिक व्यावसायिक प्रदर्शनपर, यथासम्भव सहसा अथवा शनै:-शनै:, अंकुश लगना ही चाहिये. इस तरहकी कारवाईमें यदि कोई हस्तक्षेप करता है तो सिद्धान्तोंके प्रकाशमें न्यायालयोंसे पुनर्विचार भी करवाया जा सकता है. इस देशमें इतने सारे करोड़पति धनिक है तो कराधानोंके भीषण प्रावधानोंसे बचनेका कोई न कोई उपाय वे भी तो अपनाते ही होंगे ! कराधानके भयसे किसी करोड़पतिने अपना घर सार्वजनिक धर्मशालाके रूपमें घोषित किया हो ऐसा सुननेमें तो नहीं आया. तब भगवत्सेवार्थ धार्मिक अनिवार्यतावाले निजी घरको सार्वजनिक मन्दिरके रूपमें क्यों विकृत किया जाता है?

(४) हमारा दावा न तो यह है कि इस सम्प्रदायमें केवल हम ही सभी सिद्धान्तोंका पालन कर रहे हैं और न हम किसी व्यक्तिविशेषपर ऐसा आरोप ही लगाना चाहते हैं कि वह सिद्धान्तोंको तोड़ रहा है. हमारा अभिप्राय तो केवल यही है कि हमसे या अन्य किसीसे निजसौभाग्यवश स्वसिद्धान्त पाले जा सकतें हो तब भी वाल्लभ संप्रदायके सिद्धान्त वही रहेंगें जो महाप्रभु प्रभृति पूर्वाचार्योने निर्धारित किये हैं. हमसे या अन्य किसीसे निजदौर्भाग्यवश न भी पाले जा सकतें हो तब भी सिद्धान्त तो वही रहेंगे जो पूर्वाचार्योने निर्धारित किये हैं. निजसामर्थ्यके आधारपर न तो सिद्धान्त प्रस्थापित हो सकते हैं ओर न निज-असामर्थ्यके आधारपर प्रस्थापित सिद्धान्त विस्थापित ही हो सकते है.

(५) हम भी जीवित परंपराके महत्त्वका अस्वीकार नही करते परन्तु शर्त उसमें यही है की कोई भी परंपरा मूलाचार्योंके वचनोंसे विरुद्ध नहीं होनी चाहिये. पत्थर या धातुसे बनी जड़ मानवमूर्ति उतनी सरलतासे रुग्ण नहीं हो पाती जितना कि जीवित मानव-देव. अत: जो कुछ जीवित है उसका स्वस्थ होना भी आवश्यक है ही.

(६) उच्चाधिकार या निम्नाधिकार को परखनेकी वाचनिक व्यवस्था यदि उपलब्ध न होती तो अपनी कल्पनाको या स्वार्थप्रेरित सुविधाको इस विषयमें प्रमाण माना जा सकता था. सेवा-कथा-प्रपत्तिके भेदसे जब

वाचनिक अधिकारव्यवस्था उपलब्ध है ही ऐसी स्थितिमें अपसिद्धान्तके अनुकरणकी ही क्या आवश्यकता है?

(७) किसी भी रचनात्मक कार्यक्रमको एक धार्मिक कार्यक्रमके रूपमें समाजमें प्रस्तुत करना हो तो उसका धर्मशास्त्राभिमत होना अनिवार्य है ही. अन्यथा रचनात्मक कार्यक्रमके नामपर शराब या जुए के अड्डे तो खोले नहीं जा सकते!

(८) अपना मार्ग यदि प्रमाणमूलक सिद्धान्तोंकी अपेक्षा रखता ही न हो तो पुष्टिमार्गीय मन्दिरोंमें नमाज क्यों नहीं पढ़ी जा सकती या बकरेकी बली क्यों नहीं चढ़ाई जा सकती?

यदि किसी सैद्धान्तिक भेदके कारण यह शक्य न हो तो सिद्ध हो जाता है कि सकल प्रमाणातीत पुष्टिशक्ति ही केवल नियामिका नहीं है. अन्यथा अनेकविध अकाण्डताण्डवोंको भी अनुमति देनी ही पड़ेगी. भोग-राग-शृंगारका सेवामें विनियोग भावात्मक होना चाहिये या भावाडम्बरात्मक यह भी निर्धारित करना चाहिये. जो जनता धर्म न चाहती हो और आडम्बर ही चाहती हो वह तो पुष्टिमार्गको छोड़कर अन्य मार्गमें प्रविष्ट हो जाय इसमें पुष्टिमार्गका श्रेय ही मानना चाहिये.

(९) सिद्धान्त-वैपरीत्यका अनुष्ठान जब खुले द्वारोंमें नि:शंक हो रहा है तब सिद्धान्तचर्चाको बन्द द्वारोंमें करनेकी तुक क्या रह जाती है? अनुगामी जनताका मूर्ख होना उपदेशक महानुभावोंके उत्तरदायित्वविहीन अधिकारोपभोग अथवा असामर्थ्य का द्योतक है.

(१०) स्वमार्गीय सिद्धान्तोंके प्रति अपनी निष्ठापूर्ण स्वीकृति आज जनताके समक्ष घोषित कर देनी चाहिये. कल स्वधर्मसे अविरुद्ध आजीविकाके उपायोंको खोजना कठिन कार्य नहीं रह जायेगा.

(११) जिसे जो कुछ करना है वह नि:संकोच तथा सहर्ष करता रहे--हमें जो कुछ करना है वह तो अपने सिद्धान्तोंका केवल उद्घोष ही है. किसीको टोकनेका न हम अपना अधिकार मानते है; और न हमें भी

टोकनेका अन्य किसीका अधिकार स्वीकारनें तैयार है.

व्यक्ति-चाहे चिकित्सार्थी हो या चिकित्सक--के रुग्ण होनेपर चिकित्सालयमें उसकी चिकित्सा शक्य है. चिकित्सालयही, परन्तु कभी, रुग्ण हो जाय तो कहां जाना! इसी तरह उपदेशक या अनुगामी व्यक्तिका धर्ममार्गसे विचलित हो जाना एक वैयक्तिक स्खलनके रूपमें गिना जा सकता है. परन्तु एक धर्मसम्प्रदायमें उसके अपने धार्मिक सिद्धान्तोंसे विरुद्ध प्रकारका सार्वजनिक धर्मा(!)नुष्ठान कथमपि वैयक्तिक स्खलन माना नहीं जा सकता. हम केवल इसी सन्दर्भमें सिद्धान्तोंका उद्घोष करना चाहते हैं.

इस स्पष्टीकरणके साथ एक स्पष्टीकरण यह भी आवश्यक है कि प्रस्तुत वचनावलीके अनुवादको विचारार्थ प्रकाशित करवानेमें सहयोग प्रदान करनेवाले सभी महानुभावोंका हमारे द्वारा प्रस्तुत भावानुवादसे सर्वांशमें सहमत होना अनिवार्य नहीं है, तथापि संप्रदायमें व्याप्त अज्ञान एवं अविचार की मोहनिद्राको तोड़नमें पूर्वाचार्योके वचनोंका प्रकाश यदि सफल होता हो तो हो जाय, बस इसी सदाशयसे हमें सभीका सहयोग प्राप्त हुआ है. एतदर्थ हम सभी सहयोगी प्रकाशक महानुभावोंके आभारी है.

गोस्वामी श्याम मनोहर.

२६।१२।९१

मुम्बई. संयुक्तप्रकाशन

।।श्रीहरि:।।

चि.गो.श्रीव्रजप्रियजी, श्रीनीरजकुमारजी, श्रीमनोजजी, श्रीयोगेशजी, श्रीशरदजी, श्रीपीयूषजी, श्रीपंकजजी, श्रीमिलनजी, श्रीविट्ठलजी, श्रीगोपेशजी, श्रीभूषणजी, श्रीशरदजी महोदय.

आप सभी स्वमार्गहितैषीनके द्वारा प्रेषित पत्र मिल्यो; तथा जो सिद्धान्तवचनावली मेने आप लोगनकूं दी हती वो भी पत्रके साथ संलग्नतया प्राप्त भई. स्वधर्मनिष्ठानुरूप साहसके साथ आपने ये वचनावली सभी गोस्वामीनकू भेजी याके लिये, या पत्रमें और कोई भी बात लिखवेके पहले, में हृदयसू भूरिश:अभिनन्दन आप सभीनकूं देनो चाहूंगो! आप सभीनकी या चिरस्पृहणीय पहलके लिये अपनो सम्प्रदाय आप सभी नवयुवकनको चिरकृतज्ञ रहेगो!!

यदि अपने भीतर श्रीमहाप्रभूनके वंशज होवेको लेशमात्र भी आत्मगौरव शेष होय तो; और यदि अपने भीतर या संप्रदायमें प्रामाणिक स्वधर्मोपदेश प्रदान करवेके अपने उत्तरदायित्वको लेशमात्र भी सद्भाव शेष होय तो, वचनावलीमें संकलित वचननको अर्थ, कोई भी तरहकी आंखमिचौनीकी बाललीला करे बिना सच्ची स्वधर्मनिष्ठा एवं सत्यीनष्ठा सू, अपनेकूं स्वमार्गानुगामीनके सामने प्रकटतया स्वीकारनो ही पडेगो. यासू मोकू नहीं लगे है कि कोई भी तरहके शास्त्रार्थ या वाद-जल्प-वितण्डा की या बारेमें कोई भी आवश्यकता है.

यथासंभव घोषित कार्यक्रमसूं पूर्व ही या वचनावलीमें उद्धृत वचननके हिन्दी-गुजरातीमें प्रकाशित भावानुवादको वितरण, समीक्षार्थ, मैं सभी संबद्ध जननके बीच करवे जा रह्यो हूं. वा अनुवादमें मेरी त्रुटी क्या है ये यदि कोई मोकूं समझावेगो तो सचमुचमें मोकूं निरतिशय प्रसन्नता होयगी. यदि त्रुटिनिर्देश करनो कोईकू अभिप्रेत नहीं होय तो इन वचननको वा महाशयके अनुसार सच्चो भावार्थ क्या हे ये वाकू दि.१०,११,१२ जनवरी, ९२ के दिन

होयवेवाली सभामें वितरणके लिये लिखित या विडिओ–ओडिओ रिकोर्डिंगके लिये मौखिकरूपसू प्रस्तुत करनो चहिये. याके बिना कोई भी निष्कर्ष निकलनो संभव नही हे. अत: अब मतभेद रखनेवाले जो भी महानुभाव होय उनकूं या वचनावलीके स्वाभिप्रेत भावार्थकू प्रकटतया घोषित करवेके उत्तरदायित्वसू कतरानो नहीं चहिये. पर अब भी यदि कतरायेंगे तो मैं उनकूं भरी सभामें, यदि मेरी धारणाके अनुसार वे पठित है तो, मेरे अनुवादसूं सहमत घोषित कर दूंगो. अन्यथा मेरी धारणाके अनुसार अपठित होयवेपे भविष्यमें सिद्धान्तविषयक निर्णयार्थ अयोग्य व्यक्ति घोति कर दूंगो.

आशा है कि अब तो मतभेद रखनेवाले महानुभाव धर्माचार्योचित स्वधर्मनिर्धारणसाहस बटोरके सामने आयेंगे. अन्यथा रोते बच्चानकू चुप करवेकूं उनके मूंहमें शहद लगाके जैसे रबरकी टोंटी रखी जाय वैसी ही हास्यास्पद स्थिति प्रकट हो जायेगी! किमधिकं सुज्ञेषु?

भवदीय **(गोस्वामी श्याम मनोहर)**

अनुक्रमणिका

पृष्ठ

सिध्दान्त वचनावली

(१) सेवोपदेशदीक्षा १५
(२) सेवास्वरूप २१
(३) सेवाप्रदर्शन २४
(४) सेवाप्रयोजन २६
(५) सेवास्थल २८
(६) सेव्यस्वरूप ३०
(७) सेवार्थ–आजीविका ३५
(८) सेवाकर्ता तथा सेवापरिचारका ३६
(९) सेवोपदेष्टा ३९
(१०) भागवतकथा ४६
(११) स्वसेव्य–स्वरूप–प्रसाद ग्रहण ४८
(१२) तीर्थपर्यटन ४९
(१३) आचार्यवचनाशयनिर्धारणप्रकारोपसंहार ५०
परिशिष्ट–१ : शरणागति संबंधी वचनावली ५३
पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभाका संक्षिप्तअहेवाल ५८

।। श्रीहरिः।।

।। वचनावली ।।

(हिन्दी-भाषाभावानुवाद-सहिता)

जयति श्रीवल्लभार्यो जयति च विट्ठलेश्वरःप्रभुः श्रीमान्।
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति।।
श्रीवल्लभमताभ्यासे कृपया येन दीक्षितः।।
दीक्षितं तमहं नौमि श्रीतातचरणं सदा।।
श्रीवाक्पतेर्वागनुगामिनां वै सद्यःस्वकर्तव्यविनिश्चयाय।
कृतो मया तद्वचनानुवादः पुष्पोपहारोपम एष नूनम्।
स्वलाभपूजार्थपरायणानां तदीयसिद्धान्तविलोपकानाम्।
भवेत् खलानां खलु मस्तकेषु पदप्रहारोपम एषएव।।

१. सेवोपदेशदीक्षा-विषयकमूलवचनानि

(क)

परमत्र न सर्वेषां फलमुखाधिकारः; किन्तु येषु भगवत्कृपा, कृपापरिज्ञानं च मार्गरुच्या निश्चीयते. तत्र आदितः साधनानि आह-

कृष्णसेवा परं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम्।
श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेत् जिज्ञासुरादरात्।। (त.दी.नि.२।२२७)

'कृष्णसेवापरम्'इति. यो हि गुरुः सेवाम् उपदेक्ष्यति स स्वयं चेत् तां उत्तमां जानीयात् तदा कथं स्वयं न कुर्यादिति 'सेवापर'एव गुरुः. तत्रापि निमित्तानि वारयति 'दम्भादिरहितम्'इति. सेवाच प्रमाणमूलैव पुरुषार्थपर्यवसायिनी. अन्यथा मनसि अन्यद् विधाय अन्यथा करणे न फलसिद्धिः इति अभिप्रायेण आह 'श्रीभागवततत्त्वज्ञम्'इति. 'जिज्ञासुः' नतु कौतुकाद्याविष्टः. 'भजनं'-सर्वभावेन-तदा तदुक्तप्रकारेण भगवत्सेवा कर्तव्या.
(त.दी.नि.प्र.२।२२७)

'वीक्ष्य' इत्यनेन मार्गान्तराद् अत्र वैलक्षण्यं ज्ञापितम.

'ईक्ष'दर्शनाङ्कनयोः, 'वि'ना च सम्यक्तवं परीक्षणे द्योत्यते. तथाच तन्त्रे-''गुरुः परीक्षयेत् शिष्यम'' इति वाक्यात् शिष्यो यथा परीक्ष्यते तथा अत्र गुरुः. नोचेद् अतादृशस्य लोकानुगतपशुरूपत्वात् तादृशो अनुसरणे अन्धानुगान्धवद् उभावपि पतेताम. एतदर्थमेव जलभेदग्रन्थकरणं ज्ञेयम...तेन ब्रह्मसम्बन्धोपि फलमुखः तस्यैव इति सिद्ध्यति. एवम् अधिकारसूचनेन अनधिकार्यपि व्यावर्तितः.

(त.दी.नि.प्र.आवरणभङ्ग:२।२२७)

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(क) यह मार्ग, परन्तु, फलदायक ही सिद्ध हो ऐसा अधिकार सभीका नहीं होता. वह तो जिनपर भगवत्कृपा हो उन्हीके लिए फलदायक बन पाता है. किसी व्यक्तिपर भगवत्कृपा है कि नहीं इसका निर्णय उस व्यक्तिको भगवत्कृपैकलभ्य भक्तिमार्ग या प्रपत्तिमार्ग में रुचि है या नहीं इस कसोटीपर जांचनेपर निश्चित हो पाता है.

जिनपर भगवत्कृपा है उनके प्रारम्भतः साधनोंका निरूपण करते हैं-

कोई पुरुष कृष्णसेवामें परायण है कि नहीं, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित है कि नहीं; और श्रीमद्भागवतपुराणके मर्मका विज्ञ है कि नहीं, यह सर्वप्रथम देखना चाहिये और तभी किसी जिज्ञासुको ऐसे व्यक्तिमें गुरुबुद्धि रखकर उसके पास जाना चाहिये.(त.दी.नि.२।२२७)

जिसे गुरुकी हैसियतमें भगवत्सेवाका उपदेश देना है वह स्वयं भगवत्सेवाको उत्तम मानता हो तो स्वयं भी भगवत्सेवा क्यों नहीं करेगा? अतः गुरु तो कृष्णसेवामें परायण ही होना चाहिये. कृष्णसेवा भक्तिभावके अलावा अन्य किसी भी निमित्त (दंभ-काम-लोभ-प्रतिष्ठा) के वश की जाती नहीं होनी चाहिये. अतः गुरुका दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित होना दूसरी शर्त है. यह सेवा भी जब यथोपदिष्ट प्रामाणिक हो तभी पुरुषार्थमें पर्यवसित हो सकती है. अन्यथा, बुद्धि या हृदय में कुछ और विचार या भाव रखकर, जब कोई सेवामें प्रवृत्त होता है तो वह सफल नहीं हो पाती है. अतः गुरुका श्रीभागवतका

तत्त्वज्ञ होना भी आवश्यक है. ऐसे गुरुको खोजनेवाला व्यक्ति जिज्ञासु होना चाहिये, केवल कौतुक आदि भावोंवाली मनोवृत्तिवाला नहीं. गुरुके द्वारा उपदिष्ट प्रकारसे तब सर्वभावपूर्वक भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना भजनका सच्चा प्रकार है.(त.दी.नि.प्र.२।२२७).

मूलकारिकामें 'वीक्ष्य'पदका प्रयोग किया गया है, इससे अपने मार्गका अन्यमार्गोंसे कुछ वैलक्षण्य सिद्ध करना अभीष्ट है. 'ईक्ष' का अर्थ होता है: 'देखना–अंकित करना'. उसके साथ 'वि'उपसर्ग जोडनेपर यह अर्थ बनता है कि किसी व्यक्तिको गुरु बनानेसे पहले उसका भलीभाँति परिक्षण कर लेना चाहिये. तन्त्रशास्त्रमें जैसे शिष्यकी परीक्षा करनेका नियम है वैसे ही यहाँ गुरुकी परीक्षाका नियम है. अन्यथा, जिस पुरुषमें उल्लिखित लक्षण न मिलते हों, उसे लोकानुगत पशु समझना चाहिये. ऐसेका अनुसरण करनेपर एक अंधा दूसरे अंधेका अनुसरण करता हो जायेगा. और दोनों ही, एकदूसरेके कारण, एकसाथ ही गिरेंगे, जब भी गिरेंगे! श्रीमहाप्रभुने गुरुके परीक्षणार्थ ही 'जलभेद' ग्रन्थ प्रकट किया है...इन सारी बातोंकी सावधानी रखनेपर ही ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा सफल होती है. इस तरह ब्रह्मसम्बन्धकी दीक्षा प्रदान कर पानेवाला अधिकारी कौन हो सकता है यह सूचित करके श्रीमहाप्रभुने यह भी समझा दिया है कि ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा कैसे व्यक्तिसे नहीं लेनी चाहिये.(त.दी.नि.प्र.आवरणभंग:२।२२७).

(ख)

माहात्म्यज्ञापनायैव श्रवणं गुणकर्मणाम् ।
शास्त्राणामुपयोगोऽत्र तत्राकाङ्क्षा गुरोर्भवेत् ।।
कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम् ।
श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेत् जिज्ञासुरादराद् ।।
देहद्रोण्या यियासूनां परं पारं भवाम्बुधेः ।
गुरुणा कर्णधारेण उत्तार्या स्वोपदेशतः ।।

(साधनदीपिका.९–११).

(हिन्दी–भाषा–भावानुवादौ)

(ख) भगवन्माहात्म्यज्ञानकी प्राप्तिके लिये भगवद्गुणों एवं भगवल्लीलाओं का श्रवण आवश्यक होता है. शास्त्रोंकी उपयोगिता भी यहाँ है और अतएव गुरुकी भी अपेक्षा रहती है. अतः कृष्णसेवामें परायण, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित; और श्रीभागवतके मर्मज्ञ होनेके रूपमें भलीभाँति पहचान कर ही जिज्ञासुको किसी पुरुषको आदरसहित गुरु बना कर भजनमें प्रवृत्त होना चाहिये. स्वदेहकी डोंगीसे भवसागरको पार कर लेनेकी इच्छा रखनेवालोंका कर्णधार बनकर गुरुको अपने सदुपदेशद्वारा उन्हें पार लगाना चाहिये.(सा.दी.९–११).

(ग)

क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः (जलभेद.४).

ननु ब्रह्मवैवर्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे ‘‘कल्याणसूक्तसामानि हरेर्नामैकमङ्गलं कुर्वन्ति विक्रयं ये वै तेषां भारेण पीडिता’’ इति ब्रह्माणं प्रति पृथिवीवाक्यात्, ‘‘मन्नामविक्रयी विप्रो नहि मुक्तो भवेद् ध्रुवं मृत्युकाले च मन्नामस्मृतिमात्रं न विद्यते’’ इति श्रीनन्दं प्रति भगवद्वाक्याच्च नामविक्रयस्य दोषत्वे शिष्येभ्यो भगवन्नामोपदेशस्यापि दोषत्वापत्तिः, तत्र शिष्योपढौकितग्रहणेन नामविक्रयसम्भवाद् इति चेत्, सत्यम. तथापि गुरुत्वस्य साहजिकब्राह्मणवृत्तित्वेन अत्याज्यत्वात...एवञ्च च यत् प्रभुचरणैः उक्तं ‘‘विचार्यैव सदा देयं कृष्णनाम विशेषतः अविचारितदानेन स्वयं दाता विनश्यति’’ इति; तत्रापि स्वस्य शिष्यस्य च उद्धारं विचार्यैव देयम. लोभाद् अविचारितदाने तु नामविक्रयापत्त्या दाता स्वयम् अपराधभाग् भवति इति अर्थो ज्ञेयः.

(जलभेद.श्रीपुरुषोत्तमजीकृत.विवृति ४).

(हिन्दी–भाषा–भावानुवादौ)

(ग) घरगृहस्थीके निर्वाहार्थ भगवद्गुणगान करनेवालोंके मुखसे सुनी हुई भगवत्कथा संसारासक्तिको बढानेवाली होती है.(ज.भे.४).

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि ब्रह्मवैवर्तपुराणके श्रीकृष्णजन्मखंडमें ''कल्याणसूक्तसामानि हरेर्नामैकमङ्गलं कुर्वन्ति विक्रयं ये वै तेषां भारेण पीडिता'' ब्रह्माजीको कहे गये इस पृथ्वीके वचनके आधारपर; तथा ''मन्नामविक्रयी विप्रो नहि मुक्तो भवेद् ध्रुवं मृत्युकाले च मन्नामस्मृतिमात्रं न विद्यते'' श्रीनन्दको कहे गये इस भगवद्वचनके आधारपर भी, भगवन्नामके विक्रयको दोषरूप माना गया है. ऐसी स्थितिमें गुरुभेंट धरनेवाले शिष्यको भी भगवन्नामोपदेश दोषरूप सिद्ध हो जायेगा. क्योंकि शिष्यद्वारा रखी गयी भेंटको भी स्वीकारना एक तरहसे नामविक्रय ही तो हुवा! यह बात तो ठीक ही है फिरभी गुरुत्व ब्राह्मणोंकी सहज एवं शास्त्रानुमोदित वृत्ति है, अतः उसे त्याज्य नहीं मानी जा सकती...इसी तरह जो बात प्रभुचरणने कही है ''पात्रापात्रका विचार करके ही कुछ दान करना चाहिये, श्रीकृष्णके नामके दानमें तो इसकी आवश्यकता और अधिक है, क्योंकि बिना विचारे उसका दान करने पर स्वयं नामदानकर्ताका ही विनाश हो जाता है'', अतः अपने और शिष्यके उद्धारकी केवल भावनावश नामदीक्षा प्रदान करनेपर दोष नहीं लगता. अन्यथा लोभके कारण पात्रापात्रके विचार किये बिना नामदीक्षा प्रदान करना एक प्रकारका नामविक्रय ही है, जिसके कारण दीक्षादाता अपराधी बन जाता है (श्रीपुरुषोत्तमजीकृत ज.भे.विवृति ४).

(घ)

सच दुर्लभइति तेनापि वक्तव्यप्रकारम् आह–

तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित्।
परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्रच स्थितम्।।

'तदभावे' इति. 'क्वचिद्'–मदेशविशेषे सत्परिपन्थिनाम् अभावयुक्ते, 'हरेः मूर्ति कृत्वा' भजेत. अयमेव अस्य मार्गस्य प्रकारः उत्तमः, यत् मूर्तौ कृतं सर्वं भगवति कृतं भवति. (त.दी.नि.प्र.२।२२८).

ननु अत्र मूलएव कुठारपात इति आकाङ्क्षायां कलेः बलिष्ठत्वेन अग्रिमेषु गुरुलक्षणाभावम् आलोच्य स्वस्मिन्नेव एतन्मार्गीयगुरुत्वं नियच्छन्त

आहुः 'सच'इत्यादि. 'तदभावे'इत्यादि आज्ञापनाद् इदं ज्ञात्वा करणे यस्त्विच्छया कृतः पुम्भिराभासो ह्याश्रमात्पृथग इति आभासत्वाभावः सेवायाः, तृतीयस्कन्धोक्त-मौढ्याभावश्च सेवाकर्तुः साधितः स्वयमेव सेवाकरणेपि प्रकारविशेषसन्देहे तादृशा यदि मिलन्ति तदा प्रकारांशे प्रष्टव्याः इत्यपि सूचितम्.
(त.दी.नि.प्र.आ.भं.२।२२८).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(घ) ऐसा गुरु तो बडी कठिनाईसे ही मिल सकता है अतः कभी न मिलनेपर क्या करना चाहिये यह अब दिखलाया जा रहा है.

ऐसे गुरुके न मिलनेपर भगवानकी मूर्तिको अपना आराध्य बना कर उसकी परिचर्या-भजन तो सदा करना ही चाहिये. क्योंकि मूर्तिमें भगवानका रूप एवं सत्त्व दोनों ही विद्यमान होते हैं.

किसी ऐसे देशमें कि जहाँ सज्जनोंसे दुर्व्यवहार करनेवाले लोग न रहते हों, हरिकी मूर्तिको (अपना आराध्य) बनाकर भजन कर लेना चाहिये. भजनका यही प्रकार ऐसी अवस्थामें इस मार्गमें उत्तम है. जो-जैसा कुछ भगवन्मूर्तिके लिये किया जाता है उसे साक्षात् भगवदाराधन ही समझ लेना चाहिये (त.दी.नि.प्र.२।२२८).

यहाँ एक ऐसी शंका उठती है कि जिसके कारण इस बातके मूलपर ही कुठाराघात हो जाता है. जैसा गुरु श्रीमहाप्रभुके अनुसार इस मार्गमें अपेक्षित है वैसे लक्षणवाला व्यक्ति आगे चलकर बलवान् कलियुगके कारण उपलब्ध न होता तो क्या करना चाहिये इस समस्याके समाधानरूपेण श्रीमहाप्रभु एतन्मार्गीय गुरुत्व स्वयं ही में प्रस्थापित करते हुवे कहते हैं कि निर्दिष्ट लक्षणयुक्त गुरुके न मिलनेपर स्वयमेव भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना चाहिये. इस तरहकी श्रीमहाप्रभुकी ही आज्ञा है जिसे शिरोधार्य करना ही चाहिये, ऐसी भावना रखते हुवे जो स्वयं ही भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाता है, उसके द्वारा की जाती भगवत्सेवामें ''यस्त्विच्छया कृतः पुम्भिराभासो ह्याश्रमात् पृथक्'' इस वचनमें निन्दित धर्माभासता-पाषण्डका आरोप नहीं लगता; और इसी तरह

तृतीयस्कन्धमें निन्दित मूढताका आरोप भी सेवाकर्तापर नहीं लग सकता. स्वयं ही सेवामें प्रवृत्त होनेपर भी भगवत्सेवासम्बन्धी किसी प्रकारविशेषके जिज्ञास्य होनेपर किसी वैसे जानकार भगवदीयको मिलकर कुछ पूछ-जान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं है, यह भी सूचित होता है (त.दी.नि.प्र.आ.भं.२।२२८).

***

२. सेवास्वरूप

(क) एतदेव सेवास्वरूपम् इति आहुः 'चेत्' इति-

चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा।

उक्तसेवासाधने इतरे इति आहुः 'तद्' इति. वित्तं दत्त्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारिता एका, एतादृशेन पुंसा कृता च अपरा, एतादृश्यौ ते तत्साधिके न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम्. एतेन भगवदर्थं निरुपधि-स्वसर्वस्व-निवेदन-पूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवति इति भावः.

(श्रीप्रभुचरणकृत-सिद्धान्तमुक्तावली-विवृत्ति २).

तद् चेद् वित्तं वेतनत्वेन दत्त्वा कार्यते तदा सा चित्तस्य राजसत्वं कुर्वन्ती चित्तस्य तत्प्रवणत्वं न करोति. यदि च वित्तं वेतनत्वेन गृहीत्वा क्रियते तदा ऋत्विजो यागवत् स्वस्य तत्प्रवणत्वरूपं फलं न साधयति.

(सि.मु.वि.प्रकाश.२)

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(क) कृष्णसेवाका यही स्वरूप है ऐसा 'चेतस्...'द्वारा श्रीमहाप्रभु समझाना चाहते हैं-

चेतस्=चित्तका कृष्णमें प्रवण=तन्मय होना ही सेवा है. वह चित्तकी कृष्णप्रवणतारूप कृष्णसेवा सिद्ध होती है तनुवित्तजा सेवा करनेसे.

चित्तको कृष्णप्रवण बनानेके साधन अन्य (=तनु और वित्त) हैं ऐसा

निरूपण कर रहे हैं 'तद्...'इत्यादि. एक प्रकार सेवाका यह भी हो सकता है कि वह वित्त देकर किसी अन्य पुरुषद्वारा करा ली जाये; और दूसरा प्रकार यह भी हो सकता है कि वह सेवा किसी दूसरेसे वित्त लेकर की जाये. ऐसे दोनों प्रकारोंसे की जाती सेवाओंसे चित्त कभी कृष्णप्रवण हो नही सकता. इस अपने अभिप्रायको प्रकट करनेको श्रीमहाप्रभुने 'तनुवित्तजा'रूप समस्तपदका प्रयोग किया है. इससे यह सिद्ध होता है कि किसी भी तरहके लौकिक भावोंके आधीन हुवे बिना अपने सर्वस्वका निवेदन भगवान्‌को करके, अपने देहका भी भगवदर्थ विनियोग करनेपर, जब भगवत्प्रेम प्रकट होता है तब कहीं जाकर चित्त कृष्णप्रवण हो पाता है (सि.मु.वि.२).

वह आभ्यन्तरभक्तिसाधक बाह्योपाय, यदि किसी अन्य तनुजा सेवाके कर्ता को वेतन–तनुजासेवाके मूल्य–के रूपमें वित्त देकर, कराया जाता है तब वह वित्तजा सेवा हुई, जो चित्तको राजसभाव=दर्प–दम्भादिसे युक्त बना देती है, पर कृष्णप्रवण नही बना पाती. यदि किसी अन्यसे वेतन तनुजा सेवाके मूल्यके रूपमें वित्त ग्रहण करके तनुजा सेवा की जाती है, तब पुरोहितोंको जैसे यज्ञ–यागका फल नही मिलता वैसे ही दूसरेके वित्तसे तनुजा सेवा करनेवालेको भी कृष्णप्रवणतारूप फल कभी नही मिलता (सि.मु.वि.प्रका २).

(ख)

''यद् यद् इष्टतमं लोके...तत् कृष्णे साधयेद् ध्रुवम्''. भगवत्सेवायामपि क्लिष्टं न समर्पयेत्...सन्मार्गोपार्जितं, न अन्येषां भागरूपम्...इतरनिषेधार्थम् एतद् उक्तम्. (त.दी.नि.प्र.२।२३६).

ननु भवतु एवं तथापि भगवति यत् समर्पणीयं तद् उत्तममेव समर्पणीयमिति तदर्थम्–मअधिकमपि लोकानुरञ्जनाद्यर्थं प्रतिबन्धकनिवृत्त्यर्थं च... लौकिकचातुर्यप्राप्तौ पुनः बाहिर्मुख्यप्राप्तिरिति तन्निवृत्त्यर्थम् आहुः–म'भगवद्'इत्यादि. तथाच एवम् अक्लिष्टस्य सन्मार्गेण उपार्जने तावद् अपि तन्न भविष्यति इति अर्थः एतदेव बोधयितुम् आहुः 'इतर' इत्यादि.

(त.दी.नि.प्र.आ.भं.२।२३६).

(हिन्दी–भाषा–भावानुवादौ)

(ख) ''जो कुछ लोकमें इष्टतम है...उसे कृष्णकी सेवामें लगाना चाहिये.'' भगवत्सेवामें भी क्लेशयुक्त सामग्रीका समर्पण नहीं करना चाहिये...सेवामें समर्पित की जानेवाली सामग्री भी सन्मार्गसे उपार्जित की गई होनी चाहिये, ऐसी कि जिसमें किसी दूसरेका हिस्सा न हो... अन्य प्रकारसे उपार्जित सामग्रीके सेवामें विनियोगके निषेधार्थ यह बात कही गई है (त.दी.नि.प्र.२।२३६).

यहाँ ऐसी शंका उठती है कि भगवत्सेवामें जो कोई वस्तु या सामग्री भगवानको समर्पित करनी है वह उत्तम तो होनी ही चाहिये तदर्थ; इसी तरह लोगोंको खुश करनेको अथवा प्रतिबंधकी निवृत्तिके लिये भी अधिक भी समर्पित करनेके लिये, कुछ लौकिक चतुराई तो अपनानी ही होगी. इस तरह फिर बर्हिमुख हो जानेकी संभावना पैदा हो जाती है. इस शंकित बहिर्मुखताकी निवृत्तिके उपायको समझानेके लिये श्रीमहाप्रभुने 'भगवत्...' पदका प्रयोग किया है. इस तरह क्लेशरहित वस्तु भी सन्मार्गसे उपार्जित हो तो प्रायः बहिर्मुखता पनप नहीं पायेगी ऐसा आशय है. यही बात समझानेके लिये श्रीमहाप्रभुने 'अन्य...'पदका प्रयोग किया है (त.दी.नि.प्र.आ.भं.२।२३६).

(ग)

स्वमार्गीयप्रकारोऽयं सर्वोपि हि निरूप्यते।
गृहीत्वा नाम शरणं गत्वा सर्वं समर्प्य च ।।
सेवासार्थकतासिद्ध्यै देहादीनां तथा पुनः।
अन्यत्राविनियोगाय क्रियतां तनुवित्तजा।।

(श्रीहरिरायजीकृत–स्वमार्गीय–शरण–समर्पण–सेवा–निरूपणम्.१–३).

(हिन्दी–भाषा–भावानुवादौ)

(ग) स्वमार्गीय साधनाका यह सारा प्रकार निरूपित किया जाता है:नामग्रहण करके, शरणदीक्षा लेकर; और सब कुछ समर्पित करके सेवा तथा देहादि की सार्थकता सिद्ध करनेको जिससे देहादिका कहीं अन्यत्र विनियोग न

हो जाय, तनुवित्तजा सेवा करनी चाहिये (स्व.श.स.से.नि.१-३).

(घ)

यस्तु स्वमार्गीय-सेवास्वरूप-ज्ञानाभाववान् मार्गरीत्या श्रद्धया यथाकथञ्चित् स्वरूपसेवां चेत् करोतीति तत्सेवायाः केवलभौतिकत्वात् ''लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णम्' इति न्यायस्य जातत्वात् तदा सर्वथा संक्लिष्टो भवति, तदा भजनत्यागः.(स्वरूपतारतम्यनिर्णय).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(घ) जिसे स्वमार्गीय सेवा-स्वरूपका ज्ञान न हो ऐसा व्यक्ति जब इस मार्गकी मात्र रूढिके अनुसार, श्रद्धापूर्वक ही सही, यथाकथंचित् स्वरूपसेवा करता है तो ऐसी सेवा केवल आधिभौतिक सेवा होती है अतः ''लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णम्...'' न्यायके अनुसार ऐसी सेवा करनेवाला क्लेश ही पाता है. ऐसी स्थितिमें भजन छोड देना चाहिये (स्व.ता.नि.).

***

३. सेवाप्रदर्शन

(क)

भगवद्भावस्य रसात्मकत्वेन गुप्तस्यैव अभिवृद्धिस्वभावकत्वाद् आश्रमधर्मैरेव लोके स्वं भगवद्भावम् अनाविष्कुर्वन् भजेत् इत्येतदाशयेन ते धर्मा उक्ताः. गोपने मुख्यं हेतुम् आह 'अन्वयाद्' इति. यतो भगवता समम् अन्वयं=सम्बन्धं प्राप्य वर्तते, अतो हेतोः तथा. अत्र ल्यब्लोपे पञ्चमी एतेन यावद् अन्तःकरणे साक्षात् प्रभो प्राकट्यं नास्ति, तावदेव बहिराविष्करणं भवति, प्राकट्ये तु न तथा सम्भवति इति ज्ञापितम्. (अणुभाष्य.३।४।४९).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(क) भगवद्भावके रसात्मक होनेके कारण वह गुप्त रहता है तभी वृद्धिंगत हो सकता है. अतः लोकमें आश्रमधर्मोकी ओटमें अपने भगवद्भावको छिपाये रखना चाहिये. इसी आशयसे भगवद्भावके साथ-साथ आश्रमधर्मोका

भी निरूपण किया गया है. जिसके हृदयमें भगवान बिराजते नहीं है वही व्यक्ति अपने भावोंको जनतामें प्रदर्शित कर सकता है. प्रभु यदि हृदयमें बिराजते अनुभूत हों तो भावोंका बाहर आविष्करण=प्रदर्शन सम्भव नहीं है (अणुभाष्य ३।४।४९).

(ख)

स्वीयान् भक्तान् प्रदर्शयेत्. (साधनदीपिका.१०८)

(हिन्दी–भाषा–भावानुवादौ)

(ख) जो अपने स्वजन हों और भक्त हों ऐसौंको ही श्रीठाकुरजीके दर्शन कराने चाहिये (साधनदीपिका.१०८)

(ग)

३८तमो अपराधः=गुरुदेवतयोः गुप्तप्रकटीकरणम्. फलं=श्वानयोनित्रयम्.

११अपराधः=अवैष्णवस्य स्वसेव्यप्रदर्शनम्. फलं=वार्षिकसेवा–निष्फलत्वम्. प्रायश्चित्तं=पञ्चामृतस्नानम्.

३६तमो अपराधः=भगवन्नाम्ना याचनम्. फलम्=उपचारनैष्फलम् प्रायश्चित्तं=पञ्चगुणित–नैवेद्य–दानम्.

३५तमो अपराधः=गुर्वाज्ञोल्लङ्घनम्. फलम्=असिपत्रादि–घोर–नरक–पातः. प्रायश्चितम्=वैष्णव–गुरु–प्रसादनम्.

(श्रीहरिरायजी–विरचित–षट्षष्ठिरपराधस्तत्फलानि–प्रायश्चित्तानि–च).

(हिन्दी–भाषा–भावानुवादौ)

(ग) ३८वां अपराध : गुरु या दैवत(=श्रीठाकुरजी सम्बन्धी बातों)के गुप्त–रहस्य–को प्रकट करना. फल:तीन जन्मों तक श्वानयोनि.

११वां अपराध: अवैष्णवके समक्ष अपने घरमें बिराजते श्रीठाकुरजीका प्रदर्शन करना. फल:एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित:श्रीठाकुरजीको पंचामृतसे स्नान कराना.

३६वां अपराध: श्रीठाकुरजी (या श्रीभागवतजी या श्रीयमुनाजी) के नामसे (‘भेट’, ‘सामग्री’, ‘पोथीसेवा’ या ‘न्योछावर’) मांगना. फल:सेवा सर्वथा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित:जितना मांगा या बटोरा हो उससे पांचगुने नैवेद्यका प्रभुको दान (नहीं कि समर्पण!) करना.

३५वां अपराध: गुरु–श्रीमहाप्रभु आदि–की आज्ञाका उल्लंघन करना. फल:असिपत्रादि नामोंवाले घोर नरकोंमें पतन. प्रायश्चित:वैष्णव और गुरु को प्रसन्न करना (श्रीहरि.वि.षट्.).

***

४. सेवाप्रयोजन

(क)

न लौकिकः प्रभुः कृष्णो मनुते नैव लौकिकम्।
भावस्तत्राप्यस्मदीयः सर्वस्वश्चैहिकश्च सः।।
परलोकश्च तेनायं सर्वभावेन सर्वथा।
सेव्यः सएव गोपीशो विधास्यत्यखिलं हि नः।।

(शिक्षापद्यानि)

(हिन्दी–भाषा–भावानुवादौ)

(क) न तो श्रीकृष्ण लौकिक प्रभु है और नही वे कभी लौकिक भावका अङ्गीकार ही करते हैं. हमारा भाव तो श्रीकृष्णके बारेमें यही है कि श्रीकृष्ण ही हमारे सर्वस्व हैं, ऐहिक भी और पारलौकिक भी. इसलिये सर्वभावसे सर्वथा सेव्य वे गोपीश ही हैं. वे ही हमारा सब कुछ करेंगे (शिक्षापद्य).

(ख)

‘‘**लौकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा**’’ (सि.मु.१६).

ननु कश्चिद् जीविकाद्यर्थमपि भजते तस्य का गतिः? इत्यत आहुः ‘लोकार्थी’ इति. ‘लोक’पदेन लौकिको अर्थः उच्यते. तदर्थी चेत् कृष्णं भजेत्

तदा व्यापारवद् अर्थे सिद्धे तस्यापि अनर्थरूपत्वेन तत्कृतभजनस्य भक्तित्वाभावात् तत्कृतं सर्वं क्लेशरूपमेव, अतः क्लिष्टो भवति इति अर्थः. न केवलम् ऐहिकः क्लेशः किन्तु परलोकोपि नश्यति निषिद्धाचरणादिति ‘सर्वथा’ इति उक्तम्. यस्य स्वल्पमपि ज्ञानं स नैवं करोति; सर्वथा तद्रहितः कश्चिद् एवं कुर्यादपि इति ‘चेद्’ इति उक्तम्. (श्रीप्रभुचरणविरचित-सि.मु.विवृत्ति.१६).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ख) यदि कोई लोकार्थी होकर कृष्णका भजन करता है तो वह सर्वथा क्लेश ही पाता है.(सि.मु.१६).

कोई आजीविका कमाने या यशआदि पानेके लिये भी भजन करता हो तो उसकी क्या गति होगी? ऐसी जिज्ञासाके समाधानरूपेण श्रीमहाप्रभु ‘लोकार्थी’की चर्चा कर रहे है. ‘लोक’का मतलब है लौकिक धनादि. ऐसी लौकिक कामना रखनेवाला यदि कृष्णका भजन करता हो तब जैसे घंघा करने पर धनादि प्राप्त होता है वैसे धन तो कमाया जा सकता है. भजनद्वारा, परन्तु, उपार्जित धन तो स्वयं अनर्थरूप होता है. अतः एसे लौकार्थीके द्वारा किया गया भजन तो भक्ति ही न होनेके कारण उसके द्वारा किया गया सब कुछ (पारिवारिक-सामाजिक-सांप्रदायिक) क्लेशरूप ही होता है. इसलिये वह व्यक्ति भी क्लेश ही पाता है. ऐसा श्रीमहाप्रभुके वचनका साफसाफ अर्थ है. न केवल उसे ऐहिक(पारिवारिक-सामाजिक-सांप्रदायिक)क्लेश ही होता है प्रत्युत उसके सारे पारलौकिक अधिकार एवं फल भी नष्ट हो जाते हैं, ऐसे निषिद्धाचरणके कारण, यह स्पष्ट करनेके लिये श्रीमहाप्रभुने ‘सर्वथा’पदका प्रयोग किया है. जिसे (शास्त्र-मार्ग-परम्परा-भगवत्स्वरूप-भक्तिभाव-नीतिका) अत्यल्पभी ज्ञान हो वह तो ऐसा कुकृत्य नहीं कर सकता है. फिर भी जो इस ज्ञान या संस्कार से सर्वथा ही रहित हो वह ऐसा कुकृत्य कदाचित् कभी कर सकता है. ऐसी संभावनाको देखते हुए श्रीमहाप्रभुने ‘चेद्’पदका प्रयोग किया है.(श्रीप्रभु.वि.सि.मु.वि.१६).

(ग)

तस्य सेवां प्रकुर्वीत यावज्जीवं स्वधर्मतः।
न फलार्थं न भोगार्थं न प्रतिष्ठाप्रसिद्धये।।
श्रीमदाचार्यमार्गेण नान्येनापि कदाचन।
न कल्पितप्रकारेण न दुर्भावसमन्वयात्।।

(शिक्षापत्रम् १८।१२-१३).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ग) अपने माथे बिराजते श्रीठाकुरजीकी सेवा स्वधर्म (स्व-तन-मन-धन-गृह-परिजनके ही विनियोग)को निभाते हुए करनी चाहिये, न किसी फलके लिये, न भोगके लिये; और न किसी तरहकी प्रतिष्ठा ही प्राप्त करनेके लिये. यह सेवा भी श्रीमदाचार्यचरणद्वारा निर्दिष्ट मार्गके अनुसार ही करनी चाहिये (संगठन-प्रशिक्षण-जनकल्याणके लोकाभिमत तथाकथित उदात्त आशयके) कल्पित प्रकारोंसे नही. और न दुर्भाव(किसी दूसरे सार्वजनिक या व्यावसायिक देवालयोंके साथ प्रतिस्पर्धा)वश ही करनी चाहिये.(शिक्षापत्र.१८।१२-१३).

***

५. सेवास्थल

(क)

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः...भजेत् कृष्णम्...

(भक्तिवर्धिनी.२).

‘तु’शब्देन एतदतिरिक्तप्रकारान्तरव्युदासः उक्तः स्वमार्गीयभगवद्भजनं तु गृहस्थित्यभावे न संभवतीति पूर्वं गृहस्थितिमेव आहुः ‘गृहे स्थित्वा’ इति. भगवद्भजनानुकूले गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः कृष्णं भजेत्.

(श्रीगोकुलनाथजीकृत विवृति.२)

अत्र गृहस्थान-विधानेन स्वगृहाधिष्ठित-स्वरूप-भजन-परित्यागेन

अन्यत्र तत्करणे भक्तिः न भवति इति सूचितं भवति.

(श्रीवल्लभात्मज-श्रीबालकृष्णजीकृतविवृत्ति.२)

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(क) पुष्टिभक्तिके बीजभावको दृढ करनेका प्रकार तो बस घरमें रहकर स्वधर्मतः...कृष्णको भजना है.(भक्तिवर्धिनी.२).

यहां 'तो'शब्दके प्रयोगसे यह ध्वनित होता है कि इस श्लोकमें अभिप्रेत भजनके प्रकारसे अतिरिक्त भजनका अन्य कोई भी प्रकार सिद्धान्ताभिमत नहीं है. स्वमार्गीय भगवद्भजन घरमें रहे बिना संभव न होनेसे सर्वप्रथम गृहस्थितिका ही निरूपण श्रीमहाप्रभु करते हैं ''घरमें रहकर'' विधान द्वारा. भगवद्भजनानुकूल घरमें रह कर कृष्णको भजना चाहिये (श्रीगो.वि.२).

यहां सेवोपयोगी स्थानके रूपमें घरका विधान किया गया है अतः यदि अपने घरमें बिराजते प्रभुका भजन छोड़ कर और कहीं भजन (भेटसामग्री, मनोरथ या झांखी के रूपमें) किया जाता है तो उसे 'भक्ति' नहीं कहा जा सकता है.(श्रीवल्ल.बाल.वि.२)

(ख)

गूढलीलापरो भक्तगूढभावरसात्मकः।
सेवनीयः सावधानैः विपरीतगतिक्रियः।।
श्रीमदाचार्यकृपया तिष्ठति स्वगृहे हरिः।
एवंविधः सदा हस्ते योगिनः पारदो यथा।।

(शिक्षापत्र.२।१८-१९).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ख) गूढलीलापरायण भक्तके गूढभावानुसारी विपरीत-गति-क्रिया-वाली लीला करनेवाले श्रीहरिकी सेवा सावधान हो कर करनी चाहिये. श्रीमदाचार्यचरणकी कृपासे प्रभु अपने घरमें बिराजते हैं. इस तरह कि जैसे योगीके हाथमें पाराकी गुटिका (शिक्षा.२।१८-१९).

(ग)

गृहे स्थित्वा सेवनार्थं स्वधर्मेणैव सर्वथा।
कृष्णं भजेत् यतोऽधर्मकरणाद् हीनयोनिता।।
कृष्णमूर्तौ यथालब्धैः द्रव्यैः संपूजयेद् हरिम्।
पूर्वं स्थानं मन्दिरादि तथा सिंहासनादि च।।

(श्रीहरिरायजीकृत-स्व.श.स.से.निरूपणम्.४५-४६).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ग) घरमें रह कर सेवा जो करनी है वह सर्वथा स्वधर्मानुसार ही कृष्णभजनके रूपमें करनी है, क्योंकि अधर्म करनेपर हीनयोनिमें जन्म मिल सकता है. यथालब्ध द्रव्योंसे हरिका पूजन उनकी मूर्तिके रूपमें करना चाहिये. हरिपूजनसे भी पहले श्रीहरिके बिराजनेके स्थान-मंदिरादि और सिंहासनादि-का भी अलंकरणात्मक पूजन करना चाहिये (श्रीहरि.स्व.श.स.से.नि.४५-४६).

(घ)

“आचार्यकुलाद्” इति श्रुत्युक्तरीत्या गृहएव स्थित्वा भगवद्भजनं कर्तव्यं स्वधर्मरहस्यं च गोपनीयम् इति सिद्धम्.

(श्रीपुरुषोत्तमजीकृत-अणुभाष्यप्रकाश.३।४।५०).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

“आचार्यकुलाद्” इस श्रुतिमें कही गई रीतिके अनुसार घरही में रह कर भगवद्भजन करना चाहिये और अपने धर्मके रहस्यको गुप्त रखना चाहिये (अणुभा.प्र.३।४।५०).

***

६. सेव्यस्वरूप

(क)

गुप्तो हि रसः रसत्वमापद्यते = अगुप्तो रसः रसाभासःस्यात्.

(सुबो.१०।१८।५=१०।५९।४४).

(हिन्दी–भाषा–भावानुवादौ)

(क) गुप्त रखनेपर ही रस रस रह पाता है=प्रकट होने पर वही रस रसाभास बन जाता है (सुबो.१०।१८।५=१०।५९।४४).

(ख)

सच दुर्लभइति तेनापि वक्तव्यं प्रकारम् आह ।

तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित् ।
परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं च तत्र च स्थितम् ।। (त.दी.नि.प्र.२।२२८)

'तदभाव' इति. 'क्वचिद्' देशविशेषे सत्परिपन्थिनाम् अभावयुक्ते 'हरेः मूर्तिं कृत्वा' भजेत. अयमेव अस्य मार्गस्य प्रकारः उत्तमो यत् मूर्तौ कृतं सर्वं भगवति कृतं भवति. तत्र मूर्तेः भगवत्त्वं त्रेधा निरूपयति 'तद्रूपम्' इति. वस्तु विचारेण सर्वस्य भगवद्रूपत्वाद् विशेषस्तु अयम् : ''एनम् उद्धरिष्यामि'' इति तदा मृदादेः प्रादुर्भूतो भक्तिमार्गानुसारेण आह 'तत्र च स्थितम्' इति. (त.दी.नि.प्र.२।२२८).

ननु अत्र मूल एव कुठारपात इति आकाङ्क्षायां कलेः बलिष्ठत्वेन अग्रिमेषु गुरुलक्षणाभावम् आलोच्य स्वस्मिन्नेव एतन्मार्गीयगुरुत्वं नियच्छन्त आहुः 'स च'इत्यादि. 'तदभाव'इत्यादि आज्ञापनाद् इदं ज्ञात्वा करणे, ''यस्तु इच्छया कृतः पुम्भिः आभासो ह्याश्रमात् पृथग'' इति आभासत्वाभावः सेवायाः तृतीयस्कन्धोक्तमौढ्याभावश्च सेवाकर्तुः साधितः स्वयमेव सेवाकरणेपि प्रकार–विशेष–सन्देहे तादृशा यदि मिलन्ति तदा प्रकारांशे प्रष्टव्याः इत्यपि सूचितम्. (त.दी.नि.आ.भ.२।२२८).

(हिन्दी–भाषा–भावानुवादौ)

(ख) ऐसा गुरु तो बडी कठिनाईसे ही मिल सकता है अतः कभी न मिलनेपर क्या करना चाहिये यह अब दिखलाया जा रहा है.

एसे गुरुके न मिलनेपर भगवानकी मूर्तिको (अपना आराध्य) बना कर उसकी परिचर्या भजन तो सदा करना ही चाहिये. क्योंकि मूर्तिमें भगवानके रूप

एवं सत्त्व दोनों ही विद्यमान होते है.

किसी ऐसे देशमें कि जहां सज्जनोंसे दुर्व्यवहार करनेवाले लोग न रहते हों, हरिकी मूर्तिको (अपना आराध्य) बनाकर भजन कर लेना चाहिये. भजनका यही प्रकार ऐसी अवस्थामें इस मार्गमें उत्तम है. जो-जैसा कुछ भगवन्मूर्तिके लिये किया जाता है उसे साक्षात् भगवदाराधन ही समझ लेना चाहिये (त.दी.नि.प्र.२।२२८).

यहां एक ऐसी शंका उठती है कि जिसके कारण इस बातके मूलपर ही कुठाराघात हो जाता है. जैसा गुरु श्रीमहाप्रभुके अनुसार इस मार्गमें अपेक्षित है वैसे लक्षणवाला व्यक्ति आगे चलकर बलवान कलियुगके कारण उपलब्ध न होता हो तो क्या करना चाहिये, इस समस्याके समाधानरूपेण श्रीमहाप्रभु एतन्मार्गीय गुरुत्व स्वयं ही में प्रस्थापित करते हुवे कहते है कि निर्दिष्ट लक्षणयुक्त गुरुके न मिलने पर स्वयमेव भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना चाहिये. इस तरहकी श्रीमहाप्रभुकी ही आज्ञा है जिसे शिरोधार्य करना ही चाहिये ऐसी भावना रखते हुवे जो स्वयं ही भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाता है उसके द्वारा की जाती भगवत्सेवामें ‘‘यस्तु इच्छया कृतः पुम्भिः आभासो ह्याश्रमात् पृथक्’’ इस वचनमें निन्दित धर्माभासता-पाषण्डका आरोप नहीं लगता, और इसी तरह तृतीयस्कन्धमें निन्दित मूढताका आरोप भी सेवाकर्तापर नहीं लग सकता. स्वयं ही सेवामें प्रवृत्त होनेपर भी भगवत्सेवासम्बन्धी किसी प्रकारविशेषके जिज्ञास्य होनेपर किसी वैसे जानकार भगवदीयको मिलकर पुछ-जान लेने में कोई आपत्ति नहीं है यह भी सूचित होता है (त.दी.नि.प्र.आ.भं.२२८).

(ग)

गुरुदत्तां स्वयंलब्धां भक्तैरपि सुपूजिताम्।
व्यंगांगीमपि सेवेत यदि भावो न बाधते।। (साधनदीपिका.९०).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ग) भगवत्स्वरूप चाहे गुरुके द्वारा अपने मांथे पधराया गया हो, या हमें स्वयं कहींसे प्राप्त हो गया हो, या अन्य किसी भक्तके द्वारा सुपूजित हो;

अथवा खंडित भी चाहे क्यों न हो, परन्तु है तो ‘‘अपने मांथे बिराजता सेव्यस्वरूप’’ ऐसा भाव उस स्वरूपके प्रति अखंडित रहता हो (‘वोल्टेज’ कम न लगते हों) तो ऐसे स्वरूपकी ही सेवा अनन्यभावसे करनी चाहिये (साधनदीपिका.९०).

(घ)

सेवाविधिः समग्रोपि क्रमेणैव विलिख्यते।
प्रकारोत्तमतः पूर्वं मूर्तौ सेवा विधीयते।।
मूर्तौ भगवतो ज्ञानं साकारावेशतो मतम्।
भक्तिमार्गप्रकारेण ज्ञानतस्तु तदात्मता।।
पूजामार्गे भवेन्मन्त्रविधानात् पूज्यसेवनम्।
विशेषो भक्तिमार्गेऽयं पुरुषोत्तमरूपिणः।।
मणिस्पर्शेन ताम्रादि सौवर्णमिव तत्त्वतः।
अतस्तत्र कृतं सर्वं साक्षात्कृष्णे कृतं भवेत्।।

(श्रीहरिरायजीकृत-स्व.श.स.से.निरूपणम्.३९-४१).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(घ) अब समग्र सेवाविधि क्रमशः लिखी जाती है. उत्तम प्रकार होनेके कारण प्रथम मूर्तिकी सेवा कही जाती है. भक्तिमार्गके प्रकारके अनुसार मूर्तिमें प्रभुका ज्ञान प्रभुके साकार होनेके कारण एवं मूर्तिमें आविष्ट होनेके कारण मान्य किया गया है. ज्ञानकी दृष्टिसे देखा जाये तो सब कुछ भगवदात्मक होनेसे मूर्ति भी साक्षात् भगवद्रूप ही है. पूजामार्गके अनुसार प्राणप्रतिष्ठा-मन्त्रादि-विधिके कारण पूजनीय प्रभुकी सेवा प्राप्त होती है. भक्तिमार्गमें, किन्तु, अन्य दोनों मार्गोंकी अपेक्षा विशेषता यह है कि मूर्ति स्वयं पुरुषोत्तमरूप है (विभूति, प्रतिनिधि या केवल अक्षरात्मक नहीं). जैसे पारसमणिके स्पर्शसे तांबा आदि धातु तत्त्वतः सुवर्ण बन जाती है वैसे ही मूर्तिके साथ किया गया भक्त्युपचार तत्त्वतः साक्षात् श्रीकृष्णके प्रति किया गया भक्त्युपचार हो जाता है (श्रीह.कृत.स्व.श.स.से.नि.३९-४१).

(ङ)

स्वमार्गसेव्यरूपस्य चिन्तने रीतिरुच्यते।
...तदेकहृदयस्थायी तद्भावः कृष्णएव हि।
लीलासहस्रवलितः सामग्रीसहितस्तथा।
भावनीयः सदानन्दः सदा नन्दादिलालितः।।
इदमेवोक्तम् आचार्यैः सिद्धान्तस्य निरूपणे।
आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेवेति यद्वचः।।
तदाशयस्तु विवृतः कृपयैव प्रभोर्मया।
अवगत्य जनाः सर्वे चिन्तयन्तु हरिं सदा।।

(श्रीमत्प्रभोश्चिन्तनप्रकारः.१-१३).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ङ) स्वमार्गीय सेव्यस्वरूप चिन्तनका प्रकार अब कहा जाता है...पुष्टिभक्तके हृदयमें स्थित जो भक्तिभाव है वह निश्चित श्रीकृष्ण ही हैं जो कि अनेक लीलायुक्त हैं और उन लीलाओंकी सामग्री सहित बिराजमान हैं. वैसे सदानन्द और सदा श्रीनन्दादि व्रजभक्तों द्वारा सेव्यमान श्रीकृष्णका ही भावन करना चाहिये. सिद्धान्तमुक्तावलीमें ‘‘आत्मानन्दसमुद्रमें स्थित श्रीकृष्णका ही चिन्तन करना चाहिये’’ इस वचनद्वारा श्रीमहाप्रभुने यह ही बताया है. प्रभुकी कृपासे ही उसके आशयका मेंनें विवरण किया है. उनकी कृपासे स्वमार्गीय चिन्तनका स्वरूप जानके सर्व पुष्टिमार्गीयजन सदा हरिका चिन्तन करें ऐसी मेरी शुभकामना है (श्रीहरि.श्री.प्रभो.चिन्त.प्र.१-१३).

(च)

भक्तिमार्गस्थितैः श्रीमदाचार्यपदसंश्रितैः।
सेव्यमानं सदा भावैः निरोधं साधयेद् ध्रुवम्।।

(स्वमार्गीयस्वरूपस्थापनप्रकारः१८)

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(च) श्रीमदाचार्यचरणोंके आश्रय पानेके सौभाग्यशाली ऐसे

भक्तिमार्गीयोंद्वारा पुष्टिभावोंसे (प्रवाही भावोंसे नहीं) सदा सेव्यमान प्रभु निश्चित ही निरोध(प्रपंचविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्ति)को सिद्ध करेंगे ही (श्रीहरि.स्व.स्व.स्था.प्र.१८).

***

७. सेवार्थ–आजीविका

(क)

याममात्रं भगवत्सेवां विधाय पश्चाद् अनिषिद्धेन उपायेन जीवनं सम्पादयेत्. पारम्पर्यजीवनमपि निषिद्धं चेत् तदा त्यक्तव्यम्. अचौराणाम् अपापानाम्... इति वचनात्. जीविकायां चित्तं व्यावृतं पुनः भगवति योजनार्थम् उपायम् आह पठेच्च नियमं कृत्वा इति. अनेन अल्पबहिर्मुखतायामपि श्रीभागवतम् अनुसन्धेयम् इति उपायः कथितः. (त.दी.नि.प्र.२।२३२).

(हिन्दी–भाषा–भावानुवादौ)

(क) दिनमें कमसे कम तीन घन्टा भगवत्सेवा कर लेनेके बाद अनिषिद्ध उपायोंसे आजीविकाके उपार्जनार्थ प्रवृत्त होना चाहिये. कुलपरम्परासे चली आ रही वृत्ति भी यहि निषिद्ध (देवलकादिवृत्ति–सदृश) हो तो छोड देनी चाहिये. क्योंकि ‘‘अचौराणाम् अपापानाम्...’’ वचनसे यही सिद्ध होता है. जीविकामें उलझे हुए चित्तको भगवानमें लगानेका उपाय कहते है भागवतका नियमपूर्वक पाठ करना चाहिये. थोड़ीसि भी बहिर्मुखताकी सम्भावना रहनेपर भागवतका अनुसन्धान करते रहना उपाय कहा गया है. (त.दी.नि.प्र.२।२३२)

(ख) श्वानं श्वपाकं प्रेतधूमं देवद्रव्योपजीविनं ग्रामयाजकं सोमविक्रयिणं चितिं चितिकाष्ठं मद्यं मद्यभाण्डं सस्नेहं मानुषास्थिं शवस्पृशं महापातकिनं शवं स्पृष्ट्वा सचैलम् अम्भोऽवगाह्य उत्तीर्य अग्निम् उपस्पृश्य गायत्र्यष्टशतं जपेत्. धृतं प्राश्य स्नात्वा त्रिराचमेद् इति च्यवनवचनात्.

चितिश्च चितिकाष्ठञ्च पूयं चंडालमेव च।
स्पृष्ट्वा देवलकञ्चैव सवासा जलमाविशेत्।।

देवार्चनपरो यस्तु वित्तार्थी वत्सरत्रयम्।
स वै देवलको नाम हव्यकव्येषु गर्हितः्।।

(श्रीपुरुषोत्तमजीकृत-द्रव्यशुद्धि)

(हिन्दी-गुर्जर-भाषा-भावानुवादौ)

(ख) कुत्तेका चाण्डालका प्रेतधूमका देवद्रव्योपजीवीका ग्रामयाजकका सोमविक्रेताका चिताका चिताकाष्ठका चरबीयुक्तमानुषास्थिका शवस्पर्श करनेवालेका महापातकीका तथा शवका र्स्पश करने पर सवस्त्र जलमें डुबकी लगानेके बाद बाहर आने पर अग्निका उपस्पर्श करके एकसो आठ गायत्रीका जप करना चाहिये ओर धृतप्राशन कर त्रिराचमन करना चाहिये ऐसा च्यवनऋषिका वचन हे. चिता चिताकी लकडी पूय चण्डाल तथा देवलक का स्पर्श होनेपर सवस्त्र जलमें डुबकी लगानी चाहिये. तीन वर्ष पर्यन्त जो वित्तार्थी होकर देवार्चन करता है उसे हव्य-कव्यमें गर्हित समजना चाहिये (श्रीपुरुषोत्तजीकृत द्रव्यशुद्धि).

***

८. सेवाकर्ता तथा सेवापरिचारक

(क)

भार्यादिरनुकूलश्चेत् कारयेद् भगवत्क्रियाम्।
उदासीने स्वयं कुर्यात् प्रतिकूले गृहं त्येजत्।।

एवं प्रवृत्तस्य भार्यादीनां विनियोगम् आह भार्यादिरनुकूलश्चेद्इति. भार्यादिकं गृहं, विष्णुपरायुखाः भार्यादयो अन्यथा परित्यागे दोषएव. अनेन अवैष्णवैः सह अस्मिन्मार्गे न स्थातव्यम् इति उक्तं भवति (त.दी.नि..प्र.२।२३१)

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(क) भार्यादिसे, उनके भगवत्सेवार्थ अनुकूल होनेपर, भगवत्सम्बन्धि क्रिया=परिचर्या करवा लेनी चाहिये. उनके उदासीन होनेपर स्वयं करनी चाहिये और प्रतिकूल होने पर गृहादिका त्याग करना चाहिये. इस तरह भजनमें प्रवृत्त

अधिकारीके भार्यादिका भगवत्सेवामें विनियोग कहा जा रहा है ‘‘भार्यादिके अनुकूल होने पर’’. ‘गृह’यानि भार्यादि. इनका परित्याग विष्णुपराङ्मुख होनेपर ही विहित है अन्यथा नहीं दोषरूप होनेसे. इससे यह कहना अभिप्रेत है कि इस मार्गमें अवैष्णवोंके साथ नहीं रहना चाहिये (त.दी.नि.प्र.२।२३१).

(ख)

तत्रादौ शरणं यातः किं कुर्यादिति चोच्यते।
श्रीमदाचार्यमार्गीयगुरुणा शरणं गतः।।
स्वामित्वेन हरिं स्वं तु सेवकत्वेन भावयेत्।

....

एवमाश्रित्य धर्मोऽयं संक्षेपेण निरूपितः।
...अतः परं क्रमेणैव जीवः कृतसमर्पणः।।९-१०।।

....

सेवासंस्काररूपत्वाद् विदध्यात्सेवनां सदा।
...सर्वथा सर्वदैवापि नचाद्यादसमर्पितम्।।२५-२६।
तद्रक्षणे भवेदेवाब्रह्मसम्बन्धि वस्तुतः।
सर्वत्र ब्रह्मसम्बन्ध-भावना-नाशएव हि।।२७।।
यथा समर्पणे योग्यं यत् तथा तत् समर्पयेत्।

....

गृहे स्थित्वा सेवनार्थं स्वधर्मेणैव सर्वथा।
कृष्णं भजेत् यतो अधर्मकरणात् हीनयोनिता।।४५।।
कृष्णमूर्तौ यथालब्धैर्द्रव्यैः सम्पूजयेद् हरिम्।
पूर्वं स्थानं मन्दिरादि तथा सिंहासनादि च।।४६।।

....

भार्यादीनामानुकूल्ये तैः सेवामेव कारयेत्।।५६।।
स्वयं कुर्याद् उदासीनतया तेषां पुनः स्थितौ।
अपकीर्तिभयात् कृष्णसेवा-वैयग्र्य-संभवात्।।५७।।

स्वकृत–ब्रह्मसंबन्धं विभाव्य हृदि सर्वथा।
तत्पोषणं प्रकुर्वीत रुग्णदेहवदातुरः।।५८।।

(श्रीहरिरायजीकृत.स्व.श.स.से.नि.९–५८).

(हिन्दी–भाषा–भावानुवादौ)

(ख) प्रारम्भमें शरणागत अधिकारीको क्या करना चाहिये यह कहा जाता है:श्रीमद्वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित मार्गके गुरुद्वारा जिसने शरणागतिकी दीक्षा ली हो उसके लिये यह आवश्यक है कि हरिको स्वामी मानकर स्वयंको सेवक मानना चाहिये...इस तरह सङ्क्षेपसे शरणागत अधिकारीके धर्मका निरूपण किया...

इसके बाद क्रमानुसार ही जिस जीवने समर्पण किया है उसका धर्म बताया जाता है. समर्पणकी दीक्षा सेवार्थ अपेक्षित संस्काररूप ही होनेसे वह दीक्षित व्यक्तिको तो सदा सेवा ही करनी चाहिये...सर्वथा सर्वदा ही असमर्पितका भक्षण नही करना चाहिये क्योंकि असमर्पितका भक्षण करनेपर वस्तुतः अब्रह्मसम्बन्धी बन जाता है और ब्रह्मसम्बन्धकी भावनाका भी सर्वत्र नाश ही हो जाता है. जो वस्तु जिस प्रकारसे प्रभुको समर्पित हो सकती हो उस प्रकारसे उस वस्तुको समर्पित करनी चाहिये. घरमें रह कर सेवा जो करनी है वह सर्वथा स्वधर्मानुसार ही कृष्णभजनके रूपमें करनी है. क्योंकि अधर्म करनेपर हीनयोनिमें जन्म मिल सकता है. यथालब्ध द्रव्योंसे हरिका पूजन उनकी मूर्तिके रूपमें करना चाहिये. हरिपूजनसे भी पहले श्रीहरिके बिराजनेके स्थान मंदिरादि और सिंहासनादि का भी अलंकरणात्मक पूजन करना चाहिये. भार्यादिके अनुकूल होनेपर उनसे भगवत्सेवा ही करानी चाहिये. उनके उदासीन होनेपर स्वयं ही करनी चाहिये. अपयश, कृष्णसेवामें संभावित निरर्थक व्यग्रता; एवं स्वयं अपनेद्वारा ग्रहीत ब्रह्मसम्बन्धकी भावनाका विचार करके, जैसे अपना ही देह कभी रुग्ण–भगवत्सेवामें भी असमर्थ–हो जाये तो भी उसका पालन तो करना ही पडता है वैसे ही ऐसे भगवत्सेवामें उदासीन परिवारजनोंके पालनमें भी रुग्णपरिवारकी भावना करनी चाहिये (श्रीहरि.स्व.श.स.से.नि.९–५८)

९. सेवोपदेष्टा

(क) परमत्र न सर्वेषां फलमुखाधिकारः किन्तु येषु भगवत्कृपा कृपापरिज्ञानं च मार्गरुच्या निश्चीयते. तत्र आदितः साधनानि आह-म

कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम्।
श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेत् जिज्ञासुरादरात्।।

(त.दी.नि.२।२२७)

'कृष्णसेवापरम्'इति. यो हि गुरुः सेवाम् उपदेक्ष्यति स स्वयं चेत् तां उत्तमां जानीयात् तदा कथं स्वयं न कुर्याद् इति सेवापरएव गुरुः. तत्रापि निमित्तानि वारयति 'दम्भादिरहितम्' इति. सेवाच प्रमाणमूलैव पुरुषार्थपर्यवसायिनी. अन्यथा मनसि अन्यद्विधाय अन्यथा करणे न फलसिद्धिः इति अभिप्रायेण आह 'श्रीभागवततत्त्वज्ञम्' इति. 'जिज्ञासु' न तु कौतुकाद्याविष्टः. भजनं-सर्वभावेन, तदा तदुक्तप्रकारेण भगवत्सेवा कर्तव्या.
(त.दी.नि.प्र.२।२२७).

'वीक्ष्य'इत्यनेन मार्गान्तराद् अत्र वैलक्षण्यं ज्ञापितम्. 'ईक्ष' दर्शनामनयोः, 'वि'ना च सम्यक्त्वं परीक्षणे द्योत्यते. तथाच तन्त्रे-गुरुः परीक्षयेत् शिष्यम् इति वाक्यात् शिष्यो यथा परीक्ष्यते तथा अत्र गुरुः. नोचेद् अतादृशस्य लोकानुगतपशुरूपत्वात् तादृशो अनुसरणे अन्धानुगान्धवद् उभावपि पतेताम्. एतदर्थमेव जलभेदग्रन्थकरणं ज्ञेयम्...तेन ब्रह्मसम्बन्धोपि फलमुखः तस्यैव इति सिद्ध्यति. एवम् अधिकारसूचनेन अनधिकार्यपि व्यावर्तितः.
(त.दी.नि.प्र.आवरणभङ्ग.२।२२७).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(क) यह मार्ग, परन्तु, फलदायक ही सिद्ध हो ऐसा अधिकार सभीका नहीं होता. वह तो जिनपर भगवत्कृपा हो उन्हीके लिए फलदायक बन पाता है किसी व्यक्तिपर भगवत्कृपा है कि नहीं इसका निर्णय उस व्यक्तिको भगवत्कृपयैकलभ्य भक्तिमार्ग या प्रपत्तिमार्ग में रुचि है या नहीं इस कसोटीपर जांचनेपर निश्चित हो पाता है.

जिनपर भगवत्कृपा है उनके प्रारम्भतः साधनोंका निरूपण करते हैं.

कोई पुरुष कृष्णसेवामें परायण है कि नहीं, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित है कि नहीं; और श्रीमद्भागवतपुराणके मर्मका विज्ञ है कि नहीं, यह सर्वप्रथम देखना चाहिये और तभी किसी जिज्ञासुको ऐसे व्यक्तिमें गुरुबुद्धि रखकर उसके पास जाना चाहिये.

जिसे गुरुकी हैसियतमें भगवत्सेवाका उपदेश देना है वह स्वयं भगवत्सेवाको उत्तम मानता हो तो स्वयं भगवत्सेवा क्यों नहीं करेगा? अतः गुरु तो कृष्णसेवामें परायण ही होना चाहिये. कृष्णसेवा भक्तिभावके अलावा अन्य किसी भी निमित्त(दम्भ-काम-लोभ-प्रतिष्ठा)के वश की जाती नहीं होनी चाहिये. अतः गुरुका दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित होना दूसरी शर्त है. यह सेवा भी जब यथोपदिष्ट प्रामाणिक हो तभी पुरुषार्थमें पर्यवसित हो सकती है. अन्यथा, बुद्धि या हृदयमें कुछ और विचार या भाव रखकर, जब कोई सेवामें प्रवृत्त होता है तो वह सफल नहीं हो पाती है. अतः गुरुका श्रीभागवतका तत्त्वज्ञ होना भी आवश्यक है. ऐसे गुरुको खोजनेवाला व्यक्ति जिज्ञासु होना चाहिये, केवल कौतुक आदि भावोंवाली मनोवृत्तिवाला नहीं. गुरुके द्वारा उपदिष्ट प्रकारसे तब सर्वभावपूर्व सेवामें प्रवृत्त हो जाना भजनका सच्चा प्रकार है (त.दी.नि.प्र.२।२२७).

मूलकारिकामें ‘वीक्ष्य’पदका प्रयोग किया गया है, इससे अपने मार्गका अन्य मार्गोंसे कुछ वैलक्षण्य सिद्ध करना अभीष्ट है. ‘ईक्ष’का अर्थ होता है:‘देखना-अंकित करना’. उसके साथ ‘वि’उपसर्ग जोडनेपर यह अर्थ बनता है कि किसी व्यक्तिको गुरु बनानेसे पहले उसका भलीभांति परीक्षण कर लेना चाहिये. तन्त्रशास्त्रमें जैसे शिष्यकी परीक्षा करनेका नियम है वैसे ही यहां गुरुकी परीक्षाका नियम है. अन्यथा, जिस पुरुषमें उल्लिखित लक्षण न मिलते हों, उसे लोकानुगत पशु समझना चाहिये. ऐसेका अनुसरण करनेपर एक अन्धा दूसरे अन्धेका अनुसरण करता हो जायेगा. और दोनों ही, एकदूसरेके कारण, एकसाथ ही गिरेंगे, जब भी गिरेंगे! श्रीमहाप्रभुने गुरुके परीक्षणार्थ ही

‘जलभेद’ग्रन्थ प्रकट कीया है...इन सारी बातोंकी सावधानी रखनेपर ही ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा सफल होती है. इस तरह ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा प्रदान कर पानेवाला अधिकारी कोन हो सकता है यह सूचित करके श्रीमहाप्रभुने यह भी समझा दिया है कि ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा कैसे व्यक्तिसे नहीं लेनी चाहिये (त.दी.नि.आवरणभङ्ग.२।२२७).

(ख)

महात्म्यज्ञापनायैव श्रवणं गुणकर्मणाम्।
शास्त्राणामुपयोगोऽत्र तत्राकाङ्क्षा गुरोर्भवेत्।।
कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम्।
श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेत् जिज्ञासुरादराद्।।
देहद्रोण्या यियासूनां परं पारं भवाम्बुधेः।
गुरुणा कर्णधारेण उत्तार्या स्वोपदेशतः।।

(साधनदीपिका.९-११)

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ख) भगवन्महात्म्यज्ञानकी प्राप्तिके लिये भगवद्गुणों एवं भगवल्लीलाओं का श्रवण आवश्यक होता है. शास्त्रोंकी उपयोगिता भी यहीं है और अतएव गुरुकी भी अपेक्षा रहती है. अतः कृष्णसेवामें परायण, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित; और श्रीभागवतके मर्मज्ञ होनेके रूपमें भलीभांति पहचान कर ही जिज्ञासुको किसी पुरुषको आदरसहित गुरु बना कर भजनमें प्रवृत्त होना चाहिये. स्वदेहकी डोंगीसे भवसागरको पार कर लेनेकी इच्छा रखनेवालोंका कर्णधार बनकर गुरुको अपने सदुपदेशद्वारा उन्हें पार लगाना चाहिये (सा.दी.९-११).

(ग)

गुरुश्च भक्तिमार्गीयः कृष्णसेवापरायणः।
श्रीभागवततत्त्वज्ञो दम्भादिरहितो नरः।।
तदभावे तथाभूतोपदेशोऽत्र नियामकः।
अथाधुनिकतीर्थानाम् अतथाभूततोऽपि हि।।

उपदेशस्तथाभूतगुरोरिव फलिष्यति।
यदि दुःसङ्गदोषेण नान्यथा चेद् भवेन्मतिः।।

(श्रीहरिरायजीकृत.स्व.श.स.से.निरू.४९-५१).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ग) गुरु भी भक्तिमार्गानुसारी, कृष्णसेवापरायण, भागवतके तत्त्वको जानने वाला तथा दम्भादिसे रहित पुरुष होना चाहिये. ऐसे लक्षणोंवाले गुरुके न मिलनेपर आचार्यवाणीरूप गुरुसे भी स्वकर्तव्यनियामक उपदेशग्रहण किया जा सकता है. आचार्यकुलोद्भूत गुरुस्थानापन्न आधुनिक गोस्वामिमहानुभाव यदि उक्त लक्षणोंवाले न भी हों फिरभी उनसे भी सर्वलक्षणसम्पन्न-श्रीकृष्णज्ञानप्रद-गुरु-श्रीमदाचार्यचरण-वचनानुसारी उपदेश मिलता हो तो सद्गुरुके समान ही फल देनेवाला हो सकता है. यदि उनकी बुद्धि दुःसंगादि (अर्थलोलुप-वणिक-ट्रस्टी-संगादि) दोषोंसे अन्यथा (मार्गविपरीत) न हो गई हो (श्रीहरि.स्व.श.स.से.नि.४९-५१).

(घ)

अदम्भः सर्वथापेक्षारहितः करुणापरः।
विचार्य वरणं श्रीमदाचार्यपदसंश्रयः।।
स्वसेवकाय शुद्धाय सततं प्रयतात्मने।
प्रयच्छेत् तत् स्वरूपं तु फलरूपतया पुनः।।

(श्रीहरि.कृत.स्वमा.स्वरू.स्थाप.प्र.१६-१७).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(घ) श्रीमदाचार्यचरणोंका भलीभांति आश्रय ग्रहण कर, किसी भी प्रकारके दम्भकी या शिष्यसे कुछ अपेक्षा रखनेकी मनोवृत्तिसे रहित हो कर, उपस्थित जीवात्माका परमात्माके द्वारा पुष्टिमार्गमें वरण किया गया है, अतः ऐसा जीव पुष्टिलाभसे कहीं वंचित न रह जाय बस इसी करुणाभावको रखते हुवे, पुष्टिमार्गपर अग्रसर होनेका सतत प्रयास करनेवाले अपने शुद्ध सेवकके माथे पुष्ट किया हुवा स्वरूप फलरूपतया (न कि गुरुभावतया या स्वसेव्यसे

न्यून पुरुषोत्तमभावतया) पधरा देने चाहिये.

(श्रीहरि.स्वमा.स्वरू.स्थाप.प्रका.१६-१७).

(ङ)

वञ्चकस्तु ततोऽप्येष दुष्ट इत्येव बुद्ध्यताम्।।१६।।
यतः तदाकृतिश्चेष्टा तथाचारश्च भाषणम्।
विनयः शान्तता वेशः शंखचक्रादिचिह्नतः।।१७।।
एवमाद्यखिलं तुल्यं भगवद्धर्मवर्तिभिः।
ततो ज्ञानाभावऽतोपि सर्वथा नाशनं मतम्।।१८।।
दुर्घटं तस्य विज्ञानं सर्वथा भक्तसाम्यतः।
अतएव न कर्तव्यो विश्वासो ह्यविचारितः।।१९।।
तदीयत्वभ्रमात्तस्मिन् विश्वासो संगदोषतः।
असत्यपि च सद्भावात्पतनं भक्तिमार्गतः।।२०।।
अतएवोक्तमाचार्यैः गुरोरपि च वीक्षणम्।
'कृष्णसेवापरं वीक्ष्ये'त्यादिपद्ये निबन्धगे।।२१।।

....

सतोऽपि किञ्चिदाधिक्यं वञ्चके तु प्रतीयते।
प्रदर्शनार्थत्वतस्तु वेषादेरिह सर्वथा।।२५।।

....

भगवद्भक्तसाम्येपि तदसाधारणो गुणः।
निरपेक्षत्वमेतस्मिंस्तदभावाद्धि वंचकः।।३२।।
अनाकारितएवासौ सङ्गे लगति सर्वथा।
प्रार्थिता भगवद्भक्ताः कृपयन्ति कथञ्चन।।३३।।
स द्रव्यमेव विज्ञाय सज्जते स्वार्थमोहितः।
दीनेषु भगवद्भक्तास्तदर्थैकप्रसादकाः।।३४।।
चालयत्ययमुन्मार्गे मायाचाटुकसूक्तिभिः।
ते तु मार्गे चालयन्ति वचोभिः कटुकौषधैः।।३५।।

(श्रीहरिरायजीकृत दुःसंगविज्ञान निरू.१६-३५).

(हिन्दी–भाषा–भावानुवादौ)

(ङ) वञ्चकको तो अन्दर तथा बाहर–दोनों तरहके चोरोंसे भी कुछ अधिक ही दुष्ट समझना चाहिये. क्योंकि उसकी आकृति, चेष्टा, आचार, भाषा, विनीतता, शान्तता, वेश, तथा शफचक्रादि चिह्न सभी भगवद्धर्मानुसार चलनेवालोंके समान ही होते हैं. अतः जिसे ऐसे वञ्चकोंकी यथार्थताका ज्ञान नहीं होता है, उसका सब तरहसे नाश होता है. भक्तोंके समान दीखनेवाले इन वञ्चकोंका ज्ञान सर्वथा अशक्य सा होता है. इसी कारणसे विचार किये बिना किसीपर भी विश्वास नहीं करना चाहिये. भ्रमवश भगवदीय मान कर यदि ऐसे लोगोंका विश्वास कर लिया जाय तब तो सङ्गदोषवशात् तथा असत्पुरुषमें सद्भाव रखनेके दोषवशात् निश्चित ही भक्तिमार्गसे अधःपतन हो जाता है. इसी कारणसे श्रीमहाप्रभुने निबन्धमें कृष्णसेवापरं वीक्ष्य द्वारा गुरुके जो लक्षण बतलाये हैं, उसी प्रकारसे गुरुकी भी परीक्षा करनी चाहिये...सच्चे भक्त और वंचक के बीच एक उल्लेखनीय अन्तर यही होता है कि वंचक अपनी वेषभूषा (तिलक–छापा, आचार–अपरस, नित्यसेवा, छप्पनभोगादिमनोरथ, मेरा बालूडा जेसी मिथ्या भावुकवाणी) आदि केवल प्रदर्शनार्थ ही अपनाता है. अतः एक सच्चा भक्त अपनी वास्तविक भावसामर्थ्य के अनुरूप जितनी मात्रामें इन बाह्यलक्षणोंको निभा पाता है, उससे कुछ अधिक ही इन बाह्यलक्षणोंका प्रदर्शन वंचक करता होता है. इस तरह अन्य सभी बातोंमें वंचक सच्चे भक्तोंकी बराबरी कर लेता है. अपने भक्तिभावको जनता (‘क्यू’लगा कर) देखने आये ऐसी अपेक्षा एक सच्चा भक्त (जैसे कि वंचक अखबारोंमें विज्ञापन दे कर तथा घरके द्वारपर सूचनापट्ट लगा कर आम जनता उसके सेव्यस्वरूपकी सेवा–मनोरथको देखने आये ऐसी अपेक्षा रखता है!) कभी नहीं रखता. अपने सेव्य प्रभुको रिझानेमें रूपिया–पैसा–फेंकनेवाले दर्शनार्थिओंकी अपेक्षा न रख पाना वंचकसे निभ नहीं पाता! बस, इस एक असाधारण लक्षणके आधारपर वंचकको शीघ्र पहचाना जा सकता है. अतएव कोई न भी बुलाये पर वंचक हरेक धनदाताके पीछे लग ही जाता है (बहुधा स्वयं नहीं तो अपने एजेंट या समाधानी को ही लगा कर!:अनुवादक). सच्चे

भगवद्भक्त तो अनेक बार प्रार्थना करनेपर भी बडी मुश्किलसे कभी कुछ कृपा कर देते हैं, जबकि वञ्चक तो स्वार्थसे मोहित होनेके कारण कोई द्रव्यसम्पन्न है इतना पता चलते ही (लप्पुपंडा बन कर) पीछे पड जाता है. सच्चा भगवद्भक्त तो दीन-दरिद्रोंके साथ भी भेद बरते बिना उनके भक्तिभावोंका पोषण करता है. वञ्चक लोग कपटपूर्ण तथा चाटुकारितापूर्ण वचनोंसे लोगोंको सच्चे मार्गसे विपरीत दिशामें ले जाते हैं. जबकि सच्चा भगवद्भक्त तो औषधिके समान कडवे सिद्धान्तवचनोंके द्वारा सन्मार्गकी ओर ही ले जाता है

(श्रीहरि.दु.वि.प्र.१६-३५)

(च)

यो वदत्यन्यथावाक्यम् आचार्यवचनात् जनः।
संसृतिप्रेरको वापि तत्सङ्गो दुष्टसङ्गमः।।
यश्च कृष्णे रतिं नित्यं बोधयत्यप्रयोजनाम्।
निरपेक्षः सात्त्विकश्च तत्सङ्गः साधुसङ्गमः।।

(शिक्षापत्र.३।८-९)

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(च) आचार्य वचनके विपरीत जो बातें करता हो अथवा संसारप्रेरक बातें जो करता हो उसका सङ्ग दुष्टसङ्ग है. जो श्रीकृष्णमें निष्प्रयोजन नित्यरति बढानेकी बातें करता हो और स्वयं भी निरपेक्ष और सात्त्विक हो उसका सङ्ग साधुसङ्ग है. (शिक्षापत्र.३।८-९).

(छ)

तेन गुरुत्वमेव वृत्तित्वेन फलति, युक्तं च एतद् अनुपकृत्य परस्वग्रहणे ऋणित्वेन बन्धस्य प्रसञ्जनात. किञ्च ऋतोत्तरम् अमृताख्यायाः अयाचितवृत्तेः उक्तत्वात् तस्यामपि शिष्यस्यैव ग्राह्यं न इतरस्यतु एवं संकोचे तस्यामपि प्रशस्तत्वसिद्धिः (श्रीपुरुषोत्तमजीकृत-स्ववृत्तिवाद).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(छ) इससे यह फलित होता है कि गुरुत्व ही अपनी आजीविका या

वृत्ति है. यही उचित भी है क्योंकि किसीका कुछभी कार्य किये बिना मुफ्तमें ही दुसरेका धन ले लेनेपर लेनेवाला ऋणी हो जाता है, जो बन्धनकारी बात है. इसके अलावा ऋत-वृत्तिके बाद 'अमृत'नामकी जो अयाचित वृत्ति कही गई है उसे अपनानेपर भी यदि शिष्यसे ही अयाचित ग्रहण करनेका आग्रह रखा जाय, अन्य किसीसे नहीं, तो ऐसा सङ्कोच और भी प्रशंसनीय है
(श्रीपुरुषोत्तजीकृत-स्ववृत्तिवाद).

(ज)

गुरुणा वेशादिना मार्गरुचिं परीक्ष्य जिज्ञासां च अवगत्य प्रश्नानन्तरं सेवादिकम् उपदेष्टव्यम् इति. (त.दी.नि.प्र.आ.भङ्ग.२।२५५-२५६).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ज) गुरुको सेवोपदेश-श्रवणकी इच्छा रखनेवालेके वेशादि(भाषा, भाव, रुचि, आचार-विचार)के द्वारा मार्गरुचिकी परीक्षा करके और जिज्ञासा जानकर तदनुकूल प्रश्न करनेपर ही सेवादिका उपदेश करना चाहिये (त.दी.नि.आ.भं.२५५-२५६).

***

१०. भागवतकथा

(क)

.........ततो भागवतं कृतम्।
एतदभ्यसनात् लोको मुच्यतेऽनुपजीवनात्।।५७।।
साधनं परमेतद्धि श्रीभागवतमादरात्।
पठनीयं प्रयत्नेन निर्हेतुकम् अदम्भतः।।२४३।।
पठनीयं प्रयन्तेन सर्वहेतुविवर्जितम्।।
वृत्त्यर्थं नैव युञ्जीत प्राणैः कण्ठगतैरपि।।
तदभावे यथैव स्यात् तथा निर्वाहमाचरेत् ।।२५३-४।।
(त.दी.नि.-२।६७,२४३,२५४).

(हिन्दी–भाषा–भावानुवादौ)

(क) ...तब व्यासजीने भागवतपुराण प्रकट किया जिसके अभ्यास(श्रवण–स्मरण–कीर्तन)से लोग मुक्त हो सकते हैं, बशर्ते भागवतका आजीविकार्थ उपजीवन न किया जाय, यह श्रीमद्भागवत एक श्रेष्ठ साधन है. अतः प्रयत्नपूर्वक, किसी लौकिक हेतु या दम्भ के बिना, आदरके साथ इसका पठन करना चाहिये. भागवतका पाठ प्रयत्नपूर्वक किसी भी अन्य हेतुके बिना ही करना चाहिये. प्राण चाहे कण्ठमें ही क्यों न अटक जाये परन्तु आजीविकार्थ उसका उपयोग नहीं ही करना चाहिये. भागवतका आजीविकार्थ उपयोग न करके और जैसे भी अपना निर्वाह चले चला लेना चाहिये

(त.दी.नि.६७, २४३, २५४).

(ख)

जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः।।

(जलभेद.५).

पञ्चमं भावम् आहुः 'जलार्थमेव' इति. प्रक्षालनोच्छिष्ट–जलप्रक्षेपार्थमेव ये गर्ताः तत्तुल्याः नीचाः गानोपजीविनः इति अर्थः...तेन उच्छिष्ट–गर्त–जलवत् तेषां भावो न सद्भिः ग्राह्यः इति अर्थः... पौराणिकनिरूपणानन्तरं पुनः यद् गायकनिरूपणं तद् एतादृशानां पौराणिकानाम् एतद्गायक–तुल्यत्व–ज्ञापनार्थम्.

(श्रीकल्याणरायविरचित–जलभेद–विवृति.५).

(हिन्दी–भाषा–भावानुवादौ)

(ख) जो लोग भगवद्गुणगानको अपनी आजीविकाका साधन बनाते हैं ऐसे गुणगानकर्ता अपवित्र–मलिन–जल–को एकत्रित करनेके लिये जमीनमें खोदे गये गहरे गढ्ढेकी तरह होते हैं. (जलभेद.५)

श्रीमहाप्रभु पांचवें भावका वर्णन करनेको जलको एकत्रित करनेके लियेशब्दप्रयोग करते हैं. मुखादिके प्रक्षालनमें प्रयुक्त अपवित्र जलको एकत्रित करनेके लिये भूमिमें जो गढ्ढे खोदे जाते हैं उनके जैसे निम्न गानोपजीवी होते

हैं...इससे यह आशय प्रकट हुआ कि प्रक्षालनोच्छिष्ट गर्तपूरित जलकी तरह इन गानोपजीविओंका भाव सत्पुरुषोंके लिये ग्राह्य नहिं होता...पौराणिकोंके भावके निरूपणके बाद जो गायकोंका निरूपण किया गया है वह ऐसे (आजीविकार्थ पुराणोंका उपयोग करनेवाले) पौराणिक ऐसे गायकोंके तुल्य हैं यह दिखलानेके लिये किया गया है (श्रीकल्याण.वि.ज.भे.वि.५).

***

११. स्वसेव्य-स्वरूप-प्रसाद-ग्रहण

(क) अपरञ्च दाने हि न स्वविनियोगः नतु निवेदने अन्यथा निवेदितान्नादेः भोजनं न स्याद् अनिवेदितस्य निषिद्धत्वात्. निवेदितानाम् अर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तद्दत्तप्रसादत्वेन स्वोपभोगकृतिः उचिततरा दासधर्मत्वात्. (नवरत्नविवृति.१).

'अपरञ्च'इत्यादि दानं नाम स्वत्व-परित्याग-पूर्वकः परस्वत्वोत्पादनानुकूलः ''तुभ्यम् अहं सम्प्रददे न मम'' इत्यादि शब्दाभिव्यंग्यो मनोव्यापारः तस्मिन् कृते सति 'हि' निश्चयेन 'न स्वविनियोगः' दत्तापहार-दोषोत्पादकत्वात्. निवेदनं तु तदीयत्वानुसन्धानपूर्वकः स्वत्वाभिमानत्यागानुकूलः ''तुभ्यं समर्पयामि-निवेदयामि''इत्यादिशब्दाभिव्यंग्यः तद्विलक्षणो मनोव्यापारः तस्मिन् कृते तु नः स्वविनियोगो दोषाय दत्तापहारदोषानुत्पादकत्वात्.
(श्रीपुरुषोत्तमजीकृत.न.वि.प्र.१).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(क) अपरञ्च भगवत्स्वरूपके लिये दान(भेट)रूपसे कुछ भी देने पर अपने किसी भी कार्यमें उस प्रदत्त वस्तुका विनियोग किया नहीं जा सकता, परन्तु भगवत्स्वरूपको किसी वस्तुके निवेदन करनेपर यह बात लागू नहीं होती. अन्यथा प्रभुको निवेदित अन्नादिका ग्रहण भी हो नहीं पायेगा. अनिवेदित वस्तुका उपभोग तो निषिद्ध ही है. अतः निवेदित वस्तुके भगवद्भोगार्थ विनियोग हो जाने पर भगवत्प्रदत्त प्रसादके रूपमें भक्तके द्वारा उपभोग भी उचिततर ही है, दासधर्म होनेके कारण (नवरत्नविवृति.१).

अपरञ्च अपने स्वत्वका परित्याग कर परस्वत्वको पैदा करनेवाले- ''तुम्हें में यह देता हूँ, अब यह वस्तु मेरी नहीं है'' जैसे शब्दोंद्वारा अभिव्यक्त होते संकल्पात्मक मनोव्यापारसे 'दान' किया जाता है. दान करनेपर निश्चयेन स्वार्थविनियोग अनुमत नहीं है, 'दत्तापहार' दोषजनक होनेसे. निवेदन तो, जबकी, स्वयंके तदीय होनेके अनुसन्धानके साथ स्वत्वाभिमान(नहीं कि स्वत्व)के त्याग करनेपर होता है. ''यह वस्तु तुम्हें समर्पित करता हूँ-निवेदित करता हूँ'' जैसे शब्दोंके द्वारा अभिव्यक्त होनेवाला, दानसे विलक्षण, संकल्पात्मक मनोव्यापार यहाँ होता है. इस निवेदनके करनेपर निवेदित वस्तुका अपने उपभोगमें विनियोग दोषरूप नहीं होता. क्योंकि न तो किसी दूसरेको कुछ दिया जा रहा है और न दी हुई किसी वस्तुका अपहरण ही किया जा रहा है (श्रीपुरुषोत्तमजीकृत न.वि.प्र.१).

***

१२. तीर्थपर्यटन

वर्णाश्रम-युक्तानामपि वर्णाश्रमधर्मैः तीर्थानि विकल्पन्ते इति आह ।

यज्ञास्तीर्थानि च पुनः समानि हरिणा कृताः।
अतस्तेष्वप्रतिग्राही तद्दीनान्नाधिकस्य हि।।
हतत्रपः पठन्नित्यं नामानि च कृतानि च।
एकाकी निस्पृहः शान्तः पर्यटेत् कृष्णतत्परः।।

...तत्र अटनप्रकारकम् आह 'अतस्तेष्वप्रतिग्राही' इति. तीर्थप्रवेशदिवसे तु उपवासः अग्रिमदिवसे यदि अन्नमात्रमपि नास्ति तदा तावन्मात्रं ग्राह्यं न तु ततो अधिकम्...उच्चैः नामसमीर्तनं तत्र अङ्गम् अन्तर्भगवत्स्मरणञ्च. एकाकी पर्यटेत्. न अत्र ''नैक प्रपद्येताध्वानम्'' इति स्मृतिदोषः पथि भोगाद्यर्थं स्पृहा न कर्तव्या शान्तश्च चित्ते भवेत्... (त.दी.नि.प्र:२।२४८-९).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

वर्णाश्रमवान अधिकारियोंके लिये भी वर्णाश्रम धर्म ओर तीर्थयात्रा के बीच विकल्प स्वीकारा गया है ऐसा निरूपण करते हैं- यज्ञों और तीर्थोंको

भगवान हरिने समान बनाया है. अतः एक दिनसे अधिक चलने वाली सामग्रीका प्रतिग्रह नहीं करना चाहिये. भगवानके नाम और लीला का निःसंकोच पाठ करते रहना चाहिये. बिना किसी स्पृहाके शान्त एकाकी और कृष्णतत्त्पर होकर तीर्थ पर्यटन करना चाहिये.

...तीर्थाटनका प्रकार निरूपित करते हैं ‘‘अतः..’’ तीर्थक्षेत्रमें प्रवेशके दिन तो उपवास ही रखना चाहिये. अगले दिन यदि खाने जितना अन्न न हो तो उतना लिया जा सकता है उससे अधिक नहीं...वाणीसे उच्चस्वरमें नामसंकीर्तन और हृदयमें भीतर भगवत्स्मरण ये तीर्थयात्राके अंग हैं. पर्यटन एकाकीतया करना चाहिये. यहाँ ‘‘अकेले यात्रा नहीं करनी चाहिये’’ इस स्मृतिमें निरूपित दोषका कोई प्रसङ्ग नहीं है. मार्गमें भोगादिककी स्पृहा नहीं करनी चाहीये. शान्त रहना चाहिये (त.दी.नि.प्र.२।२४८-९).

***

१३. आचार्यवचनाशयनिर्धारणप्रकारोपसंहार

(क)

तस्माच्छ्रीवल्लभाख्य त्वदुदितवचनादन्यथा रूपयन्ति।
भ्रान्ता ये ते निसर्गत्रिदशरिपुतया केवलान्धन्तमोगा्ः।।

(श्रीप्रभुचरण-कृत-वल्लभाष्टक ३).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(क) हे श्रीवल्लभ! आपके कहे हुए वचनसे विपरीत जो कोई कुछ कहते हैं वे सभी भ्रान्त केवल अन्धन्तम नरकको पाने वाले सहज आसुरी जीव हैं. (श्रीप्रभु.कृत.वल्ल.३)

(ख)

तदाश्रयो न वचनैः किन्तु तन्मार्गनिष्ठया।
मार्गनिष्ठा न स्वबोधैः किन्तु तादृग्गुरूदितैः।।
गुरूदितानि वाक्यानि न स्वतो ह्यनुवादतः।

अनुवादो न स्वबुद्ध्या किन्तु मूलक्रमागतः।।
अथापि तत्र चापेक्ष्यो दृढः स्वाचार्यसंश्रयः।

(शिक्षापत्र ८।२६-२८).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ख) श्रीमहाप्रभुका आश्रय केवल वाणीसे नहीं किन्तु महाप्रभुके मार्गमें निष्ठा रखकर करना चाहिये. मार्गमें निष्ठा अपनी थोथी समजसे नहीं किन्तु मार्गके गुरुके द्वारा कहे गये वचनोंके अनुसार रखनी चाहिये. गुरुके कहे हुए वचनोंका अर्थ स्वतः ही नहीं किन्तु अनुवादतः समजना चाहिये. अनुवाद भी केवल अपनी बुद्धिसे नहीं किन्तु मूलक्रम-परम्पराके अनुसार करना चाहिये. इस सारे प्रकारमें पुनः श्रीमहाप्रभुका दृढ आश्रय तो अपेक्षित है ही (शिक्षापत्र ८।२६-२८).

(ग)

यो वदत्यन्यथा वाक्यम् आचार्यवचनाज्जनः।
संसृति प्रेरको वापि तत्सङ्गो दुष्टसङ्गमः।।
यश्च कृष्णे रतिं नित्यं बोधयत्यप्रयोजनाम।
निरपेक्षः सात्विकश्च तत्सङ्गः साधुसङ्गमः।।
एवं निश्चित्य सर्वेषु स्वीयेषु अन्येषु वा पुनः।
महत्कुलप्रसूतेषु कर्तव्यः सङ्गनिर्णयः।
श्रीमदाचार्यचरणे मतिः स्थाप्या सदा स्वतः।
ततएव स्वकीयानां सिद्धिः कार्यस्य सर्वथा।।

(शिक्षापत्र.३।८-११)

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ग) आचार्यवचनके विपरीत जो बातें करता हो अथवा संसारप्रेरक बातें जो करता हो उसका सङ्ग दुष्टसङ्ग है. जो श्रीकृष्णमें निष्प्रयोजन नित्यरति बढानेकी बातें करता हो और स्वयं भी निरपेक्ष और सात्त्विक हो उसका सङ्ग साधुसङ्ग है. यह निष्कर्ष सभी-स्वमार्गीय, अस्वमार्गीय; अथवा वल्लभकुलमें

प्रसूत–के साथ किये जाने वाले सत्संगको परखनेके लिये है. अपनी मति स्वतः ही श्रीमदाचार्यचरणमें सदा स्थापित करनी चाहिये. पुष्टिमार्गीयोंके सभी कार्य इसीसे सिद्ध होंगे (शि.प.३।८–११).

।। सकलान्तरात्मा श्रीहरिः प्रसन्नो भवतु ।।

***

परिशिष्टम्–१

शरणागति सम्बन्धीवचनावली

(१)

(आश्रयस्वरूपलक्षणम्)

.............आश्रयोऽतो निरूप्यते।।
ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः।।

(सर्वास्वप्यवस्थासु भगवदाश्रयस्य अनुष्ठेयत्वम्)

दुःखहानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे।
भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तैश्चातिक्रमे कृते।
अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः।।
अहङ्कार–कृते चैव पोष्य–पोषण–रक्षणे।
पोष्यातिक्रमणे चैव तथान्तेवास्यतिक्रमे।।
अलौकिक–मनःसिद्धौ सर्वथा शरणं हरिः।।

(भगवदाश्रयसिद्ध्यै क्रमिकोपाय[१–४]–चतुष्टयम्)

एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत् ।।१।।
अन्यस्य भजनं तत्र स्वतोगमनमेव च।
प्रार्थना कार्यमात्रेऽपि तथाऽन्यत्र विवर्जयेत् ।।२।।
अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः।
ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यौ प्राप्तं सेवेत निर्ममः।।
यथाकथञ्चित् कार्याणि कुर्यादुच्चावचान्यपि।
किंवा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद् हरिम्।।

(भगवदाश्रयावश्यकतोपपत्त्यन्तरेणोपसंहारः)

एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम्।
कलौ भक्त्यादिमार्गाहि दुःसाध्या इति मे मतिः।।

(विवेकधैर्याश्रय.९–१७)

(२)

(प्रपत्तिमार्गे उत्तमाधिकारिणः श्रोतुः स्वरूपम्)

अनन्यमनसो मर्त्या उत्तमा श्रवणादिषु।
देश–काल–द्रव्य–कर्तृ–मन्त्र–कर्म–प्रकारतः।

(पञ्चपद्यानि.५)

(३)

(पुष्टिप्रपत्तिमार्गे त्याज्यग्राह्यविवेकविषयिण्याः षड्विधायाः इतिकर्तव्यतायाः उपदेशः)

अनुकूलस्य संकल्पः प्रतिकूलविसर्जनम्।
करिष्यतीति विश्वासो भर्तृत्वे वरणं तथा ।।४।।
आत्मनैवेद्य–कार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।।

(पञ्चश्लोकी.४–५)

(४)

प्रपत्तिमार्गमाह :

जगन्नाथे विट्ठले च श्रीरङ्गे वेंकटे तथा।
यत्र पूजाप्रवाहः स्यात् तत्र तिष्ठेत तत्परः।

(त.दी.नि.२५५).

प्रपत्तिमार्गम् इति. भगवानैव मम ऐहिके परलोके च गतिरहं भगवद्दास इति निश्चयेन भगवत्परतया भगवन्महास्थाने स्थितिः प्रपत्तिमार्ग इत्यर्थः. तत्र तिष्ठेत इति मूले. त्वद्दासोऽहं सर्वार्थे त्वामेव आश्रित इत्यादि अभिप्रायं प्रकटयन् तिष्ठेत इत्यर्थः.

(त.दी.नि.प्र.कल्या.टि.२।२२५).

प्रपत्ति इत्यादि. अत्रापि अनधिकारे उपायान्तरं तदनुकल्पभूतम् आह इत्यर्थः. सर्वधर्मान्... इत्यत्र ‘एक’पदाद् अन्याश्रयः सर्वथा बाधक इति बोधयितुं तत्परपदस्य तात्पर्यम् आहुः प्रपत्तौ इत्यादि. तत्परः तिष्ठेद् इत्यर्थः.

स्थानान्तरस्यापि संग्रहार्थम् आहुः पूजाइत्यादि. एतस्यैव शेषौ विवेकधैर्याश्रयौ ज्ञेयौ. प्रपत्तिश्च शरणागतिः, आश्रयः इति यावत्. तत् प्रथमतो मानसं, पश्चात् कायिकं वाचनिकम् इति अक्रूरस्तुतौ उक्तं सुबोधिन्यां तद् उपपादितं शरणागतिप्रकरणे इति च. तदेव विवेकधैर्याश्रये विवेकधैर्ययोः निरूपणेन कायिकम्, आश्रयनिरूपणेन मानसं, वाचनिकं च उक्तम्. अत्रापि कारणं भगवदनुग्रहएव इति सोऽहं त्वाङ्घ्रीत्यत्र अक्रूरस्तुतौ प्रतिपादितम्.

(त.दी.नि.प्र.आव.भङ्ग.२।२५५).

(५)

इदमेव विनिश्चित्य कृष्णो ह्यर्जुनमब्रवीत्।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायाम् एतां तरन्ति ते।।
एवकारेण सर्वेषाम् अनुपायत्वम् आह हि।
ज्ञानादीनां हि सर्वेषां तदधीनत्वतः सदा।
विश्वासं सर्वतस्त्यक्त्वा कृष्णमेव भजेद् बुधः।।
न दृष्टः श्रुतपूर्वो वा भजन् कृष्णमनामयम्।
न मुक्तः सर्वथा यस्माद् गोप्यो गावस्तथाऽभवन्।।
आपाततस्तु सर्वेषाम् उपायत्वं मयोदितम्।
विष्णोः कृपाविशिष्टानां तत्फलं नान्यथा भवेत्।।
यन्न योगेन साङ्ख्येन दानव्रततपोध्वरैः।
व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि।।
तस्मात् त्वम् उद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम्।
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च।।
मामेकमेव शरणम् आत्मानं सर्वदेहिनाम्।
याहि सर्वात्मभावेन यास्यसे ह्यकुतोभयम्।।
इत्येकादशसर्वस्वं भगवान् स्वयम् उक्तवान्।
आत्मानं हि स्वयं वेद तस्माद् अन्यवचो मृषा।।

(त.दी.नि.२।३०४-३११)

(६)

(प्रपत्तौ दीक्षितानां वैष्णवाचारपरिपालनपराणां कृते सप्तविधभक्तेः उपदेशः)

लब्ध्वानुग्रहम् आचार्यात् श्रीकृष्णशरणं जनः।
धारयेत् तिलकं मालां वैष्णवाचारतत्परः।।
सर्वस्वं हरिसात्कार्यं त्यजेत् सर्वम् अवैष्णवम्।
हिंस्र-काम्या-ऽन्यदेवार्चा यदि नित्यं च लौकिकम्।।
पूर्वभाण्डादिकं सर्वं परित्यज्य विशुद्धितः।
श्रवणादि परो नित्यं हरेः प्रेमास्पदो भवेत्।।
हरेर्गुणानां श्रवणं ज्ययोभ्यः शृणुयात् सदा ।
जातशिक्षः यवीयोभ्यः कीर्तयेद् अन्यथैकलः ।।
अतिसुन्दररूपाणि लीलाधामानि संस्मरेत ।
पादसेवा हरेः कार्या सर्वसम्पन्निकेतनैः।।
अर्चनं प्रत्यहं तस्य विधिना नियमेन च ।
वन्दनं चरणाम्भोजे तस्य भावनयाखिले ।।
दास्यं तदेकशरणं तत्प्रसादैकभोजनम्।
एवं सप्तविधा भक्तिः प्रपन्नाधिकृता भवेत्।।

(साधनदीपिका.२४-३०)

(७)

तत्रादौ शरणं यातः किं कुर्यादिति चोच्यते।
श्रीमदाचार्यमार्गीयगुरुणा शरणं गतः।।९।।
स्वामित्वेन हरिं स्वं तु सेवकत्वेन भावयेत्।
लौकिकं वैदिकं वापि विदध्याद् भक्तिसिद्धये।।१०।।
नान्यमार्गाश्रयो नैव देशान्तरसमाश्रयः।
नैव तीर्थाश्रयो नैवाभिमतेः कर्तृताश्रयः।।११।।
नैव मन्त्रसमाधारो न च कर्मादिकाश्रयः।
सर्वदोषनिवृत्त्यर्थं धर्मत्वेन हरौ दृशि।।१२।।

विवेकादेरभावेन दैन्येनार्थत्वभावनम्।
स्वकामपूरणार्थाय पूर्णानन्दत्ववेदनम्।।१३।।
न साधनैर्भवेन्मोक्षो हरिरेव तदात्मकः।
तदीयतायाः संपत्ता (?) मुक्तत्वेनैव चिन्तनम्।।१४।।
अतएव निराकाङ्क्षा मोक्षतः कृष्णसेवकाः।
देशादिसाधनं कृष्णः पुरुषार्थश्चतुर्विधः।।१५।।
एवं मनसि सततं चिन्तनीयं प्रयत्नतः।
प्रायश्चित्तादिषु मतिर्न कार्या शरणं व्रजेत्।।१६।।
उपस्थितेषु दोषेषु सर्वेष्वथ विशेषतः।।
सुशक्येष्वप्यशक्येषु हरेर्गतिमथ स्मरेत्।।१७।।
अन्याश्रयो नैव कार्यो नैवान्यत्र स्वतो व्रजेत्।
प्रार्थना नैव कुत्रापि कर्तव्या भगवत्यपि।।१८।।
अविश्वासो न कर्तव्यो ब्रह्मास्त्रस्य निदर्शनात्।
लौकिके वैदिके वापि कार्ये सङ्गं विवर्जयेत्।।१९।।
यथाकथञ्चित् कर्तव्ये भारवत्तत्र भावनम्।
सर्वत्र ममतां त्यक्त्वा सर्वं कार्यं प्रसाधयेत्।।२०।।
लोभं च हृदये नैव कुर्यात्, प्राप्तं हि सेवयेत्।
शरणस्यापि ये धर्मास्तत्सिद्धौ शरणं व्रजेत्।२१।।
विवेकधैर्येऽपि सदा श्रीकृष्णाश्रयपोषके।
तद्ग्रन्थेभ्योऽवगत्यापि प्रयत्नाद् हृदि भावयेत्।।२२।।
एवम् आश्रितधर्मोऽयं संक्षेपेण निरूपितः।
आश्रित्य वल्लभाचार्यन् बुद्ध्वैवं कृष्णमाश्रयेत्।।२३।।

(श्रीहरि.श.स.से.निरू.९-२३).

***

॥ શ્રી હરિઃ ॥

: : પુષ્ટિસિદ્ધાન્ત-ચર્ચાસભાનો સંક્ષિપ્ત અહેવાલ : :

(પુષ્ટિસિદ્ધાંત-ચર્ચાસભાનો વિસ્તૃત અહેવાલ વીડિઓ-ઓડિઓ કેસેટ્સના આધારે તેમાઁ કોઈ પણ સુધારા-વધારા કર્યા વિના વ્હેલી તકે પ્રકાશિત કરાવવામાઁ આવશે).

● આયોજકમંડલ ●

::૧::ગો. શ્રીવ્રજપ્રિયજી મુરલીધરજી(મુંબઈ)
::૨::ગો. શ્રીનીરજકુમારજી માધવરાયજી(મુંબઈ)
::૩:: ગો. ચિ. શ્રીમનોજકુમારજી નૃત્યગોપાલજી(મુંબઈ)
::૪::ગો .ચિ. શ્રીયોગેશ રઘુનાથલાલજી (મુંબઈ-ગોકુલ)
::૫::ગો. ચિ. શ્રીશરદ અનિરુદ્ધલાલજી (માંડવી-હાલોલ-મુંબઈ)
::૬::ગો.ચિ.શ્રીપંકજ ચિમનલાલજી (માંડવી-ગોકુલ)
::૭::ગો.ચિ. શ્રીપીયૂષ કિશોરચન્દ્રજી (માંડવી-જૂનાગઢ-મુંબઈ)
::૮::ગો.ચિ. શ્રીગોપેશકુમારજી મુરલીમનોહરજી(મુંબઈ)
::૯::ગો.ચિ.શ્રીભૂષણ ચિમનલાલજી (માંડવી-ગોકુલ)
::૧૦::ગો.ચિ.શ્રીવિઠ્ઠલદેવકીનન્દનાચાર્યજી (ગોકુલ-અમદાવાદ-મુંબઈ)
::૧૧::ગો.ચિ.શ્રીમિલનકુમારજી લાલમણિજી (જતિપુરા-કોટા-મુંબઈ)
::૧૨::ગો.ચિ.શ્રીશરદકુમારજી લાલમણિજી (જતિપુરા-કોટા-મુંબઈ)

દ્વારા; સમ્પ્રદાયના પ્રાણોપમ તેમજ વિવાદગ્રસ્ત મુદ્દાઓ પર ;તા.૧૦-૧૧-૧૨-૧૩,જાનેવરી,૯૨ના દિવસોમાઁ વિશ્વકર્માબાગ, બજાજ રોડ, વિલેપાર્લે (પશ્ચિમ), મુંબઈ-૫૭, સ્થલે ગોઠવવામાઁ આવેલી ચર્ચાસભામાઁ અતિશય ઔદાર્ય સ્વધર્મ-નિષ્ઠા તથા નિર્ભીક-સાહસ થી ઉપસ્થિત રહીને ચર્ચાસભાની શોભામાઁ અભિવૃદ્ધિ કરનાર ઉપસ્થિત આદરણીય ગોસ્વામી મહાનુભાવો તથા શાસ્ત્રીજીઓ ની નામાવલી-

::૧::ગો.શ્રીઉત્તમશ્લોકજી દીક્ષિતજી (કિશનગઢ-મુંબઈ)
::૨::ગો. શ્રીકલ્યાણરાયજી ગોવિન્દરાયજી(પૂના-સુરત)
::૩::ગો.ચિ. શ્રીકન્હૈયાલાલજી ચન્દ્રગોપાલજી(વિરમગામ-અમદાવાદ)
::૪::ગો. શ્રીકિશોરચન્દ્રજી પુરુષોત્તમલાલજી (જૂનાગઢ-મુંબઈ)
::૫::ગો. શ્રીકૃષ્ણચન્દ્રજી કૃષ્ણજીવનજી (મુંબઈ)
::૬::ગો. ચિ. શ્રીકૃષ્ણકાન્તજી કૃષ્ણચન્દ્રજી (મુંબઈ-ઉદયપુર)
::૭::ગો. શ્રીકૃષ્ણકુમારજી રમણલાલજી (મુંબઈ)
::૮::ગો. ચિ. શ્રીગોપિકાલંકારજી વલ્લભલાલજી (રાજકોટ)
::૯::ગો.શ્રીગોવિન્દરાયજી રણછોડલાલજી (પોરબન્દર)
::૧૦::ગો .ચિ .શ્રીચન્દ્રગોપાલજી મધુસૂદનલાલજી (વડોદરા)

::૧૧::ગો.શ્રીત્રિલોકીભૂષણજી ત્રિકમરાયજી (કલકત્તા)

::૧૨::ગો.ચિ. શ્રીદેવકીનન્દનાચાર્યજી ગોકુલનાથજી (ગોકુલ-અમદાવાદ)

::૧૩::ગો.ચિ.શ્રીદ્રુમિલકુમારજી મથુરેશ્વરજી (વડોદરા)

::૧૪::ગો.ચિ.શ્રીદ્વારકેશજી વ્રજજીવનજી (અમરેલી-મુંબઈ)

::૧૫::ગો.ચિ.શ્રીપુરુષોત્તમજી વ્રજજીવનજી (અમરેલી-મુંબઈ)

::૧૬::ગો.ચિ. શ્રીપ્રશાન્તકુમારજી રાજકુમારજી (મુંબઈ)

::૧૭::ગો.શ્રીબાલકૃષ્ણજી ગોવિન્દરાયજી(સુરત)

::૧૮::ગો. ચિ.શ્રીમથુરેશ્વરજી મધુસૂદનજી (વડોદરા)

::૧૯::ગો.ચિ.શ્રીમધુસૂદનજી કૃષ્ણચન્દ્રજી(મદ્રાસ).

શ્રીરઘુનાથલાલજી રમણલાલજી (મુંબઈ-ગોકુલ)

::૨૧::ગો.ચિ.શ્રીરઘુનાથજી રમેશચન્દ્રજી (મુંબઈ)

::૨૨::ગો.શ્રીરસિકરાયજી દ્વારકેશલાલજી (મથુરા-પોરબન્દર)

::૨૩::ગો.શ્રીરાજેશકુમારજી ગોવિન્દરાયજી (કડી-અમદાવાદ)

::૨૪::ગો.શ્રીવલ્લભરાયજી ગોવિન્દરાયજી (સુરત)

::૨૫::ગો.ચિ.શ્રીવલ્લભલાલજી ગિરિધરલાલજી(કામવન-વિદ્યાનગર)

::૨૬::ગો.ચિ.શ્રીવલ્લભલાલજી દેવકીનન્દનાચાર્યજી(ગોકુલ-અમદાવાદ)

::૨૭::ગો.શ્રીવિજયકુમારજી ગોવિન્દરાયજી (ગોંડલ-કડી)

::૨૮::ગો.શ્રીવિઠ્ઠલનાથ-લાલમણિ-જી રણછોડલાલજી(જતિપુરા-કોટા-મુંબઈ)

::૨૯::ગો.શ્રીવ્રજજીવનજી પુરુષોત્તમલાલજી (અમરેલી-મુંબઈ)

::૩૦::ગો.ચિ.શ્રીવ્રજેશકુમારજી ઘનશ્યામલાલજી (રાજકોટ-કામવન)

:૩૧::ગો.ચિ. શ્રીવ્રજેશકુમારજી ચન્દ્રગોપાલજી (વીરમગામ-અમદાવાદ)

::૩૨::ગો.શ્રીશરદકુમાર-શીલુબાવા-જી મુરલીધરજી(વેરાવલ-પોરબન્દર-મુંબઈ)

::૩૩::ગો.શ્યામ મનોહર દીક્ષિતજી (કિશનગઢ-મુંબઈ)

::૩૪::ગો.શ્રીશ્યામસુન્દરજી મુરલીધરજી (મુંબઈ)

::૩૫:ગો. શ્રીહરિરાયજી વ્રજભૂષણલાલજી (જામનગર).

::૧::શ્રીજયવલ્લભશાસ્ત્રીજી (મુંબઈ)

::૨::શ્રીનિરઞ્જનશાસ્ત્રીજી(ઉમરેઠ-મુંબઈ)

::૩::શ્રીવસન્તશાસ્ત્રીજી (મથુરા)

::૪::શ્રીવ્રજેશશાસ્ત્રીજી(મહેસાણા-વીસનગર).

ગોસ્વામીશ્યામમનોહર(કિશનગઢ-મુંબઈ)દ્વારા પ્રસ્તુત સિદ્ધાંતવચનાવલીમાટે અને તેના, સમીક્ષાર્થ પ્રસ્તાવિત, ભાવાનુવાદમાટે પોતાની સહમતિ દરસાવનાર મહાનુભાવોની નામાવલી-

::૧::ગો.શ્રીઅનિરુદ્ધલાલજી દ્વારકેશલાલજી* (માંડવી-હાલોલ)

::૨::ગો. ચિ.શ્રીકન્હૈયાલાલજી ચન્દ્રગોપાલજી (વિરમગામ-અમદાવાદ)

::૩::ગો. શ્રીકિશોરચન્દ્રજી પુરુષોત્તમલાલજી+ (જૂનાગઢ-મુંબઈ)

::૪::ગો.ચિ.શ્રીકૃષ્ણકાન્તજી કૃષ્ણચન્દ્રજી
(મુંબઈ-ઉદયપુર)
::૫::ગો. શ્રીકૃષ્ણકુમારજી રમણલાલજી
(મુંબઈ કામવન)
::૬::ગો.શ્રીગિરિધરલાલજી ગોવિન્દરાયજી * *
(કામવન-વિદ્યાનગર)
::૭::ગો. ચિ. શ્રીગોપિકાલંકારજી વલ્લભલાલજી
(રાજકોટ)
::૮:: ગો. ચિ. શ્રીદેવકીનન્દનાચાર્યજી
ગોકુલનાથજી(ગોકુલ-અમદાવાદ)
::૯::ગો.ચિશ્રીદ્રુમિલકુમારજી મથુરેશ્વરજી
(વડોદરા)
::૧૦::ગો.શ્રીદ્વારકેશલાલજી ગોવિન્દરાયજી* *
(કામવન-સુરત)
::૧૧::ગો.શ્રીનવનીતલાલજીગોવિન્દરાયજી* *
(કામવન-ભાવનગર)
::૧૨::ગો.ચિ.શ્રીમથુરેશજી ચન્દ્રગોપાલજી*
(અમદાવાદ-વીરમગામ)
::૧૩::ગો.શ્રીમાધવરાયજી મુરલીધરજી*
(વેરાવલ)
::૧૪::ગો.શ્રીરઘુનાથલાલજી રમણલાલજી
(મુંબઈ-ગોકુલ)
::૧૫::ગો .ચિ. શ્રીરઘુનાથજી રમેશચન્દ્રજી(મુંબઈ)
::૧૬::ગો. ચિ શ્રીરવીન્દ્રકુમારજી દામોદરલાલજી
(માંડવી-રાજકોટ)
::૧૭::ગો.શ્રીરસિકરાયજી દ્વારકેશલાલજી
(મથુરા-પોરબન્દર)
::૧૮::ગો.શ્રીરાજેશકુમારજી ગોવિન્દરાયજી
(કડી-અમદાવાદ)
::૧૯::ગો.ચિ.શ્રીવલ્લભલાલજી ગિરિધરલાલજી
(કામવન-વિદ્યાનગર)
::૨૦::ગો.શ્રીવલ્લભલાલજી ગોવિન્દરાયજી
(કડી-અમદાવાદ)
::૨૧::ગો.ચિ.શ્રીવલ્લભલાલજી
દેવકીનન્દનાચાર્યજી(ગોકુલ-અમદાવાદ)
::૨૨::ગો. શ્રીવિજયકુમારજી ગોવિન્દરાયજી
(ગોંડલ-કડી)
::૨૩::ગો. શ્રીવિઠ્ઠલનાથ-લાલમણિ-જી
રણછોડલાલજી (જતિપુરા-કોટા-મુંબઈ)
::૨૪::ગો.શ્રીવ્રજરાયજી રણછોડલાલજી*
(અમદાવાદ)
::૨૫::ગો.શ્રીવ્રજેશકુમારજી ગોવિન્દરાયજી*
(અમદાવાદ-કડી)
::૨૬::ગો.ચિ.શ્રીવ્રજેશકુમારજી ચન્દ્રગોપાલજી
(વીરમગામ-અમદાવાદ)
::૨૭::ગો. શ્રીશરદકુમાર-શીલુબાવા-જી
મુરલીધરજી(વેરાવલ-પોરબન્દર-મુંબઈ)
::૨૮::ગો. શ્રીશ્યામસુન્દરજી મુરલીધરજી(મુંબઈ)
::૧::શ્રીનવનીતપ્રિયશાસ્ત્રીજી* (નડિયાદ)
::૨::શ્રીવસન્તશાસ્ત્રીજી(મથુરા)
::૩::શ્રીવ્રજેશશાસ્ત્રીજી(મહેસાણા-વીસનગર)

ગોસ્વામીશ્યામ્મનોહર(કિશંનગઢ-મુંબઈ)દ્વારા પ્રસ્તુત સિદ્ધાંતવચનાવલીમાટે અને તેના, સમીક્ષાર્થ પ્રસ્તાવિત,ભાવાનુવાદમાટે અસહમતિ દરસાવનાર મહાનુભાવોની નામાવલી-

::૧::ગો.શ્રીગોપાલલાલજી પુરુષોત્તમલાલજી* (કોટા)
::૨::ગો.ચિ.શ્રીમથુરેશ્વરજી મધુસૂદનજી (વડોદરા)
:૩::ગો. શ્રીવલ્લભલાલજી ગોવિન્દરાયજી(સુરત)
::૪::ગો. ચિશ્રીવિનયકુમારજી ગોપાલલાલજી* (કોટા)
::૫::ગો. શ્રીવ્રજરત્નલાલજી વેંકટેશજી* (સુરત)
::૬::ગો.શ્રીવ્રજરમણલાલજી દામોદરલાલજી* (મથુરા)
::૭::ગો.ચિ.શ્રીશરદકુમારજી ગોપાલલાલજી* (કોટા)
::૮::ગો.શ્રીહરિરાયજી વ્રજભૂષણલાલજી (જામનગર).

ગોસ્વામીશ્યામમનોહર(કિશનગઢ-મુંબઈ)દ્વારા પ્રસ્તુત સિદ્ધાંતવચનાવલીમાટે અને તેના, સમીક્ષાર્થ પ્રસ્તાવિત, ભાવાનુવાદમાટે સભામાઁ મૌન રાખનાર મહાનુભાવોની નામાવલી-

::૧::ગો. શ્રીઉત્તમશ્લોકજી દીક્ષિતજી (કિશનગઢ-મુંબઈ)
::૨::ગો. શ્રીકલ્યાણરાયજી ગોવિન્દરાયજી (પૂના-સુરત)
::૩::ગો. શ્રીકૃષ્ણચન્દ્રજી કૃષ્ણજીવનજી(મુંબઈ)
::૪::ગો.શ્રીગોવિન્દરાયજી રણછોડ઼લાલજી (પોરબન્દર)
::૫::ગો.ચિ.શ્રીચન્દ્રગોપાલજી મધુસૂદનલાલજી (વડોદરા)
::૬::ગો.શ્રીત્રિલોકીભૂષણજી ત્રિકમરાયજી (કોટા-કલકત્તા)
::૭::ગો.ચિ.શ્રીદ્વારકેશલાલજી વ્રજજીવનજી (અમરેલી -મુંબઈ)
::૮::ગો.ચિ.શ્રીપુરુષોત્તમજી વ્રજજીવનજી (અમરેલી-મુંબઈ)
::૯::ગો. ચિ. શ્રીપ્રશાન્તકુમારજી રાજકુમારજી (મુંબઈ)
::૧૦::ગો. શ્રીબાલકૃષ્ણજી ગોવિન્દરાયજી(સુરત)
::૧૧::ગો.શ્રીવ્રજજીવનજી પુરુષોત્તમલાલજી (અમરેલી-મુંબઈ)
::૧૨::ગો.ચિ.શ્રીવ્રજેશકુમારજી ઘનશ્યામલાલજી (રાજકોટ-કામવન).
::૧::શ્રીજયવલ્લભશાસ્ત્રીજી(મુંબઈ)
::૨::શ્રીનિરઞ્જનશાસ્ત્રીજી (ઉમરેઠ-મુંબઈ)

(સંવાદસ્થાપક-મંડળના સૌજન્યથી) .

* * * * *

(+) પૃષ્ઠ સંખ્યા ૪, શીર્ષક ૧-ખ, માઁ 'કોઈક પુરુષને'શબ્દપ્રયોગને સ્થાને 'એવા પુરુષને'શબ્દપ્રયોગ હોવો જોઈએ તથા પૃષ્ઠ સંખ્યા ૧૧, શીર્ષક ૨-ઘ, માઁ 'પોથી' શબ્દ ન હોવો જોઈએ.

(*) પત્રદ્વારા પ્રાપ્ત .

(**)હમારે વિચારસે ઇન વચનનકો જો અનુવાદ શ્રીશ્યામમનોહરજીને કિયો હૈ વહ સહી હૈ એવં યા અનુવાદસૂઁ જહાઁ કહીં વ્યક્તિગત ઉલ્લેખકી ગન્ધ હૈ વા સ્થલકુ છોડ઼કે, હમ સહમત હૈં.

* * * * *

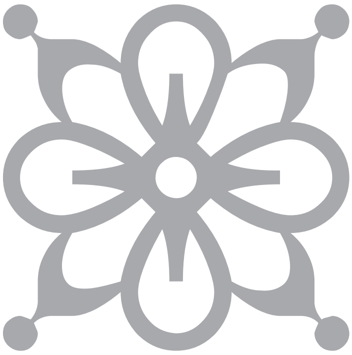

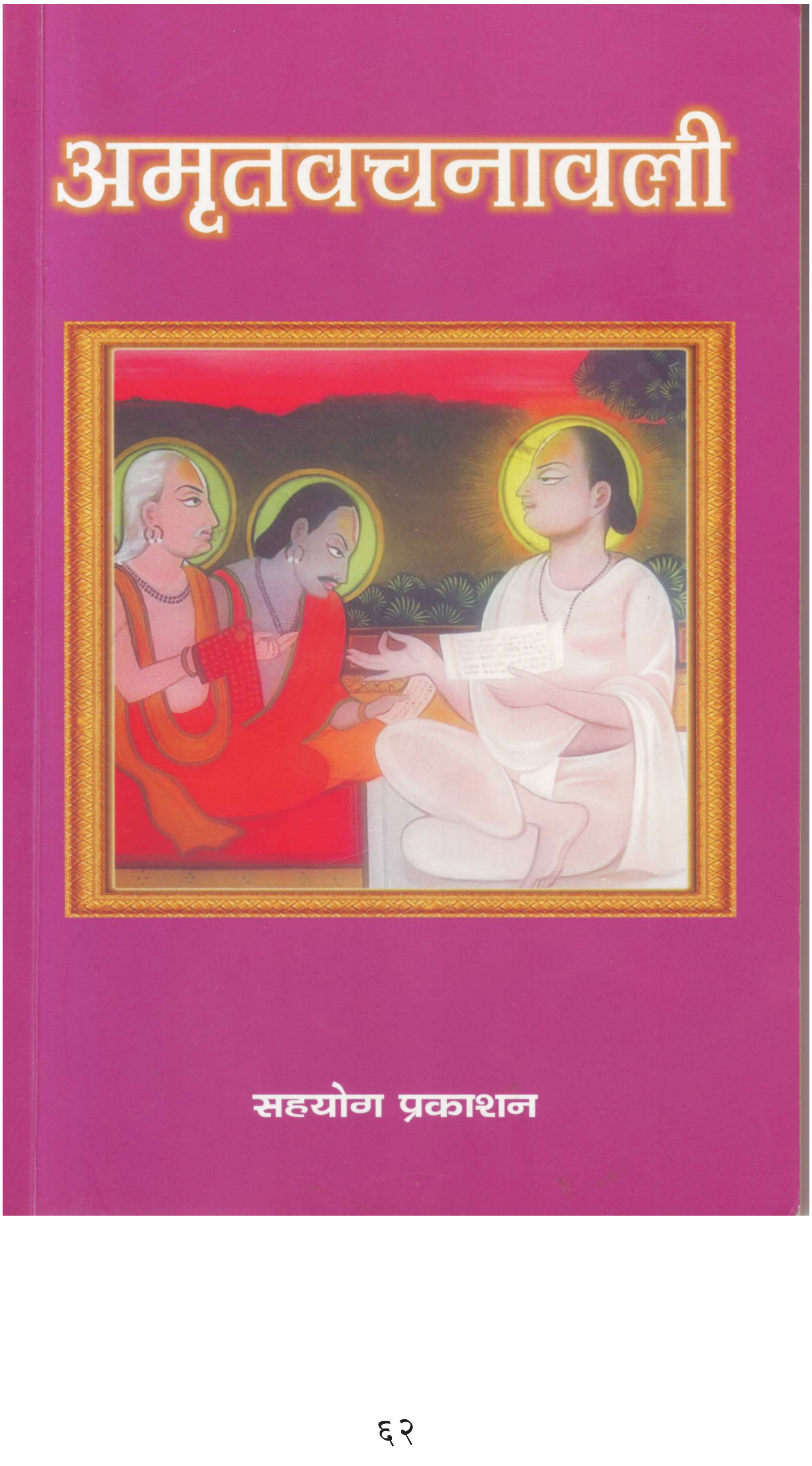

अमृतवचनावली

सहयोग प्रकाशन

सहयोग प्रकाशन:

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी(किशनगढ-मुंबई)
गोस्वामी श्रीमिलनकुमारजी श्रीलालमणीजी (कोटा-जोधपुर-मुंबई),

'सिद्धान्तमुक्तावली' अध्ययनसत्र (२९/०१-०४/०२, २००८) के उपलक्ष्यमें
श्रीबालकृष्णजी हवेली,
जूनी धानमंडी,
जोधपुर, राजस्थान.

श्रीकिशोर राठी, जयपुर
श्रीमती अनुराधा के मास्तर, मुंबई
श्रीसचिन संघवी, मुंबई
श्रीमती शोभा भाटीया, कांदीवली
श्री मदनमोहन शुद्धाद्वैत ट्रस्ट, चेन्नई
श्रीनीरज शाह, यु.एस्.ए.
गो.वा.श्रीकृष्णलाल मास्तर, मुंबई
श्रीमती पार्वती भाटीया, मलाड,
श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट
श्री प्रितेष शंकरलाल शाह, वडोदरा

संस्करण	*वि.सं.*	*प्रति*	
१.	२०४७	१०,०००	(गुजराती)
२.	२०५०	५०००	(व्रजभाषा)
३.	२०६०	४०००	(व्रजभाषा)
४.	२०६०	५०००	(गुजराती)
५.	२०६०	३०००	(गुजराती)
६.	२०६०	२०००	(गुजराती)
७.	२०६०	२०००	(गुजराती)
८.	२०६१	३०००	(हिन्दी)
९.	२०६१	२०००	(हिन्दी)
१०.	२०६१	१०००	(गुजराती)
११.	२०६१	१०००	(गुजराती)
१२.	२०६२	११००	(हिन्दी)
१३.	२०६३	३०००	(व्रजभाषा)
१४.	२०६४	१०,०००	(गुजराती)
१५.	२०६४	१०,०००	(प्रस्तुत हिन्दी संस्करण)

कुल प्रति = ६०,१००

प्रकाशनवर्ष:
वि.सं. २०६४, श्रीवल्लभाब्द ५३०, ई.स.२००७

प्रति : १०,००० नि :शुल्क वितरणार्थ

मुद्रक:
श्रीवल्लभ बुक मेन्यु. कं., अमदावाद

डिज़ाईन :
लिप्सा - दिप्ती

।। अमृतवचनावली ।।

सहयोग प्रकाशन

।। अनुक्रमणिका ।।

- श्रीगोवर्धननाथजी ६८
- महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य ६८
- श्रीगोपीनाथप्रभुचरण ६९
- श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण ६९
- श्रीवल्लभात्मज-श्रीबालकृष्णजी ७१
- श्रीगोकुलनाथप्रभुचरण ७१
- श्रीहरिराय महाप्रभु ७१
- गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरण ७२
- नि.ली.गो.श्रीनृसिंहलालजी (मुम्बई) ७३
- नि.ली.गो.श्रीमट्टुजी महाराज (जतिपुरा) ७३
- नि.ली.गो.श्रीगोवर्धनलालजी (श्रीनाथद्वारा) ७४
- नि.ली.गो.श्रीरणछोड़लालजी (राजनगर) ७४
- नि.ली.गो.श्रीवागीशलालजी (अमरेली) ७५
- नि.ली.गो.श्रीदेवकीनन्दनाचार्यजी (कामवन) ७५
- नि.ली.गो.श्रीव्रजरत्नलालजी (सुरत) ७६
- नि.ली.गो.श्रीगिरिधरलालजी (इन्दौर) ७६
- नि.ली.गो.श्रीदीक्षितजी (किशनगढ-मुंबई) ७७
- नि.ली.गो.श्रीव्रजभूषणलालजी (कांकरोली) ७८
- नि.ली.गो.श्रीकृष्णजीवनजी (मद्रास-मुंबई) ८०
- नि.ली.गो.श्रीगोविन्दरायजी (पोरबंदर) ८१
- नि.ली.गो.श्रीव्रजभूषणलालजी (जामनगर) ८२
- नि.ली.प्रथमेश गो.श्रीरणछोडलालजी (मुंबई-कोटा) ८४
- नि.ली.गो.श्रीबालकृष्णलालजी (सुरत) ८९
- नि.ली.गो.श्रीकृष्णकुमारजी (कामवन-मुंबई) ९२
- नि.ली.गो.श्रीगिरिधरलालजी (कामवन) ९५

- नि.ली.गो.श्रीव्रजाधीशजी श्रीकृष्णजीवनजी (दहिसर) १००
- नि.ली.गो.श्रीव्रजरायजी (अमदावाद) १०१
- गो.श्रीव्रजेन्द्रकुमारजी श्रीव्रजरायजी (अमदावाद) १०५
- नि.ली.गो.श्रीमाधवरायजी (मुंबई–नासिक) १०५
- गो.श्रीघनश्यामलालजी (कामवन) १०७
- गो.श्रीहरिरायजी (जामनगर) १०८
- गो. श्रीलालमणीजी (कोटा–जतिपुरा–मुंबई) १०९
- गो. श्रीमथुरेश्वरजी (वडोदरा–सुरत) १११
- पू.पा.गो.श्रीव्रजेशकुमारजी (वडोदरा–कांकरोली) ११२
- गो.चि.श्रीवागीशकुमारजी (वडोदरा–कांकरोली) ११३
- गो.श्रीगोकुलोत्सवजी (इन्दौर–श्रीनाथद्वारा) ११४
- पू.पा.गो.चि.श्रीद्वारकेशलालजी (अमरेली) ११५
- गो.श्रीद्रुमिलकुमारजी श्रीमथुरेश्वरजी (वडोदरा–सुरत) ११६
- गो.सुश्रीइन्दिरा बेटीजी (वडोदरा) ११९
- नि.ली.गो.श्रीगोविन्दलालजी (कडी) ११९
- गो.श्रीव्रजेशकुमारजी श्रीगोविन्दलालजी (कडी) ११९
- गो.श्रीराजेशकुमारजी श्रीगोविन्दलालजी (कडी) ११९
- गो.श्रीविजयकुमारजी श्रीगोविन्दलालजी (कडी) ११९
- गो.श्रीवल्लभलालजी श्रीगोविन्दलालजी (कडी) ११९
- गो.चि.श्रीयोगेश्वरजी श्रीमथुरेश्वरजी (वडोदरा) १२६
- गो.श्रीवल्लभरायजी (सुरत) १२७
- गो.श्रीहरिरायजी महाराज (पोरबंदर) १२८
- गो.श्रीद्वारकेशलालजी श्रीगोविन्दरायजी (सुरत) १३०
- गो.श्रीनवनीतलालजी श्रीगोविन्दरायजी (भावनगर) १३३
- गो.श्रीवल्लभलालजी श्रीगिरिधरलालजी (कामवन) १३५
- गो.श्रीरमेशकुमारजी (मुलुंड) १३८

- गो.श्रीनीरजकुमारजी श्रीमाधवरायजी (मुंबई-वापी) १३८
- गो.श्रीमाधवरायजी (वेरावल) १३९
- गो.श्रीशरद्कुमारजी श्रीमुरलीधरजी (वेरावल) १४२
- गो.श्रीचन्द्रगोपलजी श्रीमुरलीधरजी (वेरावल-पोरबंदर) १४२
- गो.श्रीअजयकुमारजी (मद्रास-पूना) १४४
- गो.चि.श्रीद्वारकेशलालजी श्रीव्रजेशकुमारजी (वडोदरा) १४५
- गो.श्रीश्यामसुंदरजी श्रीमुरलीधरजी (बोरीवली) १४६
- गो.श्रीव्रजप्रियजी श्रीमुरलीधरजी (बोरीवलीा १४६
- गो.श्रीरसिकरायजी श्रीद्वारकेशलालजी (उपलेटा) १४८
- गो.चि.श्रीपुरुषोत्तमलालजी (जुनागढ) १५०
- गो.श्रीयोगेशकुमारजी (मुंबई) १५१
- गो.श्रीगोपिकालंकारजी (माणावदर-राजकोट) १५३
- संयुक्तघोषणापत्र पर वल्लभवंशज गोस्वामी आचार्योंके हस्ताक्षरकी फोटो कॉपी. १५६
- संयुक्तघोषणापत्रके समर्थनमें हस्ताक्षर और/अथवा पत्रद्वारा सम्मति प्रदान करनेवाले गोस्वामी आचार्योंके चित्र. १५७
- संयुक्तघोषणापत्रमें निरूपित सम्प्रदायके सिद्धान्तोंमें समर्थन देता हुवा नि.ली.गो.श्रीगोविन्दलालज (कडी-कोटा)का पत्र. १६२
- नि.ली.गो.श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज, जामनगर द्वारा लिखित पत्र जिनमें आपने अपने सभी बालकों सहित संयुक्तघोषणापत्रमें निरूपित सम्प्रदायके सिद्धान्तोंमें अपना समर्थन प्रकट किया है. १६३
- पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभामें विचारार्थ प्रस्तुत की गई ‘सिद्धान्तवचनावली’ पर सम्मतिके कतिपय हस्ताक्षरोंकी फोटो कॉपी. १६६

श्रीगोवर्धननाथजी

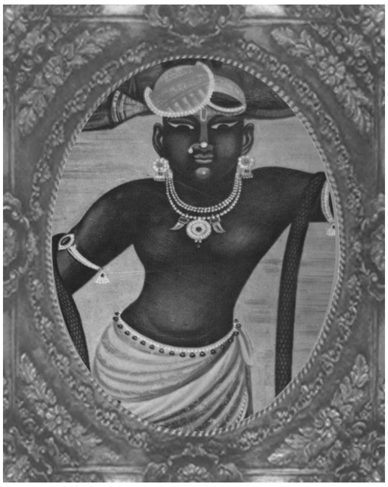

पाछें श्रीगुसांईजी आपु श्रीगोवर्धनधरसों पूछें जो ‘‘महाराज! कृष्णदासकी तो देह छूटी...सो हम कौनको अधिकार देके बिगार करें? तासों आपु कहो ताकों अधिकारी (ट्रस्टी) करें. तब श्रीगोवर्धननाथजी कहे जो ‘‘हमहु कौन जीवको बिगार करें? जो कोई अधिकार लेयगो (ट्रस्टी बनेगो) ताको बिगार होयगो! तासों तुम एक काम करो जो अधिकारको दुसाला ले सबके आगे कहो (जो) जाकों अधिकार करनो (ट्रस्टी बननो) होय सो दुसाला ओढो. तब जो आयके कहे ताकों देऊ. सो जाकों गिरनो होयगो सो आपु ही आयेगो’’. (८४ वैष्णव वार्ता, कृष्णदासकी वार्ता, प्रसंग-१०)

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य

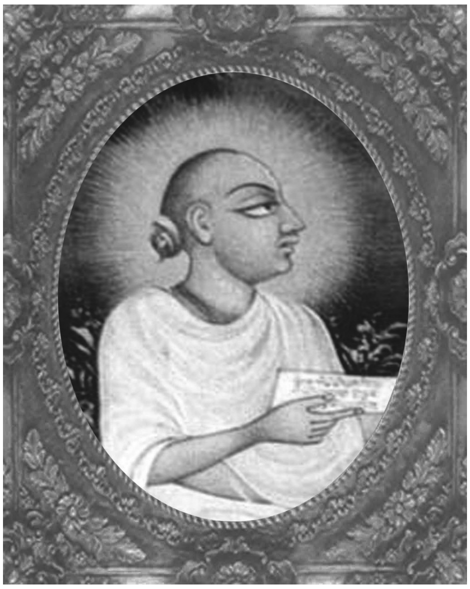

जो कटोरी (गहने) धरिके सामग्री आई सो तो भोग श्रीठाकुरजी आप ही के द्रव्यकुं आरोगे, सो आप ही को भयो. जो श्रीठाकुरजीको द्रव्य खायगो सो मेरो नाहिं अरु मेरो सेवक भगवदीय होयगो सो देवद्रव्य कबहूं न खायगो. जो खायगो सो महापतित होयगो. ताते वा प्रसादमेंते भोजन करिवेको अपनो अधिकार न हतो; याकेलिए गोअनको खवायो अरु श्रीयमुनाजीमें पधरायो. यह सुनिके सब वैष्णव चुप होय रहे. **(घरुवार्ता-३)**

श्रीभागवतको स्वयं ही पढना चाहिये. लौकिक-पारलौकिक किसी

भी हेतु-प्रयोजनसे श्रीभागवतको पढना-सुनना नहीं चाहिये. प्राण कण्ठ तक आ गये हों तब भी भागवतकी कथा दक्षिणा लेकर आजीविकाकेलिये नहीं करनी चाहिये. **(निबन्ध)**

कथा-कीर्तनसे आजीविका चलानेवाले नीच लोग मुख-मल आदिके प्रक्षालनके उपयोगमें आये हुवे गंदे जलको एकत्रित करनेकेलिये भूमिमें खोदे जाते गढ्ढे (गटर) के जैसे होते है. पुराणकथासे आजीविका चलानेवाले पौराणिक भी ऐसे नीच गायकोंके तुल्य (गटरके जैसे) ही होते हैं. इन गानोपजीविओं द्वारा किये जाते कथा-कीर्तन नहीं सुनने चाहिये. **(जलभेद)**

श्रीगोपीनाथप्रभुचरण

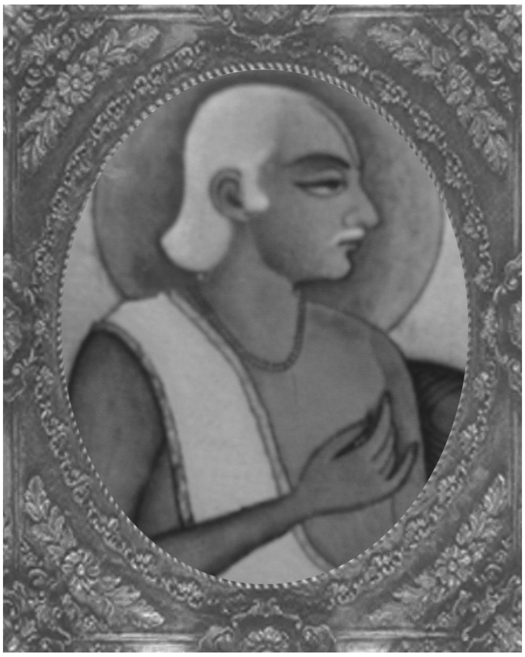

श्रीआचार्यजीको वैष्णवने आकर कहा : ‘‘महाराज! श्रीद्वारकानाथजी वैभव सहित पधारे हैं’’.

...तब श्रीआचार्यजीने कहा : ‘‘क्या ठाकुरजीका वैभव देखकर तुम खुश हुवे?’’

तब श्रीगोपीनाथजीने कहा : ‘‘आपका कहलाकर जो श्रीठाकुरजीकी वस्तु (देवद्रव्य) पर अपना मन बिगाड़ेगा उसका निर्मूल नाश होगा’’.

यह सुनकर श्रीआचार्यजीने कहा : ‘‘हमारा मार्ग तो ऐसा ही है’’.

(८४ वैष्णव वार्ता, दामोदरदास सम्भलवारेकी वार्ता).

श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण

(क) धनादिकी कामनाकी पूर्तिकेलिये जो शास्त्रविहित श्रवण-कीर्तन-सेवा आदि किये जाते हैं उनको कर्ममार्गीय समझना चाहिये. अपनी

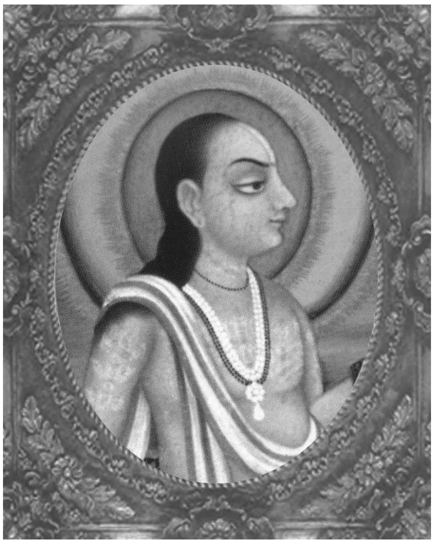

आजीविका चलानेकेलिये धनोपार्जनके रूपमें जो श्रवण–कीर्तन–सेवा आदि किये जाते हैं उनको तो खेती–बाड़ी जैसे व्यवसायकी तरह ‘लौकिक कर्म’ ही कहना चहिये (धर्म–भक्ति सर्वथा नहीं). मलप्रक्षालानार्थ गंगाजलका उपयोग करनेवालेको उसके मलकी सफाईसे अधिक गंगास्नानका फल मिलता नहीं है. इतना ही नहीं, ध्यान देनेलायक बात यह है कि गंगा जैसी पवित्र नदिके जलका ऐसा घृणित कार्यकेलिये उपयोग करनेके कारण वह पापी बनता है. इसी तरह प्रभुकी सेवा–कथाके माध्यमसे पैसे कमानेवालेको सेवा–कथाका कोई भी (धार्मिक–भक्तिमार्गीय) फल तो प्राप्त नहीं ही होता है प्रत्युत ऐसे अधम आचरणके कारण वह पापका ही भागी होता है.

(भक्तिहंस)

(ख) तब श्रीगुसांईजी आपु कहे : ‘‘हम कौनसे जीवकों कहें, जो कौनसे जीवको बिगार करें! सुधारनो तो बहोत कठिन है और बिगारनो तो तत्काल है! तासों श्रीगोवर्धनधरको अधिकार (ट्रस्टीपद) कौनकों देंय? कौनको बिगार करें? ... पाछें श्रीगुसांईजी आपु श्रीगोवर्धनधरसों पूछें जो ‘‘महाराज! कृष्णदासकी तो देह छूटी...सो हम कौनको अधिकार देके बिगार करें? तासों आपु कहो ताकों अधिकारी(ट्रस्टी) करें. तब श्रीगोवर्धननाथजी कहे जो ‘‘हमहु कौन जीवको बिगार करें? जो कोई अधिकार लेयगो (ट्रस्टी बनेगो) ताको बिगार होयगो! तासों तुम एक काम करो जो अधिकारको दुसाला ले सबके आगे कहो (जो) जाकों अधिकार करनो (ट्रस्टी बननो) होय सो दुसाला ओढो. तब जो आयके कहे ताकों देऊ. सो जाकों गिरनो होयगो सो आपु ही आयेगो’’.

(८४ वैष्णव वार्ता, कृष्णदासकी वार्ता, प्रसंग–१०)

श्रीवल्लभात्मज-श्रीबालकृष्णजी

यहां भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें सेवोपयोगी स्थानके रूपमें निज घरको विधान उपलब्ध होयवेसूं, अपने घरमें बिराजते ठाकुरजीकी सेवा छोडके कोई दूसरी जगह (अर्थात् हवेलीन्में, जैसे आजकल, भेंट-सामग्री पधराके नित्य या मनोरथन की झांकी कर लेनो वैष्णवन्ने पुष्टिमार्गमें परमधर्म मान लियो हे वैसे) भगवत्सेवा करवेवालेन्कुं कभी भक्ति सिद्ध नहीं हो सके हे.

(भक्तिवर्धिनी व्याख्या-२)

श्रीगोकुलनाथप्रभुचरण

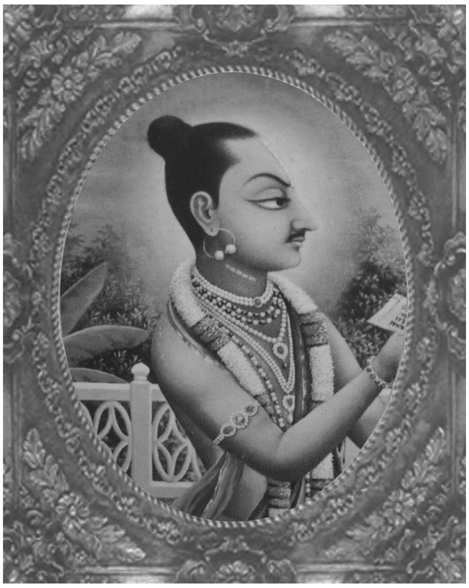

अपने सेव्य-स्वरूपकी सेवा आप ही करनी. और उत्सवादि समयानुसार, अपने वित्त अनुसार करने, वस्त्राभूषण भांति-भांतिके मनोरथ करी सामग्री करनी.

(२४ वचनामृत)

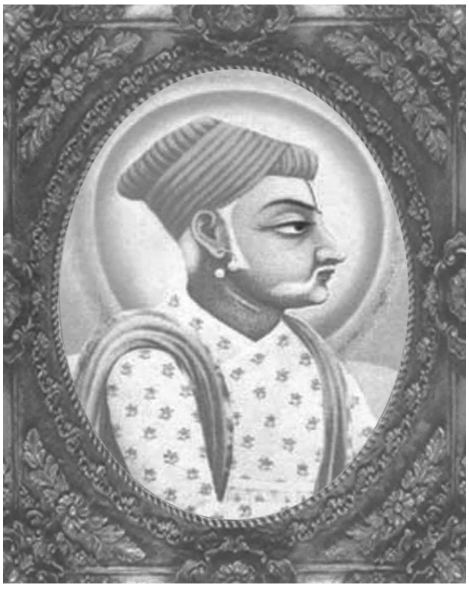

श्रीहरिराय महाप्रभु

जब सन्तदासको सगरो द्रव्य गयो तब श्रीठाकुरजीकी सेवामें मंडान श्रीठाकुरजीके द्रव्यसों राखे और श्रीठाकुरजीके द्रव्यमेंते चौबीस टका पूंजी करि कोड़ी बेचते. सो श्रीठाकुरजीकी पूंजीमेंते तो कासिदको दियो न जाई सो

कमाईको टका दिये. तब इनकी मजूरीको राजभोग न भयो सो महाप्रसाद हू न लियो. टकाके चूनको न्यारो भोग धरते सो राजभोग जानते, महाप्रसाद लेते, ओर नित्यको नेग बहोत श्रीठाकुरजीके द्रव्यसों होतो; (कासिदको कमाईको टका दिये) ताते आपुनी राजभोगकी सेवा सिद्ध न भई (जाने). कासिदको दिये सो नारायणदासको लिखें जो ‘‘तुम्हारी प्रभुतातें एक दिन राजभोगको नागा पर्यो जो मेरी सत्ताको भोग न धर्यो!’’ या प्रकार सन्तदास विवेकधैर्याश्रयको रूप दिखाये. विवेक यह जो श्रीगुसांईजीको हूंडी पठाई आपुनी सेवा न भई राजभोगको नागा माने. धैर्य यह जो श्रीठाकुरजीके द्रव्यमेंते खान–पान न किये. आश्रय यह जो मनमें आनन्द पाये दुःखक्लेश न पाये.

(भावप्रकाश ८४वैष्णवनकी वार्ता–७६)

गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरण

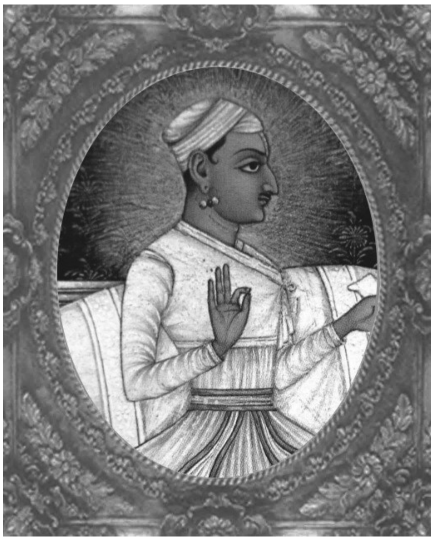

पारिश्रमिकके रूपमें वित्त दे के कोई दूसरेके द्वारा सेवा कराई जावे तो चित्तमें अहंकार तो बढ़े ही है परन्तु ऐसी खरीदी भई सेवासु चित्त भगवानमें कभी चोंट नहीं सके है. भगवत्सेवार्थ कोई दूसरेसूं पारिश्रमिकके रूपमें धनादिक लिये जावेपे तो, जैसे पंडा–पुरोहितन्कुं यज्ञ–यागादिको फल नहीं मिले है परन्तु यजमानन्कुं ही मिले है, वेसे ही सेवाकर्ताकी सेवा निषफल बन जाय हे.

शंका : यजमान जैसे दक्षिणा दे के पुरोहितन्के द्वारा यज्ञयाग करा लेवे है वैसे ही भगवत्सेवा (आजकल जैसे पुष्टिमार्गीय हवेलीन्में वैष्णवगण गुसांई–मुखिया–भीतरिया–समाधानीकी बटालियनसूं करवा लेवे हें वा तरह:अनुवादक) करा लेवेमें क्या बुराई है?

समाधान : या शंकाको ये समाधान जाननो जो कर्ममार्गमें ऐसो करनो

विहित होवेसुं पुरोहितन्सूं कर्म सम्पन्न करा लेनो आपत्तिजनक नहीं है. भक्तिमार्गमें, परन्तु, या तरहसू भगवत्सेवा करा लेवेको कहीं विधान उपलब्ध नहीं होयवेसूं, कोई दूसरेकुं धन दे के सेवा करानो अनुचित ही हे. भक्तिमार्गमें तो भगवदुक्त प्रकारसूं (निज घरमें निज परिजनन्के सहयोगद्वारा निजी तन-मन-धनसूं ही) भगवत्सेवा करनी चहिये.

(सिद्धान्तमुक्तावलीविवृतिप्रकाश-२)

नि.ली.गो.श्रीनृसिंहलालजी महाराज

लौकिक अर्थकी इच्छा राखिके जो भगवद्भजनमें प्रवृत्त होय सो सर्वथा क्लेश पावे हे. इतने कछू भेंट-सामग्री मिलि जाये ऐसे लाभकेलिये पूजादिकमें प्रवृत्त होय सो 'पाखंडी' ओर 'देवलक' कह्यो जाय हे. तासूं लाभपूजार्थ सिवाय जामें निषेध नहीं हे ऐसी रीतिसूं ''मेरो लौकिक सिद्ध होय'' ऐसी इच्छासूं जो भजनमें प्रवृत्त भयो होय सो 'लोकार्थी' कह्यो जाय है. **(सिद्धान्तमुक्तावलि-टीका श्लोक१६-१७)**

नि.ली.गो.श्रीमट्टुजी महाराज

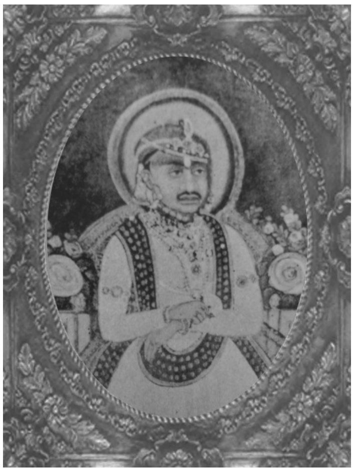

जो श्रीवल्लभकुल हैं वे तो आपुने सेव्यस्वरूपपें कैसो स्नेह राखत हैं जो एक ठौर द्रव्यकी ढेरी करो और दूसरी ठौर श्रीठाकुरजीकों पधरावो तो श्रीवल्लभकुल वा द्रव्यकी ओर देखेंगे हु नाहीं; अरु श्रीठाकुरजीकों अतिस्नेहसों पधराय लेंगे. परि जो या कलिको जीव है वाकुं तो द्रव्य बहुत प्रिय है. तासों वो तो श्रीठाकुरजी सन्मुख हु नाहीं देखेगो अरु केवल वैभवकुं देखेगो अरु मोहित होय जायेगो. **(३२ वचनामृत; वचनामृत-५)**

गोस्वामी तिलकायत

नि.ली.गो.श्रीगोवर्धनलालजी महाराज (श्रीनाथद्वारा)

श्रीउदयपुर दरबारकुं आशीर्वाद! याके द्वारा सूचित कियो जावे हे कि चल-अचल सम्पत्तिके आर्थिक तथा स्वामित्वकी व्यवस्थाके बारेमें योग्य व्यक्तिन्की एक सलाहकार समिति नियुक्त कर ली गई हे. सेवा आदि विषयन्में पुरातन तथा प्रवर्तमान प्रणालिके अनुसार काम कियो जायेगो; ओर यदि पुरातन परम्पराको बाध न होतो होयगो ओर समिति कोइ तरहके सुधारकी इच्छा रखती होयगी तो ऐसे सुधार भी स्वीकारे जायेंगे. ओर श्रीठाकुरजीको द्रव्य अपने व्यक्तिगत उपयोगमें नहीं वापर्यो जायेगो, जेसी कि परम्परा आज भी हे ही, ओर याकुं निभायो जायेगो. तो भी मेरे पूर्वजन्के समयसूं चले आ रहे मेरे स्वामित्वके हक्क वा ही तरह कायम रहेंगे.

(डेक्लॅरेशन, मिति भाद्रशुक्ला पञ्चमी, वि.सं.१९४८=ता.५-९-१८९३)

नि.ली.गो.श्रीरणछोड़लालजी महाराज (राजनगर)

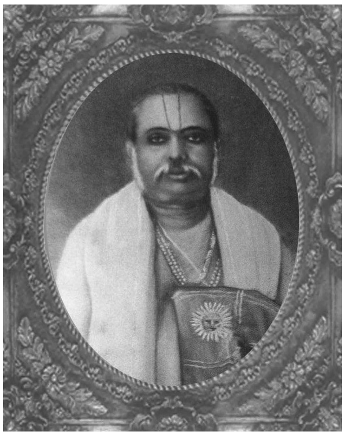

...या ही तरह अपने यहां जो सन्मुखभेंट धरी जाय हे वो भी देवद्रव्य होवे हे; और वा सामग्रीकुं काममें नहीं लियो जाय है. श्रीगोकुलनाथजी और श्रीचन्द्रमाजी के घरमें आज भी ये नियम पाल्यो जाय हे. वहां जो सन्मुखभेंट आवे हे, वाकुं कीर्तनीया-महावनिया ले जावे हे. वो वल्लभकुलको श्रीयमुनाजीको पंडा हे. दूसरो कोई वाको अनुकरण करे तो वो अनुचित है... हम श्रीनाथजीके सामने जो सन्मुख भेंट धरें हैं वो श्रीमहाप्रभुजीकी पादुकाजीकुं धरें हैं फिर भी वो आभूषणन्में वापरी जावे है,

सामग्रीमें नहीं. सन्मुखभेंट धरवेमें बहोत अनाचार होवे है. या तरहसूं आयो द्रव्य ‘देवद्रव्य’ बने हे...वाकुं लेवेवालेकी बुद्धि बिगड़े बिना नहीं रहे है.

(वचनामृत.४८४–८७)

नि.ली.गो.श्रीवागीशलालजी महाराज (अमरेली)

महाराजकुं जो आमदनी वैष्णव आदिन्सूं होवे हे वामेंसूं घरखर्चाके रूपमें महाराज ठाकुरजीकी सेवाको खर्चा निभावें हें. ठाकुरजीकेलिये चल या अचल सम्पत्ति अलगसूं निकालके वामेंसूं ठाकुरजीकी सेवाको खर्च निभायो नहीं जावे हे. ठाकुरजीके वैभवको, नेगभोगको, आभूषण–वस्त्र आदिको खर्च महाराज स्वयं अपनी आमदनीके अनुसार निभावे हें... ठाकुरजीके सन्मुख भेंट धरी नहीं जा सके... ठाकुरजीकी भेंट देवमन्दिरमें भेजनी पड़े हे. महाराज वा भेंटकुं अपने उपयोगमें ला नहीं सकें.

(श्रीवागीशलालजीके आम–मुखत्यार:‘‘अमरेलीहवेली व्यक्तिगत है या सार्वजनिक’’ मुद्देपर सन १९०९–१०में गायकवाडी बड़ौदा राज्यकी कोर्टमें दी गई जुबानी)

पञ्चमगृहाधीश

नि.ली.गो.श्रीदेवकीनन्दनाचार्यजी (कामवन)

जैसे अपने पूर्वपुरुष स्वयं अपने धर्मके सत्यस्वरूप तथा शुद्धाद्वैतसिद्धान्त कुं पूर्णतया समझके वैष्णवधर्मको यर्थाथ उपदेश लोगन्कुं देते हते; और मध्यवर्ती कालमें जो सम्पत्ति आदिके कारणन्सूं हमने बहोत हद् तक छोड़ दिये हें, या कारणसूं अधिकांश लोगन्में साधारण सेवा और केवल वित्तजा भक्ति की ही रूढ़िके अनुसार

जानकारी बच गयी हे.

(मुंबईके वैष्णवन्कुं लिखित पत्र:'आश्रय' अप्रिल ८७ के अंकमें प्रकाशित)

नि.ली.गो.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराज (सुरत)

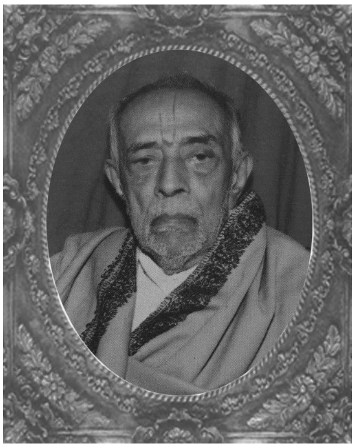

वकील: यदि कोई भी पुष्टिमार्गीय मन्दिरमें, वैष्णव श्रीठाकुरजीकी सेवा और नेग-भोग केलिये; और श्रीठाकुरजीकी सेवाकुं निभावेकेलिये भेंट आदि दे के वित्तजा सेवा करते होंय और वा मन्दिरमें तनुजा सेवा भी करते होंय तो वो मन्दिर पुष्टिमार्गीय नहीं होवे है ऐसे आपको कहनो हे?

पू.पा.महाराजश्री: पुष्टिमार्गीय वैष्णवन्केलिये स्वतन्त्रतया तनुजा या वित्तजा सेवा करवेकी कोई प्रक्रिया नहीं हे. और ऐसी सेवा की जाती होय तो वाकुं साम्प्रदायिक मन्दिर नहीं कह्यो जा सके.

(''नड़ियादकी हवेली वैयक्तिक हे या सार्वजनिक'' विवादमें पुष्टिमार्गके विशेषज्ञ साक्षीके रूपमें दी जुबानी)

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको सुनील जागिरदार, सुरत के सादर प्रणाम)

द्वितीयगृहाधीश

नि.ली.गो.श्रीगिरिधरलालजी महाराज

(इन्दौर-नाथद्वारा)

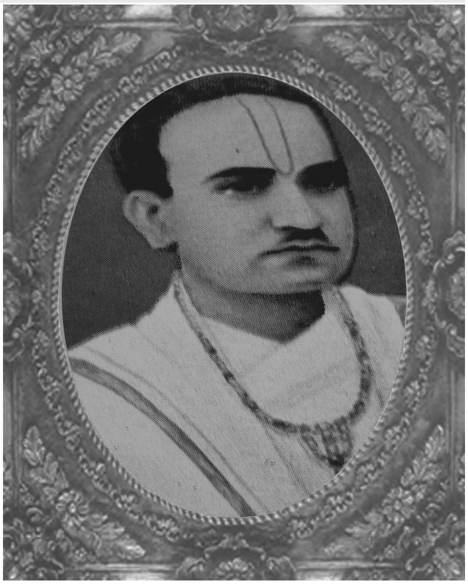

हमारा प्रमुख सिद्धान्त है 'असमर्पित त्याग'. उत्तम उपाय तो यही है कि घरमें जो भी रसोई बने वह प्रभुको भोग धरके बादमें

ही महाप्रसाद लिया जाय. ... जहां तक असमर्पितका त्याग नहीं होगा वहां तक बुद्धि अच्छी नहीं हो सकती. सानुभावता कब सिद्ध हो सकती है? जब हमारी बुद्धि निर्मल हो. ... आज हम हीरे (घरमें बिराजते सेव्य प्रभु) को परख नहीं सकते. सच्चे हीरेको जौहरी ही परख सकता है. स्थिति क्या है कि हम जूठे हीरेको सच्चा मान-कर उसीके पीछे (हवेली-मन्दिरोंमें) दौड़ लगा रहे हैं. श्रीमहाप्रभुजीने तो निधिरूप सच्चा हीरा हमको दिया है. भगवान् गीतामें कहते हैं कि ''दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमीश्वरम्''. भगवान्को पहचाननेकेलिये तो दिव्यता प्राप्त होनी चाहिये. दिव्यता ही आत्मबल है. ... अतः मेरा तो आप लोगोंसे साग्रह अनुरोध है कि आत्मबल प्राप्त करनेकेलिये अपना कुछ दैनिक नियम बनाईये. षोडशग्रन्थके पाठका नियम लीजीये...

(श्रीमद्वल्लभ अने श्रीहरिरायजी जीवनदर्शन, भाग-२, वचनामृत ७, पृष्ठ१२४)

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको प्रवीणचंद्र शाह, महेलोल के सादर प्रणाम)

नि.ली.गो.श्रीदीक्षितजी महाराज (मुंबई-किशनगढ़)

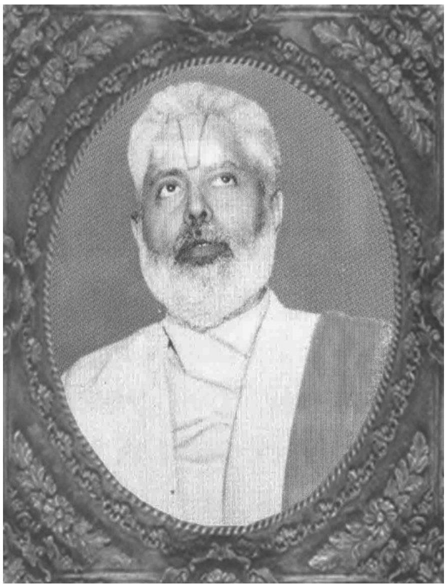

(क) और जब जनरल पब्लिक ट्रस्ट है तब ठाकुरजीकुं गोस्वामीके सम्बन्धसूं पृथक् करके, ठाकुरजीकुं सब सम्पत्ति अर्पण करके, अर्थात् भेंट करके रिलीजिअस एंडॉमेन्टके रूपमें भये वे ट्रस्ट हैं. ऐसी अवस्थामें इन ट्रस्टन्सूं जो नेग-भोग चलायो जावे है, वो देवद्रव्यसूं चलायो जा रह्यो है. देवद्रव्यको उपभोग करनेवालो अन्तमें देवलक ही होवे है. श्रीमदाचार्यचरणने प्रभुकी सोनेकी कटोरी गिरवी रखके जब भोग अरोगायो तब आपने वा द्रव्यसूं समर्पित सारोको सारो

प्रसाद गायन्कुं खवा दियो. ये है साम्प्रदायिक सिद्धान्त. या प्रकारके आदर्शरूप सिद्धान्तन्को जा (सार्वजनिक मन्दिर-हवेलीकी) प्रथासूं विनाश होवे, आचार्यन्कुं देवलक बनायो जाय, वा प्रथाकुं जितनी शीघ्र सम्प्रदायसूं हटा दी जाय, उतनो ही श्रेय यामें गोस्वामिसमाज तथा वैष्णवसमाज को निहित है.

(ख) भगवत्सेवा सम्प्रदायकी आत्मरूप प्रवृत्ति है. आचार सेवाको अंग है, सेवाके अनुकूल आचारको पालन कियो जानो चहिये. आचार-पालनकुं प्रमुखता देके भगवत्सेवाको त्याग भी उचित नहीं है. भगवत्सेवा जैसे भी बने (अपने घरमें) करो...गुरुघरन्में मत भेजो...यदि हम भगवद्द्रव्यकुं पेटमें डालेंगे तो वो अपराध है. ग्रन्थन्के अध्ययनके प्रति हमकुं समाजकुं आकृष्ट करनो चहिये.

(क-''आचार्योच्छेदक ट्रस्ट प्रथासे पुजारीपनकी स्थापना घोर सिद्धान्तहानि एवं घोर स्वरूपच्युति'' लेख पृष्ठ ७. ख-'श्रीवल्लभविज्ञान' अंक ५-६ वर्ष १९६५में प्रकाशित वक्तव्य)

तृतीयगृहाधीश

नि.ली.गो.श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज (कांकरोली)

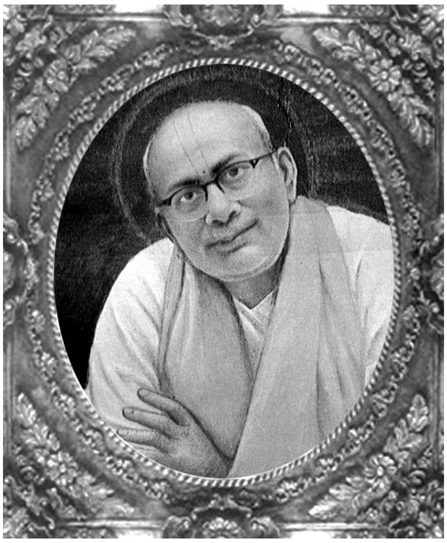

(क) वैष्णवन्के पास जो भी परम पदार्थ है वाको अस्तित्व आजके ही दिनको आभारी है. कालकी भीषणता और परिस्थितिकी विषमता के अत्यन्त विकट युगमें श्रीमत्प्रभुचरणन्के दिव्य सिद्धान्तन्के ऊपर अटल रहवेपर ही जीवमात्रको ऐहिक और पारलौकिक कल्याण हो पावेगो. अन्याश्रयके त्यागकी भावनापे जगत्के जीव दृढ़ रहें तो वैष्णव-हवेलीन्के वैभवके कारण जो वैष्णव घरसेवाकुं भूल चुके हते, संयोगवशात् उन हवेलीन्में श्रीके दर्शन

आज बन्द भये हैं यासुं अब वैष्णवन्के घर पुनः भगवत्सेवासूं किलकिलाते हो जायेंगे. ये लाभ सम्प्रदाय और सम्प्रदायीन् केलिये मामूली नहीं रहेगो. ईश्वरेच्छा अनाकलनीय होवे है. मोकुं तो श्रद्धा है के या कठिन परीक्षामें हम सभीन्को श्रेय ही सिद्ध होवेवालो है.

(ख) मेरे अनुयायीन्कुं दो प्रकारकी दीक्षा दउं हूं. प्रथम कंठी बांधनी तथा दूसरी ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा. कंठी-बांधनी साधारण वैष्णवन्कुं ही दी जावे हे तथा ब्रह्मसम्बन्ध विशेषरूपसूं उन अनुयायीन्कुं, जो सेवामें विशेषरूपसूं आगे बढ़नो चाहे हें. पहली दीक्षाकुं 'शरण-दीक्षा' कहें हैं तथा दूसरी दीक्षाकुं 'आत्मनिवेदन' कहें हैं. शरणदीक्षासूं वैष्णव सिर्फ नामस्मरण करवेको ही अधिकारी बने है तो सेवावाले वैष्णवकुं ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा लेवेके बाद ही अधिकार मिले हे. ब्रह्मसम्बन्ध लेवे वालो वैष्णव अपने घरमें ही सेवाको अधिकारी होवे हे... हम स्वरूपकी सेवा नन्दालयकी भावनासूं करें हें. यालिये हम सातोंके सात पुत्रन्के घर 'घर' ही कहलावे हैं ओर हमारे घरकी सृष्टि 'तीसरे-घरकी-सृष्टि' कहलावे है.

(ग) श्रीआचार्यचरणके सिद्धान्तोमें भगवत्सम्बन्ध और भगवत्सेवा को ही प्रधानता दी गयी थी. बादमें, परिलक्षित होता है कि, उसमें भी कुछ अन्तर आ गया. ... श्रीआचार्यचरणके और श्रीप्रभुचरणके सेवक, हम देख सकते हैं कि, सभी प्रकारके हैं. ऐसा नहीं है कि अमुक विशिष्ट व्यक्ति ही भगवत्सेवाकेलिये योग्य होता है और अमुक परिस्थितिमें ही भगवत्सेवा हो सकती हो. ऐसा कोई भी उल्लेख नहीं मिलता है. अनेक प्रकारके जीव भगवत्सेवा करते थे. उनमें स्मशानवासी, वेश्या आदिसे लेकर अच्छे विद्वान् ब्राह्मण भी थे. आजके समयमें, मुझे प्रतीत होता है कि, हम उन चरित्रोंको भूल कर पीछेसे मुख्य बन गये ऐसे केवल भावात्मक रूपको ले कर बैठ गये हैं कि जो आज भी वैष्णवोंमें प्रचलित है. ...मैं मानता हूं कि चरित्रोंका विचार करनेमें सिद्धान्तोंकी आवश्यकता होती है.

(क) श्रीमत्प्रभुचरण प्राकट्योत्सव=ता.२४-१२-४८के दिन मुंबईके

पुष्टिमार्गीय वैष्णवन्की सभामें अध्यक्षीय प्रवचन. **(ख)** बयान:मूर्तिबा कार्या. सहा. कमि. देवस्थानविभाग खंड उदयपुर एवं कोटा बजरिये कमिशन मु.कांकरोली.फाईल संख्या.१-४-६४. श्रीद्वारकाधीशमन्दिर दिनांक ७।११।६५ **(ग)** श्रीमद्वल्लभ अने श्रीहरिरायजी जीवनदर्शन, भाग-२, वचनामृत २०मुं, पृष्ठ१४६,१४९म.

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको बिपिनचंद्र शाह, पावी के सादर प्रणाम)

नि.ली.गो.श्रीकृष्णजीवनजी महाराज (मुंबई-मद्रास)

आज मोकुं अपने हृदयके उद्गार कहवे दो, मेरो हृदय जल रह्यो हे, मन्दिरन्में मात्र द्रव्यसंग्रहकी प्रवृत्ति बच गई हे; ओर वोही अनर्थन्की जड़ है. ऐसे मन्दिरन्के अस्तित्वसूं कोई लाभ नहीं है. हमारो सम्प्रदाय सामुहिक नहीं वैयक्तिक है. सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक अवश्य है परन्तु सार्वजनिक नहीं. ‘‘करत कृपा निज दैवी जीवनपर’’ या उक्तिमें ‘निज’ शब्दको प्रयोग कियो गयो है. दैवीजीव कहीं भी हो सके हैं परन्तु सार्वजनिक रूपसूं नहीं. आज हम ‘पुष्टि’को नाम लेवेके भी अधिकारी नहीं हैं! ... आजको हमारो जीवन चार्वाक-जीवन हो रह्यो हे. क्या हम, आज जा प्रकारको सम्प्रदाय हे, वाकुं जिवानो चाहें हैं? यदि सच्चे सम्प्रदायकुं चाहो हो तो स्वरूपसेवा घर-घरमें पधराओ एवं नामसेवापे भार रखो... भक्तिकी प्राप्ति स्वगृहमें सेवा करवेसूं ही होयगी. आजके इन मन्दिरन्सूं कोई लाभ नहीं है, क्योंकि इनमें द्रव्यसंग्रहकी प्रधानता आ गयी है; ओर जहां द्रव्य इकठ्ठो होय है वहीं अनर्थ हो जावे है. आज सम्प्रदायको विकृत स्वरूप याके कारण ही है. (‘वल्लभविज्ञान’अंक५-६वर्ष१९६५)

नि.ली.गो.श्रीगोविन्दरायजी महाराज (पोरबन्दर)

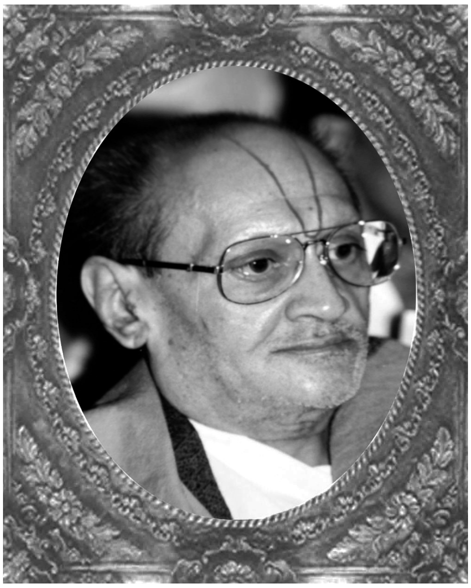

(क) जैसे स्वरूपसेवा स्वार्थबुद्धिवश और लौकिक कार्य समझके नहीं करवेकी श्रीमहाप्रभुजीकी आज्ञा है, वैसे ही नामसेवा भी वृत्त्यर्थ नहीं करनी चहिये, ऐसी आज्ञा श्रीमहाप्रभुजी निबन्धमें करें हैं... वृत्त्यर्थ सेवा करवेसूं प्रत्यवाय(दोष) लगे है. जैसे गंगा-जमुना जलको उपयोग गुदाप्रक्षालनार्थ नहीं कियो जा सके है, वैसे ही सेवाको उपयोग भी वृत्त्यर्थ नहीं करनो चहिये.

(ख) तन और वित्त प्रभुकेलिये वापर्यो जाय तो मन भी प्रभुमें अवश्य लगे ही है. अतएव श्रीवल्लभने उपदेश कियो है के ''तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा''. मानसी जो परा है वो सिद्ध करनी होय तो तनुवित्तजा सेवा आवश्यक है. तन और वित्त कहीं एकत्र लगायो जाय तो चित्त भी वहां दिन-रात लग्यो रह सके है. दलालीको व्यवसाय करवेवालेके व्यवसायमें केवल तनसूं श्रम कियो जावे है परन्तु वामें वित्त स्वयंको लगायो नहीं जावे है. अतएव बजारके भावन्की घट-बढ़में दलालकुं तनिक भी मानसिक चिन्ता होवे नहीं है... कोई बच्चाको पिता केवल ट्युशन फी देके समझ ले है के बच्चा परीक्षामें पास हो ही जायेगो. इन तीनोंकुं फलप्राप्ति होवे नहीं है क्योंकि तनुजा-वित्तजा दोनों नहीं लगी. अब तनुवित्त दोनों लगावेवालेके चित्तप्रवण होवेको उदाहरण देखें:एक दुकनदार दुकान और माल की खरीदीमें पूंजी लगाके व्यापार शुरु करे, सुबहसूं रात तक वहां उपस्थित रहके जब तन भी व्यापारमें लगावे है तो या कारणसूं दिनरात वाकुं व्यापारके ही विचार आते रहे हैं:अच्छी तरह व्यापार कैसे करूं, कैसे व्यापार बढ़े... अतः पुष्टिमार्गमें प्रभुमें आसक्ति सिद्ध होवेकेलिये मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया समझायी गयी है कि भावपूर्वक भक्तकुं तनुवित्तद्वारा सेवा करनी चहिये. (क-'सुधाधारा' पृ.११४. ख-'सुधाबिन्दु' पृ.७३)

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको इंदु प्रवीण डढाणीया, माणावदर के सादर प्रणाम)

नि.ली.गो.श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज (जामनगर)

“अति धन्यवादार्ह है कि आपने इतनी मेहनत करके सम्प्रदायके सिद्धान्तन्कूं कोर्टमें समझाये” “हमारो यामें पूरो सहयोग रहेगो, तन-मन-धनसे...हमारे सभी चि.बालक या कार्यमें सहयोग करवेकुं तैयारहैं”.

(गो.श्याममनोहरजी(पार्ला-किशनगढ)कुं भेजे दि.२६-१०-८६ और ७-११-८६ के पत्रन्में. मूल पत्रकी फोटोकॉपिकेलिये देखीये : परिशिष्ठ, पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा संक्षिप्तविवरण, हिन्दी)

...जहां तक सिद्धान्तके निश्चित स्वरूप या व्याख्या का प्रश्न है, हम सभी धर्माचार्य, हमारे सम्प्रदायके प्रवर्तक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य तथा परवर्ती अन्य भी मान्य सभी व्याख्याकारोंके सन्देहरहित विधानोंके आधारपर, यह स्पष्टतम शब्दोमें घोषित करते हैं कि हमारे धार्मिक सिद्धान्त एवं परम्पराओंके अनुसार भगवत्सेवा, सेवास्थल, सेवोपयोगिसम्पत्ति, सेवाकर्ता, (उपदेशक या

गो.श्रीविट्ठलनाथजी
गो.श्रीश्याममनोहरजी
गो.श्रीहरिरायजी
गो.श्रीनवनीतरायजी
गो.श्रीव्रजरत्नजी
गो.श्रीबालकृष्णजी

नि.ली.गो.श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज
एवं आपके सभी चि. बालक :
गो.श्रीविट्ठलनाथजी, गो.श्रीहरिरायजी, गो.श्रीश्याममनोहरजी, गो.श्रीव्रजरत्नजी, गो.श्रीनवनीतरायजी तथा गो.श्रीबालकृष्णजी

अनुयायी) एवं सेव्य भगवत्स्वरूप का निजी अथवा पारिवारिक होना एक अनुल्लंघ्य धार्मिक अनिवार्यता है. अतः इनमेंसे किसीको भी सार्वजनिक बनाना सर्वथा धर्मविरुद्ध होनेसे एक घोर धार्मिक अपराध है.

...वाल्लभ सम्प्रदायके सिद्धान्तके अनुसार निजघरमें निजधनको तथा निज परिवारजनोंको भगवत्स्वरूपकी सेवामें उपयोगमें लाना ही आराधनाका वास्तविक स्वरूप है...अतः निजघरमें निजधनके विनियोग द्वारा तथा निजपरिवारके जनोंके सहयोग बिना की जाती आराधना, वाल्लभ सम्प्रदायकी आराधनाकी परिभाषाके अनुसार, आराधना ही नहीं है. ऐसी स्थितिमें हमारे घरोंमें आती जनताद्वारा हमारे सेव्य भगवत्स्वरूपके दर्शन करना या भेंट चढाना आदि आचरण आराधनाके अन्तर्गत मान्य क्रियाकलाप नहीं है.

...यदि निज घरमें न किया जाता हो तो ऐसे भगवद्भजनको पुष्टिमार्गीय परिभाषामें भगवद्भजन ही नहीं कहा जा सकता है. पुष्टिमार्गमें निजघरमें रहकर भगवद्भजन करनेके प्रकारके अलावा अन्य कोई प्रकार भगवद्भजनका है ही नहीं.

...भेंट धरे हुए धनसे भोग धरी हुई सामग्रीका प्रसादत्वेन ग्रहण हमारे यहां सर्वथा वर्जित है. ...सार्वजनिक मंदिरमें दर्शनार्थी जनताके प्रतिनिधिके रूपमें सेवा करनेकी प्रक्रियाको न तो वाल्लभ संप्रदायमें अवकाश है और न वैसा आचरण सिद्धान्ततः प्रशंसनीय ही है. भगवत्सेवाका अनुष्ठान न तो नौकरी और न धंधा के रूपमें किया जा सकता है.

...श्रीमहाप्रभु सभी पुष्टिमार्गीयोंको सैद्धान्तिक निष्ठा स्वधर्मानुसरणका सामर्थ्य तथा पारस्परिक सौमनस्य प्रदान करें. ...सभी पुष्टिमार्गीयके निजघरोंमें बिराजमान सेव्यस्वरूप सर्वदा निजी ही रहें, कभी सार्वजनिक न बन जायें. ''बुद्धिप्रेरक कृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु''.

(नि.ली.गो.श्रीव्रजभूषणलालजी महाराजकी उपर्युद्धत सम्मतीसे सुप्रिमकोर्टमें प्रस्तुत करनेकेलिये तैयार किया गया ''महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य वंशज गोस्वामीओंका संयुक्त घोषणापत्र'' १९८६.)

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको कृष्णदास देसाई, मितडी के सादर प्रणाम)

प्रथमेश

नि.ली.गो.श्रीरणछोडलालजी महाराज

(कोटा-जतिपुरा-मुंबई)

(क) ट्रस्ट हवेली-मन्दिर यानि पुष्टिभावोंकी मौत : भगवान्-स्वधर्म पूजीसे बंधकर नहीं चलते; वे श्रद्धा और प्रेमपरवश होकर चलते हैं. आज जो (मन्दिरों-हवेलियोंके) ट्रस्टोंकी या न्यासोंकी प्रणाली चल रही है वह पूजीवादकी एक अभिनव दास्तां है जिसमें भगवान्, गाय, गुरु और धर्मानुयायिओं पर एकछत्र साम्राज्य करनेकी लालच समायी हुई है. इस तरहसे आदर्शका जामा कहने हुए इस धनलिप्सा और धनिकों की दास्तांमें वह प्रेम नहीं है जो एक अकिंचन भक्तके ''रहिये मेरे ही महल अनत न जैये...'' इस आत्मीयता भरे मीठे बैनोंमें झलकती है. यह प्रेमभरा अनुनय है. और आजका ट्रस्टी और सत्ता भगवान्‌को पूजी या सत्ता के जोरपर यह कहते हैं कि ''इस स्थानसे जरासा भी नहीं हिलना. ध्यान रखना, मैं तुम्हारा व्यवस्थापक, ट्रस्टी हूं. चाहो या न चाहो, तुमको मुझपर भरोसा करना ही होगा, समझे!'' लोग समझते हैं कि यह धर्मरक्षाका ही एक सर्वश्रेष्ठ रूप है, किन्तु ...इसमें भी प्राणोंकी उतनीही असुरक्षा है जो मौतसे कम नहीं... वल्लभाचार्यने ऐसे जकड़े हुवे ईश्वरको दामोदर माननेसे भी इंकार कर दिया.

ठाकुरजीको ट्रस्टमें पधरानेवालोंने ठाकुरजीको बेच दिया है:

..अच्छी तरह सोचो कि ऐसी कौन माता होगी जो अपने लड़केको धनकी लालचमें बेच दे; या कोई प्रेमी कभी भी प्रत्यक्ष तो क्या सपनेमें भी ऐसा करना तो दूर रहा, सोच या देख भी नहीं सकता. इस विषयमें एक कहानी याद आती है. ...एक बार एक रुपये-पैसेवाली बांझ औरत (आधुनिक दर्शनीया वैष्णव और ट्रस्टी)ने एक गरीब(गोस्वामी गुरु)का बच्चा(ठाकुरजी) खिलानेकेलिये लिया. कुछ दिनों बाद बच्चेकी मांने जो गरीब थी बच्चा मांगा तो अमीर औरतने कहा कि ये तो मेरा ही बच्चा है, तेरा नहीं है. जो तुझसे हो सके वह करले. बैचारी गरीब मां...न्यायकी मांग करने लगी...मगर सभी(वैष्णव, आम जनता, सरकार) लोग उस गरीबके खिलाफ गवाही देने चले आये. न्यायधीश चतुर था. ...न्यायधीश बोला कि ...इस(बच्चे)के दो देवेदार हैं इसलिये इसके दो टुकडे करके दोनोंको बराबर दे दिये जाय. अमीर महिला(ट्रस्टी)ने यह बात मान ली, परन्तु गरीब मांने रोते हुए कहा ''नहीं हुजुर, यह बच्चा मेरा नहीं है; यह इसीका ही है, इसे मारीये मत''. ...यह त्याग एक सच्ची मां दे सकती है. यह तो बनावटी थोपी हुई व्यवस्था है.

इस तरह धनने ईमान खरीदा, भगवान् खरीदा और उस उन्मुक्त बालककी गुंजती किलकारियां हमेंश-हमेंश केलिये चुप हो गई. लोगोंने कहा कि अब भगवान् बोलते नहीं, हंसते नहीं, खेलते नहीं हैं. किन्तु यह आशा उससे की जा सकती है जो जीवित हो, किसीके प्यारमें बंधा हो. फिर उस खूबसूरत बच्चेकी नुमाईश और प्रदर्शन करने लगा, जैसे बेबी मिल्कके डिब्बेका चित्र या मोडेलका चित्र होता है.

ट्रस्टीओं द्वारा की जाती सेवा पूतनाके प्रेमके समान है: रोज यह सोचा जाने लगा कि इससे क्या आमद हुई, कितनी ब्रिक्री हुई. और सभी व्यवस्थापक इसकी निगरानी करने लगे. जब कोई आता देखने तो उसे दुलास किया जाता. लोग समझते हैं कि यह प्यार है, भक्ति है. मगर था तो यह व्यवसाय ही, जिसका रूप पूतनाके प्रेमकी भांति सच्चाईको छिपा गया और भोली यशोदाने लाल उसे खिलाने दे दिया.

मन्दिर–हवेलियां दुकान बन चुके हैं: कितनी बिक्री हुई इसका हिसाब रखा जाने लगा. कितना खाया और कितना कमाया इसकी नांप–तोल होने लगी. बिकने लगा धर्म और धर्मस्वरूप वह बालक भगवान् जो प्यारसे भक्तोंकेलिये भोला बन गया था. लोगोंने उससे फायदा उठाया और कह दिया यह सार्वजनिक ईश्वर है. उस सर्वशक्तिमान्को स्वार्थका साधन और जगन्नियन्तापर धननियन्ता शासन करने लगे. हालत यह हुई कि कौन उसको खिलाये–पिलाये? वह तो सार्वजनिक था!

मन्दिर–हवेलियोंके ठाकुरजी जड बन चुके हैं: द्वारकाधीशको भी यह छूट थी कि वह विदुरके घर साग खा सकता था किन्तु यह तो नितान्त निष्क्रिय बन गया, केवल दिखावा मात्र!

...क्या यह सिद्धान्त किसी प्रियतमकेलिये प्रियतमा या माता को मान्य होगा? किन्तु यह आज मान्य है और मान्य करना होगा. केवल पैसेकेलिये अपना दिल नहीं, दुनियाका दिल बहेलानेको, वारांगनाकी भांति, जिसमें हृदय नामकी कोई वस्तु रह नहीं सकती और है तो वह मानी नहीं जाती. सभीका अधिकार है उसपर, जैसे वह सम्पत्ति हो, जो चाहें खरीदें, जो चाहें प्रयोगमें लायें, जैसा चाहें वैसा करें! उसको करना ही होगा. कैसी अनोखी है यह भक्ति और प्रेम की परिभाषा! फिर भी स्वतन्त्रताका घोष किया जाता है! क्या यह ही वह भक्ति है जिसे श्रीवल्लभ ‘‘माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ सर्वतोऽधिक स्नेह’’ कहते हैं? आज इस भक्तिका माहात्म्य ये ही है कि किस भगवान्के यहां कितनी आमद होती है!

ट्रस्ट मन्दिर पुष्टिप्रभुके लिये जेलखाना: ...अब कोई प्यारसे यह नहीं कह सकता कि मेरा बालक देरसे सोया है, जल्दी मत जगाना. सूरदासका पद भगवान्को जगानेकेलिये दुलार नहीं रहा, न कलेउके पदमें ममताका अनुनय है; यह तो कम्पल्सरी ब्रेकफास्ट है जिसे समय पर कैदीकी तरह ईश्वरको करना पडता है. मानो एक जेलखानेमें उठने या खाने की घंटी बजी हो!

ठाकुरजी बिक रहे हैं; मनोरथी–दर्शनार्थी भक्त नहीं ग्राहक हैं: ...श्रीवल्लभाचार्यने जीवनमें अपने कलेजेके टुकडे अपने आराध्यको कभी दूर नहीं होने दिया. आज वो बिक रहा है धनिकोंके हाथों और जकड़ा है सरकारी शिकंजेमें, पब्लिक् पॉलिसीके अंदर. और अब उसे म्युझियमकी शोभा बनानेका समय निकट आ रहा है.

धर्म और भगवान् की दशा किसी कोल्गलर्से भी बदतर है: बेचारे धर्म और भगवान् की दशा किसी कोल्गलर्से भी बदतर है. ...भगवान्की सुंदर विनिन्दितमुक्ता–दंतपंक्ति बगला भगतोंको देखकर खिल जाती है. सदानन्द निरानन्द होकर इन ईमान खरीदनेवालोंके हाथों खुल्लेआम बेचा जा रहा है. ...सबको सहारा देनेवाला स्वयं बेसहारा होकर बैठा है अपने धनिक ग्राहकोंकी प्रतीक्षामें!

हवेली–मन्दिरमें देवद्रव्यका प्रसाद खाना मतलब नरककी टिकिट कटवाना: धर्मशास्त्रमें जिस बुद्धिमान् ब्राह्मणको देवलकवृत्तिसे अधम माना गया है ... आज उस देवलकवृत्तिका धन चटकारे ले लेकर वैष्णवसमाज खा रहा है. नाथद्वारेमें क्या चीज स्वादिष्ट है...ये ही विवेचन करता है...किन्तु मेरा कर्तव्य क्या है यह कभी नहीं सोचता.

श्रीनाथजीमें धनिकोंका साम्राज्य है: ...नाथद्वारामें आजकल पैसा अधिक आ रहा है, क्योंकि वहां इन धनिकोंका साम्राज्य है. इनके दलाल श्रीनाथजीकी महिमा बढाते हैं. ...गरीबोंकेलिये ठहरनेवाला भगवान् अब धनिकोंकेलिये ठहरता है.

श्रीवल्लभके आदर्शोंके स्मशाजैसें मन्दिर–हवेलियां: भगवन्नाम भागवतसे अस्पतालोंकेलिये करोडोंकी रकम जमा होती है, और जामनगरमें आदर्श स्मशान भी है, किन्तु यहां तो स्मशानसे भी आदर्श गायब होता जा रहा है! शायद आदर्शका स्मशान है यह ट्रस्ट और सरकारी देवालय.

मन्दिरका प्रसाद खाया नहीं जा सकता है: ...वल्लभमतमें यह

सिद्धान्ततः गलत है और ऐसे देवस्थानोंका चढावेका प्रसाद भी नहीं खाया जा सकता. क्योंकि वहां देवलकवृत्ति ही प्रधान है.

दर्शन–मन्दिर धर्मप्रचारका माध्यम नहीं हो सकते: जहां तक भगवत्स्वरूप या मूर्तिका प्रश्न है, धर्मप्रचार उनसे सम्बन्धित नहीं है. और न इसे उचित कहा जा सकता है. क्योंकि भगवानने धर्मकी व्यवस्थाकेलिये वेदव्यासादि अनेक ज्ञानावतार और अंशावतार धारण करके ही धर्मरक्षा की है. आजकी (सार्वजनिक हवेली–मन्दिरकी) व्यवस्था आचार्योचित और धार्मिक या भारतीय ही नहीं है तब वल्लभाचार्य सम्मत होनेका तो प्रश्न ही नहीं उठता. ...हमारा इस विषयमें सुझाव है कि एक अलग व्यवस्था...करनी चाहिये जिससे वल्लभसिद्धान्तोंकी रक्षा हो सके. यदि ऐसी व्यवस्था नहीं की जाती तो देवद्रव्य होता है, जिसका सेवन करनेसे आचार्य स्पष्ट कहते हैं कि नरकपात होगा.

नकली बैठकें: बैठकोंकी भावगंगा तो अब घरबैठे ही मनुष्यको पवित्र करने अपनी उत्ताल तरंगोंसे सारे खर–बारको ही सराबोर करने लगी है! ...८४ बैठकोंसे काम नहीं चला तो अब महाप्रभु श्रीवल्लभको मुसलमानोंके खेतोंमें अपनी झारी और अन्य चिह्न प्रकट करनेको विवश होना पड़ रहा है!

(“हमारी धार्मिक स्थितिका वर्तमान स्वरूप एवं भविष्यकी व्यवस्थाहेतु प्रतिवेदन” दिनांक:२५।२।८१)

(ख) श्रीवल्लभाचार्यने सेवाको खरीदनेकी बात नहीं कही है कि खरीद आओ रुपये देकर. नहीं. ‘तनुवित्तजा’ पदका अर्थ ही यह है कि वह समस्त पद है. जहां तन लगे वहीं धन लगे तब ही सेवा हुई. परन्तु धन लगे और तन न लगे तो सेवा हुई नहीं कहलाती है. **(प्रथमेश वाक्सुधा–१, पृष्ठ ५९)**

(ग) ...“सेवाऽपि कायिकी कार्या” यह नहीं कि पैसे दे दिये. पैसे देकर घरमें विवाहिता पत्नीको नहीं लाया जाता है, वेश्याको लाया जाता है. वेश्यासे घर नहीं बसता है यह स्पष्ट बात है. अतः साफ बात है कि भगवत्सेवा

और वरण में पति-पत्नीका दृष्टान्त देते हैं कि जिनमें आत्मीय सम्बन्ध है. **(प्रथमेश वाक्सुधा-१, पृष्ठ ७४)**

(घ) भेंट भी आचार्यके सन्मुख ही होती है. प्रभुके सन्मुख भेंट नहीं होती है. देवलकवृत्तिसे बचनेकी विधि और वैदिक व्यवस्था को संम्हालकर रखना चाहिये अन्यथा बुद्धि बिगड़ेगी. ऐसा करनेसे पतन होता है, और हुवा है. **(वहीं पृष्ठ १७१)**

वस्त्र-अलंकारोंमें मन अधिक जाता हो तो ऐसा साहित्य रखनेकी आवश्यकता नहीं है. ऐसा करनेसे लौकिक बढ़ता है और धर्मभावना नष्ट होती है. ...अतः वैभव बढ़ानेकी श्रीगुसांईजीने ना कही थी. और श्रीमहाप्रभुजीने नावको डुबोकर पुरुषोत्तमको ही घरमें पधराया था. **(वहीं पृ. १८०)**

(ङ)धर्मकी परम्परा प्रदर्शनपर आधारित नहीं है पर एक यथार्थ जीवनका उज्वल पक्ष है... कुनवारा और अन्य मनोरथों ...का रूप आगे चलकर महाप्रभु श्रीवल्लभकी आचार-परम्परा और सम्प्रदायकी मर्यादा को आहत करनेवाला होगा जिसकी आज कल्पना भी की नहीं जा सकती है. **(वहीं पृ. १९७)**

नि.ली.गो.श्रीबालकृष्णलालजी महोदय (सुरत)

(क) प्रश्नः'देवद्रव्य' कायकुं कहे हैं? 'देवद्रव्य'को मतलब, देवको द्रव्य. ऐसो द्रव्य या पदार्थ जो देवकुं ही उद्देश्य बनाके अर्पण कियो गयो होवे वाकुं 'देवद्रव्य' कहे हैं. याही प्रकार गुरुकुं उद्देश्य बनाके अर्पण किये गये द्रव्यकुं 'गुरुद्रव्य' कह्यो जाय है. ... मन्दिरन्में ठाकुरजीके सन्मुखमें भेंट धरे जाते द्रव्यकुं और ट्रस्टकी ऑफिसमें आते

द्रव्यकुं तो स्पष्ट शब्दन्में 'देवद्रव्य' कह्यो जा सके है; और वा द्रव्यसूं सिद्ध होती सामग्रीमें भगवत्प्रसादी होवेके बाद महाप्रसादपनो तो आवे है परन्तु वाके साथ वामें देवद्रव्यपनो भी रहे ही है. याही कारण वैष्णवन्कुं ऐसे महाप्रसादकुं देवद्रव्य समझके ही व्यवहार करनो चहिये. ऐसे महाप्रसादकुं लेवेमें देवद्रव्यको बाध तो रहे ही है.

(ख) मन्दिरके स्थलके फेरबदलके बारेमें श्री गो.पू.१०८ श्रीबालकृष्णलालजीने कह्यो कि पुष्टिमार्गमें सार्वजनिक मन्दिरकी परम्परा नहीं है. यामें व्यक्तिगत स्वरूप-निजी स्वरूप की ही बात है; और याही कारण पुष्टिमार्गमें सेवाप्रकार देवालयके प्रकार जैसो नहीं है. मन्दिरको निर्माण भी घर जैसो होवे है. कहीं भी ध्वजा-शिखर नहीं होवे है. वैष्णव भी घरमें ही सेवा करे है तथा वाकुं 'मन्दिर' ही कहे है...

(क-'वैष्णववाणी' अंक३,वर्ष मार्च १९८३. (ख) 'गुजरात समाचार' अंक २५-५-९३में प्रकाशित)

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको लीना पटेल, माणावदर के सादर प्रणाम)

...जहां तक सिद्धान्तके निश्चित स्वरूप या व्याख्या का प्रश्न है, हम सभी धर्माचार्य, हमारे सम्प्रदायके प्रवर्तक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य तथा परवर्ती अन्य भी मान्य सभी व्याख्याकारोंके सन्देहरहित विधानोंके आधारपर, यह स्पष्टतम शब्दोमें घोषित करते हैं कि हमारे धार्मिक सिद्धान्त एवं परम्पराओं के अनुसार भगवत्सेवा, सेवास्थल, सेवोपयोगिसम्पत्ति, सेवाकर्ता (उपदेशक या अनुयायी) एवं सेव्य भगवत्स्वरूप का निजी अथवा पारिवारिक होना एक अनुल्लंघ्य धार्मिक अनिवार्यता है. अत: इनमेंसे किसीको भी सार्वजनिक बनाना सर्वथा धर्मविरुद्ध होनेसे एक घोर धार्मिक अपराध है.

...वाल्लभ सम्प्रदायके सिद्धान्तके अनुसार निजघरमें निजधनको तथा

निज परिवारजनोंको भगवत्स्वरूपकी सेवामें उपयोगमें लाना ही आराधनाका वास्तविक स्वरूप है. ...अत: निजघरमें निजधनके विनियोग द्वारा तथा निजपरिवारके जनोंके सहयोग बिना की जाती आराधना, वाल्लभ सम्प्रदायकी आराधनाकी परिभाषाके अनुसार, आराधना ही नहीं है. ऐसी स्थितिमें हमारे घरोंमें आती जनताद्वारा हमारे सेव्य भगवत्स्वरूपके दर्शन करना या भेंट चढाना आदि आचरण आराधनाके अन्तर्गत मान्य क्रियाकलाप नहीं है.

...यदि निज घरमें न किया जाता हो तो ऐसे भगवद्भजनको पुष्टिमार्गीय परिभाषामें भगवद्भजन ही नही कहा जा सकता है. पुष्टिमागर्गमें निजघरमें रहकर भगवद्भजन करनेके प्रकारके अलावा अन्य कोइ प्रकार भगवद्भजनका है ही नहीं.

...भेंट धरे हुए धनसे भोग धरी हुई सामग्रीका प्रसादत्वेन ग्रहण हमारे यहां सर्वथा वर्जित है. ...सार्वजनिक मंदिरमें दर्शनार्थी जनताके प्रतिनिधिके रूपमें सेवा करनेकी प्रक्रियाको न तो वाल्लभ सम्प्रदायमें अवकाश है और न वैसा आाचरण सिद्धांतत: प्रशंसनीय ही है. भगवत्सेवाका अनुष्ठान न तो नौकरी और न धंधा के रूपमें किया जा सकता है.

...श्रीमहाप्रभु सभी पुष्टिमार्गीयोंको सैद्धान्तिक निष्ठा स्वधर्मानुसरणका सामर्थ्य तथा पारस्परिक सौमनस्य प्रदान करें. .... सभी पुष्टिमार्गीयके निजघरमें बिराजमान सेव्यस्वरूप सर्वदा निजी ही रहें, कभी सार्वजनिक न बन जायें. ‘‘बुद्धिप्रेरक कृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु’’.

(नि.ली.गो.श्रीबालकृष्णलालजी महोदय की पत्र द्वारा सम्मतिसे सुप्रिमकोर्टमें प्रस्तुत करनेककेलिये तैयार किया गया ‘‘श्रीमद्वल्लभाचार्य वंशज गोस्वामीओंका संयुक्त घोषणापत्र’’१९८६)

नि.ली.गो.श्रीकृष्णकुमार श्रीरमणलालजी

(कांदीवली–कामवन)

...जहां तक सिद्धान्तके निश्चित स्वरूप या व्याख्या का प्रश्न है, हम सभी धर्माचार्य, हमारे सम्प्रदायके प्रवर्तक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य तथा परवर्ती अन्य भी मान्य सभी व्याख्याकारोंके सन्देहरहित विधानोंके आधारपर, यह स्पष्टतम शबदोमें घोषित करते हैं कि हमारे धार्मिक सिद्धान्त एवं परम्पराओंके अनुसार भगवत्सेवा, सेवास्थल, सेवोपयोगिसम्पत्ति, सेवास्थल, सेवोपयोगिसम्पत्ति, सेवाकर्ता (उपदेशक या अनुयायी) एवं सेव्य भगवत्स्वरूप का निजी अथवा पारिवारिक होना एक अनुल्लंघ्य धार्मिक अनिवार्यता है. अत: इनमेंसे किसीको भी सार्वजनिक बनाना सर्वथा धर्मविरुद्ध होनेसे एक घोर धार्मिक अपराध है.

...वाल्लभ सम्प्रदायके सिद्धान्तके अनुसार निजघरमें निजधनको तथा निज परिवारजनोंको भगवत्स्वरूपकी सेवामें उपयोगमें लाना ही आराधनाका वास्तविक स्वरूप है. ...अत: निजघरमें निजधनके विनियोग द्वारा तथा निजपरिवारके जनोंके सहयोग बिना की जाती आराधना, वाल्लभ सम्प्रदायकी आराधनाकी परिभाषाके अनुसार, आराधना ही नहीं है. ऐसी स्थितिमें हमारे घरोंमें आती जनताद्वारा हमारे सेव्य भगवत्स्वरूपके दर्शन करना या भेंट चढाना आदि आचरण आराधनाके अन्तर्गत मान्य क्रियाकलाप नहीं है.

...यदि निज घरमें न किया जाता हो तो ऐसे भगवद्भजनको पुष्टिमार्गीय परिभाषामें भगवद्भजन ही नही कहा जा सकता है. पुष्टिमागर्गमें निजघरमें रहकर भगवद्भजन करनेके प्रकारके अलावा अन्य कोइ प्रकार

भगवद्भजनका है ही नहीं.

...भेंट धरे हुए धनसे भोग धरी हुई सामग्रीका प्रसादत्वेन ग्रहण हमारे यहां सर्वथा वर्जित है. ...सार्वजनिक मंदिरमें दर्शनार्थी जनताके प्रतिनिधिके रूपमें सेवा करनेकी प्रक्रियाको न तो वाल्लभ सम्प्रदायमें अवकाश है और न वैसा आाचरण सिद्धांतत: प्रशंसनीय ही है. भगवत्सेवाका अनुष्ठान न तो नौकरी और न धंधा के रूपमें किया जा सकता है.

...श्रीमहाप्रभु सभी पुष्टिमार्गीयोंको सैद्धान्तिक निष्ठा स्वधर्मानुसरणका सामर्थ्य तथा पारस्परिक सौमनस्य प्रदान करें. .... सभी पुष्टिमार्गीयके निजघरमें बिराजमान सेव्यस्वरूप सर्वदा निजी ही रहें, कभी सार्वजनिक न बन जायें. ‘‘बुद्धिप्रेरक कृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु’’.

(गो.श्रीकृष्णकुमारजी की हस्ताक्षरित सममतिसे सुप्रिमकोर्टमें प्रस्तुत करनेककेलिये तैयार किया गया ‘‘श्रीमद्वल्लभाचार्य वंशज गोस्वामीओंका संयुक्त घोषणापत्र’’१९८६).

कोई पुरुष कृष्णसेवामें तत्पर हे कि नहीं, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित है कि नहीं; ओर श्रीमद्भागवत पुराणके मर्मका विज्ञ है कि नहीं यह सर्वप्रथम देखना चाहिये और तभी किसी जिज्ञासुको ऐसे व्यक्तिमें गुरुबुद्धि रखकर उसके पास जाना चाहिये.

...ऐसे गुणोंसे युक्त गुरु बलवान् कलियुगके कारण न मिले तो... स्वयं ही भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना चाहिये. पात्रापात्रका विवेक रखे बिना यदि नामदीक्षा प्रदान की जाती है तो भगवन्नामविक्रयका दोष लगता ही है जिसके कारण दीक्षादाता अपराधी बनता है.

...एक प्रकार सेवाका यह भी हो सकता है कि वह वित्त देकर किसी अन्य पुरुष द्वारा करा ली जाये; और दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि वह कृष्णसेवा किसी दूसरेसे वित्त लेकर की जाये. ऐसे दोनों प्रकारोंसे की जाती सेवाओंसे चित्त कभी कृष्णप्रवण हो नहीं सकता. ...वह...यदि किसी अन्य

तनुजासेवाकर्ता (गोस्वामी-मुखिया-ट्रस्टी)को वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें वित्त देकर करायी जाती है तब वह वित्तजा सेवा हुई जो चित्तको राजसभाव=दर्प-दम्भादिसे युक्त बना देती है, पर कृष्णप्रवण नहीं बना पाती. यदि किसी अन्यसे वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें वित्त ग्रहण करके तनुजासेवा की जाती है तब पुरोहितोंको जैसे यज्ञयागका फल नहीं मिलता है वैसे ही दूसरेके वित्तसे तनुजा सेवा करनेवालेको भी कृष्णप्रवणतारूप फल कभी नहीं मिलता.

...जो अपने स्वजन हों और भक्त हों ऐसोंको ही श्रीठाकुरजीके दर्शन कराना चाहिये.

११वां अपराध : अवैष्णवके समक्ष अपने घरमें बिराजते श्रीठाकुरजीका प्रदर्शन करना. फल : एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त : श्रीठाकुरजीको पञ्चामृत स्नान कराना.

...३६वां अपराध : श्रीठाकुरजी (या श्रीभागवतजी या श्रीयमुनाजी) के नामसे (भेट, सामग्री, पोथीसेवा, या न्योछावर) मांगना. फल : सेवा सर्वथा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त : जितना मांगा या बटोरा हो उससे पांचगुना नैवेद्यका प्रभुको दान (न कि समर्पण) करना.

...आजीविका कमाने या यश पाने के लिये भी भजन (सेवा) करता हो तो उसकी क्या गति होगी? ..वह व्यक्ति भी कलेश ही पाता है ऐसा श्रीमहाप्रभुके वचनका साफ-साफ अर्थ है. न केवल उसे ऐहिक (पारिवारिक-सामाजिक-साम्प्रदायिक) क्लेश ही होता है प्रत्युत उसके सारे पारलौकिक अधिकार एवं फल भी नष्ट हो जाते हैं ऐसे निषिद्ध आचरणके कारण...अत्यल्प भी ज्ञान हो वह तो ऐसा कुकृत्य नहीं कर सकता है.

...भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें घरमें सेवा करनेका विधान किया गया होनेसे यह सूचित होता है कि अपने घरमें बिराजते प्रभुकी सेवाको छोड़कर अन्य कहीं दर्शन-सेवा-कीर्तनादि करनेसे भक्ति सिद्ध नहीं होती है.

...भागवतका पाठ प्रयत्नपूर्वक किसी भी अनय हेतुके बिना ही करना चाहिये. प्राण चाहे कंठमें क्यों न अटक जाये परन्तु आजीविकार्थ उसका उपयोग नहीं करना चाहिये.. भागवतका आजीविकार्थ उपयोग न करके और जैसे भी अपना निर्वाह चले चला लेना चाहिये.

....मुख आदिके प्रक्षालनमें प्रयुक्त अपवित्र जलको एकत्रित करनेकेलिये भूमिमें जो गढ्ढे खोदे जाते हैं उनके जैसे निम्न गानोपजीवी होते हैं... इससे यह आशय स्पष्ट प्रकट हुआ कि प्रक्षालनोच्छिष्ट गर्तपूरित जलकी तरह इन गानोपजीविओंका भाव सत्पुरुषोंके लिये ग्राह्य नहीं होता...पुराणकथासे आजीविका चलानेवाले पौराणिक भी ऐसे गायकोंके तुल्य होते हैं...

हे श्रीवल्लभ! आपके कहे हुवे वचनसे विपरीत जो कोई कुछ कहते हैं वे सभी भ्रान्त केवल अन्धन्तम नरकको पाने वाले सहज आसुरी जीव हैं.

(गो.श्रीकृष्णकुमारजी हस्ताक्षति सम्मतिसे पुष्टिसिद्धानतचर्चासभामें विचारार्थ प्रस्तुत की गई सिद्धान्तवचनावलीके अंश)

पंचमगृहाधीश नि.ली.गो.श्रीगिरिधरलालजी महाराज

(कामवन–विद्यानगर)

पुष्टिमार्गकी आज उपेक्षा होती जा रही है. उसकी परम्परा ही अब टूटती जा रही है. इसके मूलमें यदि कुछ है तो वह है आजकी साधन–सम्पत्ति. वही हमारे संस्कार बिगाड़ रही है. अभी भी जिस घरमें अलौकिक (प्रभु)सेवा होगी वहां पुष्टिमार्ग जरूर निभेगा. (जुलाई,२००७पृ.६) श्रीमदाचार्यचरणके मतानुसार गृहसेवा और अपने माथे बिराजते ठाकुरजीका अति स्नेहसे जतन करना ही

सच्चे संस्कारका मूल है. ...श्रीगुसांईजीके समयमें छप्पनभोग जैसे मनोरथोंकी शुरुआत करनेके समय(उनमें) केवल लौकिकता ही बढ़ेगी ऐसी स्पष्ट सूचना दी गयी थी. ...आजकल...मंदिरोंका उपयोग यश-कीर्ति प्राप्त करनेकेलिये होने लगा है. मंदिरोंमें प्राधान्य मनोरथीका होने लगा है. श्री(ठाकुरजी), गुरु तथा सेवाभावना का उपहास होने लगाहै. जबसे मार्गीय सिद्धान्तोंका उपहास होने लगा है तबसे मंदिरकी उसके संचालकोंकी वृत्ति ही पलट गई है. आडंबर और यश को पुष्ट करनेकेलिये ...दर-दर भटकनेकी स्थिति पैदा हो गयी है. ...इन सबका सच्चा उपाय इस कलिकालमें अपने सन्तानोंको जरूरी संस्कार अपने घरसेही दिये जायें येहीहै.

...मंदिरोंका सम्पूर्ण व्यापारीकरण होने लगा है. ...सम्पत्ति...प्राप्त करनेकी लालच बढ़नेसे प्रभु(स्वरूप-सेवा)को भी हम व्यापार स्वरूपमें परिवर्तित करने लगे हैं.(जुलाई-२००७ पृ.६)

ठाकुरजीकी सेवा चोरकी तरह करनी चाहिये. ...सेव्यस्वरूपका मैं सेवक हूं उसका ढिंढोरा पीटना या उसका प्रदर्शन करना वह भी जीवके दैन्यमें विक्षेप उत्पन्न कर सकता है. ...अपने घरमें बिराजते ठाकुरजीकी सेवामें भी इतनी गुप्तता जरूरी है. ''प्रीत हियेमें राखीये प्रकट किये रस जाय''की रीतिसे तुम्हारे प्राणप्रेष्ठ तुमको जिस रसकी प्राप्ति कराते हैं उसे कभी भी प्रकट नहीं किया जा सकता है.(सप्टेम्बर २००४ पृ.७)

आज तो श्रीनाथजी-नाथद्वारा, चंदबावा-कामवन और अन्य ठाकुरजीके दर्शन करते ही अपने माथे बिराजते ठाकुरजी भुला जाते हैं. पुष्टिमार्गमें तो 'श्रीजी'का अर्थ ही अपने माथे बिराजते ठाकुरजी होता है. लक्ष्मण बालाजीमें भी 'तिरुपति' शब्दका प्रयोग होता है जिसमें 'तिरु'का अर्थ श्री और 'पति'का अर्थ नाथ (यानि श्रीनाथ) ही होता है. अर्थात् अपने घरमें बिराजते ठाकुरजीमें ही अपने सर्वस्वका दर्शन होना चहिये. उनको अरोगाया मतलब समस्त जगतको प्रसाद लिवा दिया ऐसा भाव सिद्ध होना चाहिये. यहां तो उससे उलटी गंगा बह रही है. अपने सेव्य ठाकुरजीमें सभी निधिस्वरूपोंके

दर्शन होनेके बदले अब तो सबमें अरे, वहां तक कि जीवामात्रमें अपन अपने ठाकुरजीका दर्शन करनेका विचार कर रहे हैं! और फिर बुद्धिकी चतुराई भी वापर रहे हैं कि सभीमें ठाकुरजीका अंश है इसलिये घरमें प्रभुकी सेवा करें या अन्योंकी सेवा करें एक ही बात है!! अतः अन्यसेवामेंसे सन्तोष लेना शुरु किया. इससे शरीर, पैसा, कीर्ति सबकी रक्षा हो और ऊपरसे परम भगवदीय कहलाने लगें!!!

(सप्टेम्बर, २००७ पृ.७) (वैष्णवता-'सांचे बोल तिहारे', प्रकाशक:पं.पी.गो.श्रीवल्लभलालजी महाराज)

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको पीयूष शाह, अमदावाद के सादर प्रणाम)

...जहां तक सिद्धान्तके निश्चित स्वरूप या व्याख्या का प्रश्न है, हम सभी धर्माचार्य, हमारे सम्प्रदायके प्रवर्तक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य तथा परवर्ती अनय भी मान्य सभी व्याख्याकारोंके सन्देहरहित विधानोंके आधारपर, यह स्पष्टतम शब्दोमें घोषित करते हैं कि हमारे धार्मिक सिद्धान्त एवं परम्पराओंके अनुसार भगवत्सेवा, सेवास्थल, सेवोपयोगिसम्पत्ति, सेवास्थल, सेवोपयोगिसम्पत्ति, सेवाकर्ता (उपदेशक या अनुयायी) एवं सेव्य भगवत्स्वरूप का निजी अथवा पारिवारिक होना एक अनुल्लंघ्य धार्मिक अनिवार्यता है. अत: इनमेंसे किसीको भी सार्वजनिक बनाना सर्वथा धर्मविरुद्ध होनेसे एक घोर धार्मिक अपराध है.

...वाल्लभ सम्प्रदायके सिद्धान्तके अनुसार निजघरमें निजधनको तथा निज परिवारजनोंको भगवत्स्वरूपकी सेवामें उपयोगमें लाना ही आराधनाका वास्तविक स्वरूप है. ...अत: निजघरमें निजधनके विनियोग द्वारा तथा निजपरिवारके जनोंके सहयोग बिना की जाती आराधना, वाल्लभ सम्प्रदायकी आराधनाकी परिभाषाके अनुसार, आराधना ही नहीं है. ऐसी स्थितिमें हमारे घरोंमें आती जनताद्वारा हमारे सेव्य भगवत्स्वरूपके दर्शन करना या भेंट चढाना

आदि आचरण आराधनाके अन्तर्गत मान्य क्रियाकलाप नहीं है.

...यदि निज घरमें न किया जाता हो तो ऐसे भगवद्भजनको पुष्टिमार्गीय परिभाषामें भगवद्भजन ही नही कहा जा सकता है. पुष्टिमागर्गमें निजघरमें रहकर भगवद्भजन करनेके प्रकारके अलावा अन्य कोइ प्रकार भगवद्भजनका है ही नहीं.

...भेंट धरे हुए धनसे भोग धरी हुई सामग्रीका प्रसादत्वेन ग्रहण हमारे यहां सर्वथा वर्जित है. ...सार्वजनिक मंदिरमें दर्शनार्थी जनताके प्रतिनिधिके रूपमें सेवा करनेकी प्रक्रियाको न तो वाल्लभ सम्प्रदायमें अवकाश है और न वैसा आाचरण सिद्धांतत: प्रशंसनीय ही है. भगवत्सेवाका अनुष्ठान न तो नौकरी और न धंधा के रूपमें किया जा सकता है.

...श्रीमहाप्रभु सभी पुष्टिमार्गीयोंको सैद्धान्तिक निष्ठा स्वधर्मानुसरणका सामर्थ्य तथा पारस्परिक सौमनस्य प्रदान करें. .... सभी पुष्टिमार्गीयके निजघरमें बिराजमान सेव्यस्वरूप सर्वदा निजी ही रहें, कभी सार्वजनिक न बन जायें. ‘‘बुद्धिप्रेरक कृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु’’.

(नि.ली.गो.श्रीगिरिधरलालजी पत्रद्वारा सम्मतिसे सुप्रिमकोर्टमें प्रस्तुत करनेककेलिये तैयार किया गया ‘‘श्रीमद्वल्लभाचार्य वंशज गोस्वामीओंका संयुक्त घोषणापत्र’’१९८६).

कोई पुरुष कृष्णसेवामें तत्पर हे कि नहीं, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित है कि नहीं; ओर श्रीमद्भागवत पुराणके मर्मका विज्ञ है कि नहीं यह सर्वप्रथम देखना चाहिये और तभी किसी जिज्ञासुको ऐसे व्यक्तिमें गुरुबुद्धि रखकर उसके पास जाना चाहिये.

...ऐसे गुणोंसे युक्त गुरु बलवान् कलियुगके कारण न मिले तो... स्वयं ही भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना चाहिये. पात्रापात्रका विवेक रखे बिना यदि नामदीक्षा प्रदान की जाती है तो भगवन्नामविक्रयका दोष लगता ही है जिसके कारण दीक्षादाता अपराधी बनता है.

...एक प्रकार सेवाका यह भी हो सकता है कि वह वित्त देकर किसी अन्य पुरुष द्वारा करा ली जाये; और दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि वह कृष्णसेवा किसी दूसरेसे वित्त लेकर की जाये. ऐसे दोनों प्रकारोंसे की जाती सेवाओंसे चित्त कभी कृष्णप्रवण हो नहीं सकता. ...वह...यदि किसी अन्य तनुजासेवाकर्ता (गोस्वामी-मुखिया-ट्रस्टी)को वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें वित्त देकर करायी जाती है तब वह वित्तजा सेवा हुई जो चित्तको राजसभाव=दर्प-दम्भादिसे युक्त बना देती है, पर कृष्णप्रवण नहीं बना पाती. यदि किसी अन्यसे वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें वित्त ग्रहण करके तनुजासेवा की जाती है तब पुरोहितोंको जैसे यज्ञयागका फल नहीं मिलता है वैसे ही दूसरेके वित्तसे तनुजा सेवा करनेवालेको भी कृष्णप्रवणतारूप फल कभी नहीं मिलता.

...जो अपने स्वजन हों और भक्त हों ऐसोंको ही श्रीठाकुरजीके दर्शन कराना चाहिये.

११वां अपराध : अवैष्णवके समक्ष अपने घरमें बिराजते श्रीठाकुरजीका प्रदर्शन करना. फल : एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त : श्रीठाकुरजीको पञ्चामृत स्नान कराना.

...३६वां अपराध : श्रीठाकुरजी (या श्रीभागवतजी या श्रीयमुनाजी) के नामसे (भेट, सामग्री, पोथीसेवा, या न्योछावर) मांगना. फल : सेवा सर्वथा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त : जितना मांगा या बटोरा हो उससे पांचगुना नैवेद्यका प्रभुको दान (न कि समर्पण) करना.

...आजीविका कमाने या यश पाने के लिये भी भजन (सेवा) करता हो तो उसकी क्या गति होगी? ..वह व्यक्ति भी कलेश ही पाता है ऐसा श्रीमहाप्रभुके वचनका साफ-साफ अर्थ है. न केवल उसे ऐहिक (पारिवारिक-सामाजिक-साम्प्रदायिक) क्लेश ही होता है प्रत्युत उसके सारे पारलौकिक अधिकार एवं फल भी नष्ट हो जाते हैं ऐसे निषिद्ध आचरणके कारण...अत्यल्प भी ज्ञान हो वह तो ऐसा कुकृत्य नहीं कर सकता है.

...भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें घरमें सेवा करनेका विधान किया गया होनेसे यह सूचित होता है कि अपने घरमें बिराजते प्रभुकी सेवाको छोड़कर अन्य कहीं दर्शन–सेवा–कीर्तनादि करनेसे भक्ति सिद्ध नहीं होती है.

...भागवतका पाठ प्रयत्नपूर्वक किसी भी अन्य हेतुके बिना ही करना चाहिये. प्राण चाहे कंठमें क्यों न अटक जाये परन्तु आजीविकार्थ उसका उपयोग नहीं करना चाहिये.. भागवतका आजीविकार्थ उपयोग न करके और जैसे भी अपना निर्वाह चले चला लेना चाहिये.

....मुख आदिके प्रक्षालनमें प्रयुक्त अपवित्र जलको एकत्रित करनेकेलिये भूमिमें जो गढ्ढे खोदे जाते हैं उनके जैसे निम्न गानोपजीवी होते हैं... इससे यह आशय स्पष्ट प्रकट हुआ कि प्रक्षालनोच्छिष्ट गर्तपूरित जलकी तरह इन गानोपजीविओंका भाव सत्पुरुषोंके लिये ग्राह्य नहीं होता...पुराणकथासे आजीविका चलानेवाले पौराणिक भी ऐसे गायकोंके तुल्य होते हैं...

हे श्रीवल्लभ! आपके कहे हुवे वचनसे विपरीत जो कोई कुछ कहते हैं वे सभी भ्रान्त केवल अन्धन्तम नरकको पाने वाले सहज आसुरी जीव हैं.

(नि.ली.गो.श्रीगिरिधरलालजीकी पत्रद्वारा सम्मतिसे पुष्टिसिद्धान्त चर्चासभामें विचारार्थ प्रस्तुत की गई 'सिद्धान्तवचनावली'के अमृत अंश)

नि.ली.गो.श्रीव्रजाधीशजी महाराज (दहिसर–मुबई)

(क) हम श्रीवल्लभाचार्यजीकी आज्ञाको पालन कहां कर रहे हें? अपने यहां गृहसेवा कहां (रह गयी) है? केवल मन्दिरन्में दर्शनसूं क्या लाभ है? श्रीमहाप्रभुजीकी आज्ञा है ''कृष्णसेवा सदा कार्या'' . यदि श्रीमहाप्रभुजी

मन्दिरकुं मुख्य मानते तो अपनी तीन परिक्रमान्में अनेक मन्दिर स्थापित कर देते. श्रीगुसांईजीने श्रीगिरधरजीकुं सातस्वरूपके मनोरथ करते समय या प्रकारकी चेतावनी दी थी. मन्दिरस्थापन करते समय उनकुं डर हतो के घरमेंसूं ठाकुरजी मन्दिरमें पधार जायेंगे. मेरे पिताजीने कल (उपर्युद्धृत वचनमें) जो कह्यो वो अक्षरशः सत्य है. तुम अपने घरन्में ठाकुरजीकुं पधराओ और सेवा करो.

(ख) पुष्टिमार्गीय प्रणालिकाके अनुसार ट्रस्ट होनो उचित नहीं है. श्रीआचार्यचरणने प्रत्येक ब्रह्मसम्बन्धी जीवकुं आज्ञा दी है ‘‘गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः’’ (भक्तिवर्धिनी) अर्थात् गृहमें रहके स्वधर्माचरण करनो चहिये. गोस्वामी बालक भी आचार्य होवेके बावजूद वैष्णव भी हैं. अतः आचार्यश्रीकी उपरोक्त आज्ञाकुं पालनो उनको भी कर्तव्य है. अतः मेरो तो माननो यही है के आचार्यचरणके सिद्धान्तके अनुसार वैष्णवन्कुं स्वयंके घरमें श्रीठाकुरजीकी सेवा करनी चहिये और धर्मग्रन्थन्को पठन-पाठन करनो चहिये. नहीं के मन्दिरन्में जाके. ट्रस्ट तो पुष्टिमार्गीय प्रणालिकासूं संगत होवेवाली बात नहीं है प्रत्युत अपनी प्रणालीको भंग करवेवाली बात है. **(१७/ख-‘वल्लभविज्ञान’अंक ५-६ वर्ष १९६५,१७/ग-‘नवप्रकाश’अंक ८ वर्ष ८)**

***

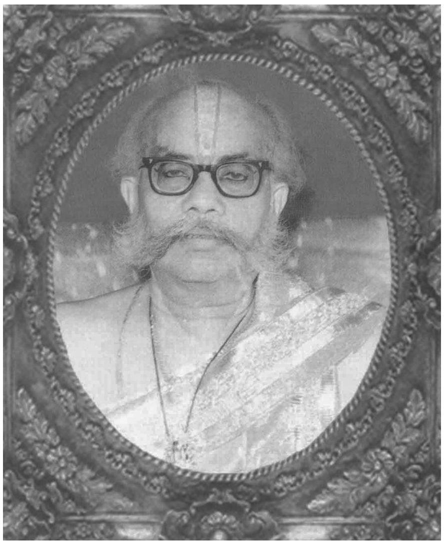

नि.ली.गो.श्रीव्रजरायजी महाराज

(श्रीनटवरगोपालजी) (अमदावाद)

कृष्णसेवामें तत्पर है कि नहीं, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित है कि नहीं; और श्रीमद्भागवत पुराणके मर्मका विज्ञ है कि नहीं यह सर्वप्रथम देखना चाहिये और तभी किसी जिज्ञासुको ऐसे व्यक्तिमें गुरुबुद्धि रखकर उसके पास जाना

चाहिये.

...ऐसे गुणोंसे युक्त गुरु बलवान् कलियुगके कारण न मिले तो ... स्वयं ही भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना चाहिये. पात्रापात्रका विवेक रखे बिना यदि नामदीक्षा प्रदान की जाती है तो भगवन्नामविक्रयका दोष लगता ही है जिसके कारण दीक्षादाता अपराधी बनता है.

...एक प्रकार सेवाका यह भी हो सकता है कि वह वित्त देकर किसी अन्य पुरुषद्वारा करा ली जाये; और दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि वह कृष्णसेवा किसी दूसरेसे वित्त लेकर की जाये. ऐसे दोनों प्रकारोंसे की जाती सेवाओंसे चित्त कभी कृष्णप्रवण हो नहीं सकता. ...वह...यदि किसी अन्य तनुजासेवाकर्ता(गोस्वामी-मुखिया-ट्रस्टी)को वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें वित्त देकर करायी जाती है तब वह वित्तजा सेवा हुई जो चित्तको राजसभाव=दर्प-दम्भादिसे युक्त बना देती है, पर कृष्णप्रवण नहीं बना पाती. यदि किसी अन्यसे वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें वित्त ग्रहण करके तनुजासेवा की जाती है तब पुरोहितोंको जैसे यज्ञ-यागका फल नहीं मिलता है वैसे ही दूसरेके वित्तसे तनुजा सेवा करनेवालेको भी कृष्णप्रवणतारूप फल कभी नहीं मिलता.

...जो अपने स्वजन हों और भक्त हों ऐसोंको ही श्रीठाकुरजीके दर्शन कराने चाहिये.

...११वां अपराध: अवैष्णवके समक्ष अपने घरमें बिराजते श्रीठाकुरजीका प्रदर्शन करना. फल: एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त: श्रीठाकुरजीको पञ्चामृत स्नान कराना.

...३६वां अपराध: श्रीठाकुरजी (या श्रीभागवतजी या श्रीयमुनाजी) के नामसे (भेट, सामग्री, पोथीसेवा, या न्योछावर) मांगना. फल: सेवा सर्वथा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त: जितना मांगा या बटोरा हो उससे पांचगुना नैवेद्यका प्रभुको दान (न कि समर्पण) करना.

...आजीविका कमाने या यश पाने केलिये भी भजन(सेवा) करता हो तो उसकी क्या गति होगी? ...वह व्यक्ति भी क्लेश ही पाता है ऐसा श्रीमहाप्रभुके वचनका साफ-साफ अर्थ है. न केवल उसे ऐहिक (पारिवारिक-सामाजिक-साम्प्रदायिक) क्लेश ही होता है प्रत्युत उसके सारे पारलौकिक अधिकार एवं फल भी नष्ट हो जाते हैं ऐसे निषिद्ध आचरणके कारण...अत्यल्प भी ज्ञान हो वह तो ऐसा कुकृत्य नहीं कर सकता है.

...भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें घरमें सेवा करनेका विधान किया गया होनेसे यह सूचित होता है कि अपने घरमें बिराजते प्रभुकी सेवाको छोड़कर अन्य कहीं दर्शन-सेवा-कीर्तनादि करनेसे भक्ति सिद्ध नहीं होती है.

...भागवतका पाठ प्रयत्नपूर्वक किसी भी अन्य हेतुके बिना ही करना चाहिये. प्राण चाहे कंठमें क्यों न अटक जाये परन्तु आजीविकार्थ उसका उपयोग नहीं करना चाहिये. भागवतका आजीविकार्थ उपयोग न करके ओर जैसे भी अपना निर्वाह चले चला लेना चाहिये.

...मुख आदिके प्रक्षालनमें प्रयुक्त अपवित्र जलको एकत्रित करनेकेलिये भूमिमें जो गढ्ढे खोदे जाते हैं उनके जैसे निम्न गानोपजीवी होते हैं...इससे यह आशय प्रकट हुआ कि प्रक्षालनोच्छिष्ट गर्तपूरित जलकी तरह इन गानोपजीविओंका भाव सत्पुरुषोंकेलिये ग्राह्य नहीं होता...पुराणकथासे आजीविका चलानेवाले पौराणिक भी ऐसे गायकोंके तुल्य होते हैं...

हे श्रीवल्लभ! आपके कहे हुवे वचनसे विपरीत जो कोई कुछ कहते हैं वे सभी भ्रान्त केवल अन्धन्तम नरकको पाने वाले सहज आसुरी जीव हैं.

(गो.श्रीनटवरगोपालजीकी हस्ताक्षरित सम्मतिसे पुष्टिसिद्धान्त चर्चासभामें विचारार्थ प्रस्तुत की गई सिद्धान्तवचनावलीके अंश)

आज फेरि वो समय आयो है. वासों हु कठिन समय आयो है. वा समय तो अन्यमार्गीय लोग मतन्कुं प्रस्तुत करिके भ्रम उत्पन्न करत हते. परि आज तो अपने सम्प्रदायके ही 'सुज्ञजन' श्रीमहाप्रभुजीकी वाणीको विपरीत

अर्थ करि रहे हैं, लोगन्कूं पथभ्रष्ट करि रहे हैं, दैवीजीवन्के साथ घोर अन्याय करि रहे हैं. तासों ही अभी महाप्रभु श्रीवल्लभाधीशके वंशज पुष्टिमार्गीय युवा आचार्यन्ने एक 'संवादस्थापकमण्डल'की स्थापना करीके मुम्बईमें ... चार दिवस पर्यन्त एक पुष्टिसिद्धान्त चर्चासभाको आयोजन कियो हतो. ... सभामें ३५ महानुभाव आचार्य उपस्थित हते. २८ गोस्वामी आचार्य महानुभावन्ने गो.श्रीश्याम मनोहरजी महाराश्री (किशनगढ-पार्ला)के 'सिद्धान्तवचनावली'के भावानुवादकुं सहमति दीनी हती. ... पू.पा.गो.श्रीहरिरायजी व्रजभूषणलालजी महाराजश्री जामनगरवारेनने पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी महाराजश्रीके साथ विनने करे भावानुवादके मुद्दान्पे चर्चा प्रारम्भ कीनी हती. ... समयके अभावके कारण चर्चा निर्णयपे पहुंच न सकी. परन्तु वर्तमान(में) कितनेक चर्चास्पद, संशयास्पद मुद्दान्की स्पष्टता या चर्चामें प्राप्त भयी जो वस्तुत: एक बड़ी सिद्धि है. इतनो ही नहीं परन्तु नीचे बताये मुद्दान्के विश्लेषणमें पूज्य श्रीश्याम मनोहरजीके साथ सहमत होयके पूज्य श्रीहरिरायजीने अपने सम्प्रदायकी उत्तम सेवा कीनी है:

१. पुष्टिमार्गीय सेव्यस्वरूप पूर्णपुरुषोत्तम स्वरूपसों ही बिराजे हैं, वे स्वरूप पाछें चाहे गुरुके सेव्य होवें के शिष्य (वैष्णव)के सेव्य होवें. दोउ(स्वरूपन्)मेंतें कोउमें हु पुरुषोत्तमपनों न्यूनाधिक होत नाहीं.

२. पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त अनुसार कृष्णसेवा करिवेको स्थान गृह ही होइ सकत है, सार्वजनिक (स्थल) नाहीं.

३. पुष्टिमार्गीय भगवत्सेवाकु धनकी प्राप्तिको साधन बनानो नहीं चहिये.

४. देवलक (=भगवत्सेवाकु धनप्राप्तिको साधन अथवा आजीविकाको साधन बनायवेवारे) व्यक्तिकी सेवा निषिद्ध कक्षाकी होयवेसों (वो) सेवा करवे योग्य नाहीं है.

५. श्रीठाकुरजीके तांई काहु प्रकारके दान-भेंट मांगने अथवा स्वीकारने वो शास्त्रद्वारा निषिद्ध है. इतनो ही नाहीं परि लाभ-पूजाके हेतुसों अपने लिये

द्रव्य अथवा काहु वस्तुको स्वीकारनो वो शास्त्रकी दृष्टिमें ऋणानुबन्धी दोषकों उत्पन्न करिवेवारो होयवेसों बन्धनकारी है.

६. पुष्टिमार्गके सिद्धान्तानुसार श्रीठाकुरजीकुं निवेदन करे पदार्थन्को ही समर्पण होइ सकत है अरु समर्पित पदार्थन्को ही भगवद् उच्छिष्टरूपमें प्रसाद लेइ सकत हैं. श्रीठाकुरजीके लिये दान अथवा भेंट के रूपमें आयी भयी सामग्रीकुं प्रसादके रूपमें ली नहीं जा सके है क्योंके श्रीठाकुरजीके लिये दान अथवा भेंट के रूपमें प्राप्त भये पदार्थ (द्रव्य)सों आयी सामग्रीकुं प्रसादके रूपमें पाछी लेवेसों 'दत्तापहार'को पाप लागत है.

७. सेवा तो शास्त्रको विषय है. तासों सेवाके सम्बन्धमें शास्त्रसों श्रीमहाप्रभुजीके ग्रन्थन्सों ही सर्व निर्णय होइ सकत है, अन्य काहु प्रकारसों नाहीं.

(गो.श्रीनटवरगोपालजी एवं गो.श्रीव्रजेन्द्रकुमारजी की हस्ताक्षरित सम्मतिसे प्रकाशित हुवा ''संयुक्तघोषणापत्र:अमदावाद'', मिति फाल्गुन सुदि७, श्रीवल्लभाब्द ५१४, दि.११ मार्च १९९२)

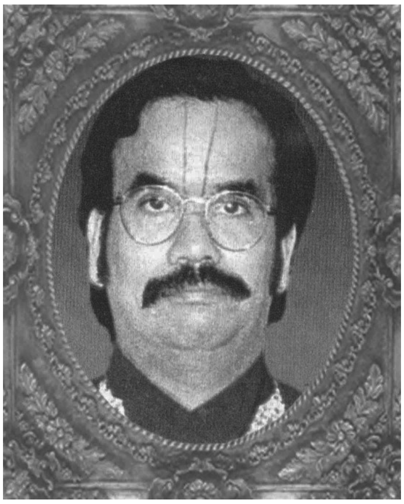

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको चंद्रिका मांडलीया, मोरबी के सादर प्रणाम)

***

नि.ली.गो.श्रीमाधवरायजी महाराज (नासिक-मुंबई)

...जहां तक सिद्धान्तके निश्चित स्वरूप या व्याख्या का प्रश्न है, हम सभी धर्माचार्य, हमारे सम्प्रदायके प्रवर्तक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य तथा परवर्ती अन्य भी मान्य सभी व्याख्याकारोंके सन्देहरहित विधानोंके आधारपर, यह

स्पष्टतम शब्दोमें घोषित करते हैं कि हमारे धार्मिक सिद्धान्त एवं परम्पराओं के अनुसार भगवत्सेवा, सेवास्थल, सेवोपयोगिसम्पत्ति, सेवाकर्ता (उपदेशक या अनुयायी) एवं सेव्य भगवत्स्वरूप का निजी अथवा पारिवारिक होना एक अनुल्लंघ्य धार्मिक अनिवार्यता है. अतः इनमेंसे किसीको भी सार्वजनिक बनाना सर्वथा धर्मविरुद्ध होनेसे एक घोर धार्मिक अपराध है.

...वाल्लभ सम्प्रदायके सिद्धान्तके अनुसार निजघरमें निजधनको तथा निज परिवारजनोंको भगवत्स्वरूपकी सेवामें उपयोगमें लाना ही आराधनाका वास्तविक स्वरूप है. ...अतः निजघरमें निजधनके विनियोग द्वारा तथा निजपरिवारके जनोंके सहयोग बिना की जाती आराधना, वाल्लभ सम्प्रदायकी आराधनाकी परिभाषाके अनुसार, आराधना ही नहीं है. ऐसी स्थितिमें हमारे घरोंमें आती जनताद्वारा हमारे सेव्य भगवत्स्वरूपके दर्शन करना या भेंट चढाना आदि आचरण आराधनाके अन्तर्गत मान्य क्रियाकलाप नहीं है.

...यदि निज घरमें न किया जाता हो तो ऐसे भगवद्भजनको पुष्टिमार्गीय परिभाषामें भगवद्भजन ही नहीं कहा जा सकता है. पुष्टिमार्गमें निजघरमें रहकर भगवद्भजन करनेके प्रकारके अलावा अन्य कोई प्रकार भगवद्भजनका हैहीनहीं.

...भेंट धरे हुए धनसे भोग धरी हुई सामग्रीका प्रसादत्वेन ग्रहण हमारे यहां सर्वथा वर्जित है. ...सार्वजनिक मंदिरमें दर्शनार्थी जनताके प्रतिनिधिके रूपमें सेवा करनेकी प्रक्रियाको न तो वाल्लभ सम्प्रदायमें अवकाश है और न वैसा आचरण सिद्धांततः प्रशंसनीय ही है. भगवत्सेवाका अनुष्ठान न तो नौकरी और न धंधा के रूपमें किया जा सकता है.

...श्रीमहाप्रभु सभी पुष्टिमार्गीयोंको सैद्धान्तिक निष्ठा स्वधर्मानुसरणका

सामर्थ्य तथा पारस्परिक सौमनस्य प्रदान करें. ... सभी पुष्टिमार्गीयके निजघरोंमें बिराजमान सेव्यस्वरूप सर्वदा निजी ही रहें, कभी सार्वजनिक न बन जायें. ‘‘बुद्धिप्रेरक कृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु’’.

(गो.श्रीमाधवरायजीकी हस्ताक्षरित सम्मतिसे सुप्रिमकोर्टमें प्रस्तुत करनेकेलिये तैयार किये गये ‘‘महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यवंशज गोस्वामीओंका संयुक्त-घोषणापत्र’’ १९८६)

***

सप्तमगृहाधीश

पू.पा.गो.श्रीघनश्यामलालजी (कामवन)

क्योंकि श्रीनाथजी स्वयं वाके भोक्ता हैं किन्तु वैष्णव-वृन्द तथा सेवकगण भी वा महाप्रसाद लेवे तकके अधिकारी नहीं हैं. यह आचार्यचरणके इतिहाससूं प्रत्यक्ष प्रमाणभूत है. वाके महाप्रसाद लेवेको केवल गायकुं ही अधिकार है. अन्यथा वा देवद्रव्यके उपभोग करवेसूं निश्चय ही अधःपतन है... सब प्रकारके दान-चढ़ावा व वसूल वसूली करवेको उल्लेख कियो गयो है, वो भी सम्प्रदायके सिद्धान्तसूं नितान्त विरुद्ध है. अपने सम्प्रदायकी प्रणालीके अनुसार जो अपने सम्प्रदायके सेवक हैं, उनकोही द्रव्य गुरु-शिष्यके सम्बन्धसूं लेके सेवामें उपयोग करायो जा सके है. सम्प्रदायमें सब प्रकारके दान-चढ़ावान्को उपयोग सेवामें नहीं कियो जाय है; ओर कदाचित् कहीं कियो जातो होय तो वो सम्प्रदायके नियमन्सूं विरुद्ध होवेके कारण बन्द कर देनोचहिये.

(‘‘श्रीनाथद्वारा ठिकानेके प्रबन्धकी दिल्ली-योजनाकी आलोचना, ता.१-२-५६’’)

***

पू.पा.गो.श्रीहरिरायजी महाराज (जामनगर)

गो.श्रीहरिरायजी : जरा ध्यानसे सुनें ... ''तत्र अयम् अर्थः. लाभपूजार्थयत्नस्य उपधर्मत्व-देवलकत्वादि'' स्पष्ट सुनें, ''सम्पादकत्वात्'' ... लाभ-पूजार्थ यत्न करता है जो सेवा करके, जब वो लाभ-पूजार्थ प्रयत्न करता है तो वो उपधर्म हुवा; देवलकत्व आदि जो दोष हैं वो उसमें प्रविष्ट होंगे. ... **गो.श्रीश्याममनोहरजी:** अर्थात् यह खास ध्यानमें रखना कि जिस स्वरूपकी भावप्रतिष्ठा की गयी हो उस स्वरूपकी भी लाभ अथवा पूजा केलिये यदि सेवा की जाती है तो सेवा करनेवाला देवलक(पापी) बन रहा है... **गो.श्रीहरिरायजी:** और उपधर्मत्व होता है ... और ये निषिद्ध है. ... **गो.श्रीश्याममनोहरजी:** इस स्थितिमें गुरु अपने लाभ अथवा पूजा केलिये शिष्यसे कुछ भी ठाकुरजीकेलिये मांगता है तो वह ... शास्त्रनिषिद्ध होनेसे ... दान होनेसे, देवद्रव होनेसे उपयोग करने योग्य नहीं होता है. **गो.श्रीहरिरायजी:** हां. बिलकुल. ... ये तो बिलकुल स्पष्ट है. ... 'स्ववृत्तिवाद'से भी स्पष्ट होता है. **('पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा विस्तृत विवरण' पृष्ठ १६४, १९३)**

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको संदीप रायचुरा, माणावदर के सादर प्रणाम)

प्रथमगृहाधीश

गो.श्रीलालमणीजी महाराज (कोटा-जतिपुरा-मुंबई)

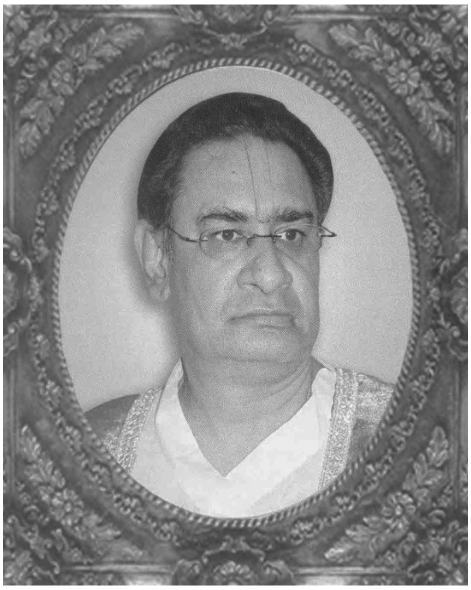

श्रीमहाप्रभुजीके चरणारविन्दकी कृपासे हमने वागीश श्रीश्यामुदादाकी वाणीसे श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धान्तोंका अवगाहन नवरत्नके प्रकाशमें किया. इस प्रकाशमें हमने पुष्टिपथ पर चलनेका अनुकरणीय सिद्धान्त श्रीश्यामुदादासे सुना.

इस पुष्टिपथपर चलते-चलते कई चिन्ताओंका हमने निवारण किया और कई कुरुचिपूर्ण वेदनाओंस हमने छुटकारा प्राप्त किया. परन्तु मैं अपनी बात कहूं तो उन चिन्ताओंसे छुटकारा पाते-पाते मुझे एक नयी चिन्ताका उदय हो गया और वो मैं हिंमत करके श्यामुदादासे कह ही दे रहा हूं कि जहां श्रीमहाप्रभु ''कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता'' उपदेशसे हमें देहेन्द्रिय-प्राणान्त:करणके अध्यासोंसे छुटकारा देते हैं, वहीं हमने एक नय केंसरको कहां जन्म दे दिया ये हमारी समझमें नहीं आया! देहेन्द्रिय-प्राणान्त:करणाध्याससे हम सेवा करते-करते छूटे ही नहीं थे कि मनोरथाध्यास, भगवत्प्रदर्शनाध्यास, प्रसादाध्यास, असत्संगाध्यास इन सब अध्यासोंने मिलकर हमें हमारे सिद्धान्तोंकी विस्मृति करादी. 'अध्यास' का मतलब यह होता है कि जो चीज जैसी है वैसी न दीखकर कुछ ओर दीखना... तो मनोरथोंका हमें अध्यास हो गया. हम जिन्हें मनोरथ समझते थे आज तक... वो मनोरथ ही नहीं हैं, परन्तु कुछ और हैं जो हमें अहन्ता और ममता की ओर धकेल रहे हैं. जिनहे आज तक हम प्रसाद समझ रहे थे और रूपयेसे खरीदते थे वो केवल घसीटारामकी हलवाईके लड्डु हैं, और कुछ नहीं... हम केवल लड्डु ही खरीदके लाते हैं, पर उनमें हमें प्रसादका भ्रम हो गया है. ...जिन भगवद्दर्शनोंको हम हमारी अहन्ता-ममता निचोडकर

भगवत्प्राप्तिकी ओर ले जानेवाले समझते थे वो व्यावसायिक प्रयोजनवश कराये जाते भगवद्दर्शन हमारे लिये अपसिद्धान्तका फंदा हैं...

'पूतना'का अर्थ श्रीमहाप्रभुजी सुबोधिनीजीमें करते हैं ''पूतं नयति इति पूतना'' जो पुत्रोंको ले जाये, हमारी पवित्र वस्तुओंको हमारे यहांसे ले जाये उसे हम 'पूतना' कहते हैं. तो यह जो लोकेषणा और वित्तेषणा रूपी पूतनाए हैं वो हमारे ''व्रज भयो महरिके पूत'' को कब यहांसे उठाके ले गयी, हमने कब उसे धनलिप्साके तृणावर्तको सौंप दिया यह हमें पता ही नहीं चला.

मुझे दमलाकी वार्ता याद आ रही है. महाप्रभुजीने जब पूछा कि श्रीनाथजीकी आज्ञा तूने सुनी? तो दमलाने कहा ''सुनी पर समझी नहीं''. अगर हम भी ... श्यामुदादाकी आज्ञा सुनकर बाहर चले जायें कि ''सुनी पर समझी नहीं'' और फिर मनोरथाध्यास, प्रसादाध्यास और भगवत्प्रदर्शनाध्यास में लग जायें तो हम महाप्रभुजीकी निगाहोमें गद्दार होंगे और महाप्रभुजीके वल्लभ पीनल कोडमें ''यदा बहिर्मुखा यूयं...सर्वथा भक्षयिष्यन्ति युष्मान्'' के अधिकारी होंगे और श्यामुदादाके शब्दोमें पतिताका हम पर चार्ज होगा.

...श्रीगुसांईजी एक बार हांसी-खेल कर रहे थे तो दमलाने टोक दिया जाकर अपनी पुष्टिप्रौढीसे कि ''महाराज, यह हांसी-खेलको मारग नाहीं, यहा ताप-क्लेशको मारग है.... जिस दिन आपके भीतर दमला प्रकट होगा उस दिन हमारे भीतर महाप्रभुजी प्रकट होंगे...इसलिये यदि आप अगर बाहर जाकर यह कह दें कि ''सुना पर समझा नहीं'' तो आपमें दमलाका नहीं, पतितताका प्राकट्य है. आप इसे प्रकट करो, बाहर जाकर अपने गुरुसे कहो कि महाराज, यह हांसी-खेलको मारग नाहीं, मनोरथ और प्रदर्शनको मारग नाहीं, ये ''नीके राखि यशोदा रानी नारायण गृह आयो''को गुप्त रखनेका मार्ग है.

(गो.श्रीश्याममनोहरजी द्वारा किये गये नवरत्नग्रन्थके प्रवचनका समापन वक्तव्य, दि.३१-०८-१९८४)

पू.पा.गो.श्रीमथुरेश्वरजी महाराज (बडौदा–सुरत)

(क) ...ब्रह्मसम्बन्ध लेके सेवा करवेसूं प्रत्येक इन्द्रियन्को भगवान्में विनियोग होवे है... मन्दिर–गुरुघर केवल उपदेशग्रहण करवेकेलिये हैं. सेवा अपनकुं अपने घरन्में करनी है. (‘वल्लभविज्ञान’अंक ५–६ वर्ष १९६५)

(ग) आज बहुत घरोमें सेवा होती है, पर क्या हम विश्वास पूर्वक कह सकते हैं कि यह सेवा वास्तविक सेवा है? क्या आजकी सेवा ‘‘चेतस्तत्प्रवणं सेवा’’ (चित्तका प्रभुमें प्रवण हो जाना वह सेवा है) का अक्षरशः सार्थक स्वरूप है?

वस्तुतः हम खुद वल्लभवंशज गोस्वामी भी यह दावा नहीं ही कर सकते हैं कि आज हम वास्तविक सेवा कर रहे हैं. यह कहनेमें मुझको लेश मात्र भी संकोच नहीं हो रहा है, क्योंकि मैं दम्भका संरक्षण करना नहीं चाहता हूं. अतः स्पष्ट है कि यदि हम गोस्वामीओमें सेवाकी और श्रीमहाप्रभुजीद्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तोंके पूर्ण परिपालनकी क्षमता होगी तो ही हमारे अनुयायी स्वयं सेवा और सिद्धान्त के परिपालनमें सक्षम हो पायेंगे, अन्यथा नहीं. क्योंकि हम गोस्वामी और वैष्णव एक ही तत्त्वके दो प्रकार हैं. वल्लभकुल बिन्दुसृष्टि है तो वैष्णव नादसृष्टि है. इस स्थितिमें श्रीमहाप्रभुजी और श्रीगुसांईजी प्रभुचरण द्वारा की गयी आज्ञा वल्लभकुल और वैष्णव दोनोंकेलिये परिपालनीय है. **(पुष्टिबोध भाग–१, पृ.२३, वि.सं.२०३४)**

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको हर्षवदन शाह, वडोदरा के सादर प्रणाम)

तृतीयगृहाधीश

पू.पा.गो.श्रीव्रजेशकुमारजी महाराज (कांकरोली–वडोदरा)

प्रश्न : आज चल रहे जो डिस्प्युट् हैं वामें कितनेक सिद्धान्त चर्चित हो रहे हैं जैसे कि नये मन्दिर नहीं खोलने, ट्रस्ट मन्दिर नहीं बनाने, ठाकुरजीके नामपे द्रव्य नहीं लेनो, ठाकुरजीके दर्शन नहीं कराने, तथा बिना समजे–सोचे कोईकु ब्रह्मसम्बन्ध नहीं देनो. इन सब विषयमें आपको अभिमत क्या है?

उत्तर : देखो मन्दिरकी जहां तक स्थिति है तो ये बात सत्य है के पुष्टिमार्गीय प्रकारसुं मन्दिर तो मात्र एक ही है; ओर सब घरकी स्थिति हती. ...आज मन्दिर जितने हैं अथवा जिन स्थानन्कुं अपन मन्दिर समझे हैं वो स्थान...वाकु अपन मर्यादापुष्टि मन्दिर कह सके हैं, पुष्टिमन्दिर नहीं. पुष्टिको प्रकार तो मात्र गृहसेवामें ही है. **(‘आचार्यश्रीवल्लभ’, ऑगस्ट१९९४, अंक५, पुष्टिमार्ग–वर्तमान प्रश्न–उत्तर ४, पृ.७)**

(ख) आजसे डेढ़सो वर्ष पूर्व, श्रीमहाप्रभुजीके समयसे तब तक, पुष्टिमार्गमें कोई भगवन्मन्दिर खोलनेकी प्रणाली नहीं थी. प्रत्येक वैष्णवके घर–घर भगवत्सेवा हो उसका आग्रह रखा जाता था. वैष्णव अपने घरमें श्रीठाकुरजीके स्वरूपको सेव्य कराकर पधराकर गुरुघरकी प्रणालिका अनुसार सेवा करते थे. **(व्रज मोंहे बिसरत नाहीं, पृ.१४०–१४१)**

(ग) खेतमें भरे हुवे जलको पी नहीं सकते. ...वो अनाज तो पैदा कर सकता है. वो अपने पेट भरनेका साधन मात्र करता है. वो किसी दूसरेके ओर उपकारका नहीं होता है. ...अपना पेट पालनेकेलिये भगवद्गुणगान करते हैं वो उस प्रकारके होते हैं कि जैसे खेतमें भरा हुवा पानी होता है.

पद्मनाभदासजी...आचार्यचरचणके निबन्धका श्लोक समझाने पर ही उन्होंने अपनी पौराणिक वृत्तिको छोड़ दिया! ...अपने मकानमें बरतन धोनेके पनाले हैं उसमें जो जल जाता है वो एक गढ्ढेमें इकट्ठा हो जाता है. ...वो पानी तो केवल गंध ही मारता है... भगवद्भाव होते हुवे भी जिनके स्वभावमें दुःसंगके द्वारा दोष उत्पन्न हो जाता है ऐसे मनुष्य उस गंदे गढ्ढेके समान बन जाते हैं कि जिसमें पानी भरा हुवा तो होता है लेकिन वो पानी किसी उपयोगका नहीं होता. वो भरा हुवा पानी केवल दुर्गन्ध पैदा करता है. ...पांचवें (भगवद्गुणगान करके अपनी आजीविका चलानेवाले नीच वक्ताओंके भाव) गटरके समान दुर्गन्धयुक्त...अस्पृश्य होते हैं. **(जलभेद प्रवचन, वडोदरा)**

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको भानु गोर, हालोल के सादर प्रणाम)

***

पू.पा.गो.चि.श्रीवागीशकुमारजी (वडोदरा–कांकरोली)

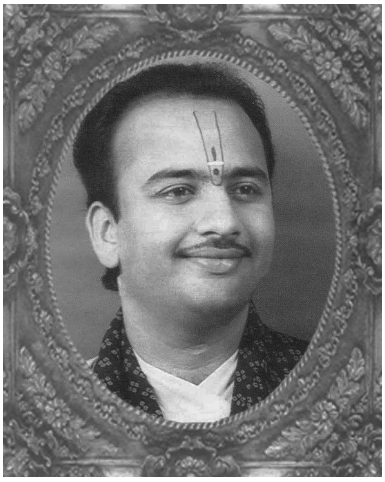

श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करे हैं के दुनियामें भटकते रहेते अपने मन–चित्त(कुं) श्रीठाकुरजीके सङ्ग जोडिके विनकी तनु–वित्तजा सेवा करनी. तनुवित्तकी सेवा अर्थात् स्वयं उपार्जित अपने धनसों, अपने ही घरमें श्रीठाकुरजीकी अपने ही शरीरसों सेवा करनी सो. (‘वल्लभीयचेतना’, ऑक्टोबर१५ २००३, पृ.–४)

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको कृष्णकुमार गांधी, कांदीवली के सादर प्रणाम)

द्वितीयगृहाधीश

पू.पा.गो.श्रीगोकुलोत्सवजी महाराज (इन्दौर–नाथद्वारा)

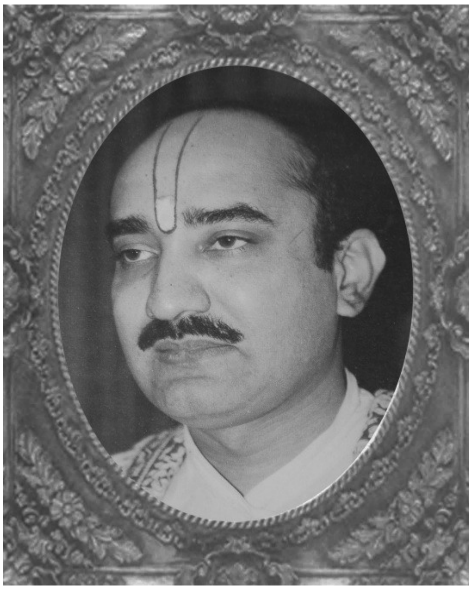

जो घरमें रहकर प्रभुकी सेवा करते हैं वे स्वयं तो कृतार्थ होते ही हैं किन्तु उनके परिवारके परिजन भी कृतार्थ होते हैं. ...सभी इन्द्रियसे अन्तःकरणसे भजनानन्दका अनुभव घरमें रहकर श्रीठाकुरजीकी सेवासे होता है. ...इसलिये घरमें आचार्य श्रीगुरुचरणसे पुष्ट करके श्रीठाकुरजी पधराओ और समयको सेवामय बनाओ. ...श्रीठाकुरजी घरमें बिराजते हैं तो घर घर नहीं रह जाता, वह प्रभुकी क्रीडाका स्थल बन जाता है...नन्दालयकी लीलाका स्थल बन जाता है.

...मुकुन्ददास...रामदास सांचोरा...किशोरीबाई...जीवनदास ...इन महानुभावोंने ...श्रीनाथजी तथा घरके श्रीठाकुरजीमें भेद नहीं समझा.

...श्रीठाकुरजी अपने निधि अर्थात् सर्वस्व हैं. ...ऐसे पूर्णपुरुषोत्तम श्रीनन्दराजकुमारको श्रीमहाप्रभुजीने हमारी गोदमें पधराकर हमें भाग्यशाली बनाया है. यह अलौकिक निधि(धन) देकर हमें धन्य बनाया है. इससे बड़ा दूसरा कौनसा फल है!

...जो सांसारिक कामनासे श्रीठाकुरजीका भजन अर्थात् दर्शन स्मरण सेवा करता है उसे क्लेश ही हाथ लगता है. ...घरके ठाकुरजी ही सर्वस्व हैं. ...वे ही नित्यलीलाके आनन्दका अनुभव कराएंगे. वे हमारे पति हैं जो भयसे रक्षा एवं सुरक्षा भी करते हैं.

क्या कोई स्त्री अन्य जगह जाकर किसीकी सेवा कर सकती है? कदापि नहीं. ...घरके परिजनोंको यह बर्दाश्त नहीं होगा. ...इसी तरह जो

अपने माथे श्रीठाकुरजी घरमें बिराजते हैं उन्हें हम चाहे जैसे नये-नये पुष्टिमार्गीय मनोरथ करके सामग्री सिद्ध करके लाड़ लड़ा सकते हैं परन्तु यह अधिकार किसी दूसरे ठिकाने थोड़ी मिल सकता है. अतः ‘‘घरके ठाकुरके सुत जायो नन्ददास तहां सब सुख पायो’’.

श्रीनाथजीको भी देवालयकी लीला छोड़कर नन्दालयकी लीला करने हेतु श्रीगुसांईजीके घर पधारना पड़ा. ‘‘व्याजं ललौकिकमाश्रित्य श्रीविट्ठलगृहेऽगमत्’’. अतः श्रीनाथजीका यह पाटोत्सव ही मुख्य माना गया है जो फाल्गुन कृष्ण सप्तमीको आता है.

अतः घरके श्रीठाकुरजीका स्वरूप समझना बहुत आवश्यक है. कोई पत्नी अपने पतिकी सेवा न करे, उसके गुणगान ही करती रहे...तो क्या पति सन्तुष्ट होगा? इसी प्रकार ...जो कृष्ण-कृष्ण गुणगान करते रहते हैं, परन्तु सेवा स्वधर्मसे विमुख रहते हैं वे हरिके द्वेषी हैं (विष्णुपुराण). सेवासे सेव्यको सन्तोष मिलता है यही वैष्णवका स्वधर्म है.

(२५२ वैष्णव वार्ता, खंड-२ की भूमिका पृ.१५-३६)

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको राहुल शाह, वडोदरा के सादर प्रणाम)

***

पू.पा.गो.चि.श्रीद्वारकेशलालजी (अमरेली-कांदीवली)

पुष्टिमार्ग गुप्त है, दिखावाकेलिये तो है ही नहीं, भक्त और भगवान् के बीच आन्तरिक सम्बन्ध दृढ करवेको मार्ग है... दोनोंके संबंध ऐसे होने चहिये कि कोई तीसरेकुं वाकी जानकारी न हो पाये. अपनो अपने भगवान्के साथ क्या सम्बन्ध है याकुं दूसरे कोई व्यक्तिकुं जतावेकी आवश्यकता ही क्या है? प्रशंसा पावेकुं?

स्वयंकी महत्ता बढ़ावेकुं? ये तो सभी कुछ बाधक है. (**‘पुष्टिनवनीत’ पृ.१२**)

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको पायल शाह, थाणा के सादर प्रणाम)

***

पू.पा.गो.श्रीद्रुमिलकुमारजी (सुरत)

अपने सम्प्रदायमें इतनो अधिक सिद्धान्तवैपरीत्य हो गयो है कि गुजरातके एक गांवमें...अपने सम्प्रदायके ही दो मन्दिर हैं और मन्दिरन्की दीवार भी एक ही है; परन्तु...इतनो लोकार्थित्व समाजमें उत्पन्न हो गया है... सवेरो होते ही चन्द्रमाजीवाले वैष्णव बालकृष्णलालको जो मेवा होवे है वो चन्द्रमाजीमें ले जावे हैं और बालकृष्णजीवाले जो वैष्णव होवे हैं वो चन्द्रमाजीको जो मेवा और प्रसाद होवे है वाकु बालकृष्णलालजीमें ले आवे हैं! ऐसी जबरदस्त होंसातोंसी वैष्णवसमाजमें पैदा हो गई है के मानों एक-दूसरेके संग स्पर्धा करते होवें. ऐसो ईर्ष्या-द्वेषको वातावरण जब सेवाके क्षेत्रमें उत्पन्न हो जावे तो वासूं बढ़के लोकार्थित्व ओर क्या हो सके है! ... ऐसे सभी सिद्धान्तवैपरीत्यकी फज़ीहत यदि सर्वाधिक कहीं होती होय तो गुजरातमें होवे है. भागवतमें भी लिख्यो है के “गुर्जरे जीर्णतां गताः” भक्ति गुजरातमें आके बूढ़ी हो गई है. अन्धानुकरण बढ़ा हो तो वह गुजरातमें बढ़ा है. ... अतः सिद्धान्तकी सत्यनिष्ठा ... और श्रीमहाप्रभुजीके पुष्टिसिद्धान्तों के सद्जागरणकी कहीं आवश्यकता है तो... गुजरातमें. (“पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा, दि.१०-१३जनवरी,९२. पार्ले-मुंबई,

विस्तृतविवरण'' पृ.३१७-३१८)

कोई पुरुष कृष्णसेवामें तत्पर है कि नहीं, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित है कि नहीं; और श्रीमद्भागवत पुराणके मर्मका विज्ञ है कि नहीं यह सर्वप्रथम देखना चाहिये और तभी किसी जिज्ञासुको ऐसे व्यक्तिमें गुरुबुद्धि रखकर उसके पास जाना चाहिये.

...ऐसे गुणोंसे युक्त गुरु बलवान् कलियुगके कारण न मिले तो ... स्वयं ही भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना चाहिये. पात्रापात्रका विवेक रखे बिना यदि नामदीक्षा प्रदान की जाती है तो भगवन्नामविक्रयका दोष लगता ही है जिसके कारण दीक्षादाता अपराधी बनता है.

...एक प्रकार सेवाका यह भी हो सकता है कि वह वित्त देकर किसी अन्य पुरुषद्वारा करा ली जाये; और दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि वह कृष्णसेवा किसी दूसरेसे वित्त लेकर की जाये. ऐसे दोनों प्रकारोंसे की जाती सेवाओंसे चित्त कभी कृष्णप्रवण हो नहीं सकता. ...वह...यदि किसी अन्य तनुजासेवाकर्ता(गोस्वामी-मुखिया-ट्रस्टी)को वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें वित्त देकर करायी जाती है तब वह वित्तजा सेवा हुई जो चित्तको राजसभाव=दर्प-दम्भादिसे युक्त बना देती है, पर कृष्णप्रवण नहीं बना पाती. यदि किसी अन्यसे वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें वित्त ग्रहण करके तनुजासेवा की जाती है तब पुरोहितोंको जैसे यज्ञ-यागका फल नहीं मिलता है वैसे ही दूसरेके वित्तसे तनुजा सेवा करनेवालेको भी कृष्णप्रवणतारूप फल कभी नहीं मिलता.

...जो अपने स्वजन हों और भक्त हों ऐसोंको ही श्रीठाकुरजीके दर्शन कराने चाहिये.

...११वां अपराध: अवैष्णवके समक्ष अपने घरमें बिराजते श्रीठाकुरजीका प्रदर्शन करना. फल: एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त: श्रीठाकुरजीको पञ्चामृत स्नान कराना.

...३६वां अपराध: श्रीठाकुरजी (या श्रीभागवतजी या श्रीयमुनाजी) के नामसे (भेट, सामग्री, पोथीसेवा, या न्योछावर) मांगना. फल: सेवा सर्वथा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त: जितना मांगा या बटोरा हो उससे पांचगुना नैवेद्यका प्रभुको दान (न कि समर्पण) करना.

...आजीविका कमाने या यश पाने केलिये भी भजन(सेवा) करता हो तो उसकी क्या गति होगी? ...वह व्यक्ति भी क्लेश ही पाता है ऐसा श्रीमहाप्रभुके वचनका साफ-साफ अर्थ है. न केवल उसे ऐहिक (पारिवारिक-सामाजिक-साम्प्रदायिक) क्लेश ही होता है प्रत्युत उसके सारे पारलौकिक अधिकार एवं फल भी नष्ट हो जाते हैं ऐसे निषिद्ध आचरणके कारण...अत्यल्प भी ज्ञान हो वह तो ऐसा कुकृत्य नहीं कर सकता है.

...भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें घरमें सेवा करनेका विधान किया गया होनेसे यह सूचित होता है कि अपने घरमें बिराजते प्रभुकी सेवाको छोड़कर अन्य कहीं दर्शन-सेवा-कीर्तनादि करनेसे भक्ति सिद्ध नहीं होती है.

...भागवतका पाठ प्रयत्नपूर्वक किसी भी अन्य हेतुके बिना ही करना चाहिये. प्राण चाहे कंठमें क्यों न अटक जाये परन्तु आजीविकार्थ उसका उपयोग नहीं करना चाहिये. भागवतका आजीविकार्थ उपयोग न करके ओर जैसे भी अपना निर्वाह चले चला लेना चाहिये.

...मुख आदिके प्रक्षालनमें प्रयुक्त अपवित्र जलको एकत्रित करनेकेलिये भूमिमें जो गड्ढे खोदे जाते हैं उनके जैसे निम्न गानोपजीवी होते हैं...इससे यह आशय प्रकट हुआ कि प्रक्षालनोच्छिष्ट गर्तपूरित जलकी तरह इन गानोपजीविओंका भाव सत्पुरुषोंकेलिये ग्राह्य नहीं होता...पुराणकथासे आजीविका चलानेवाले पौराणिक भी ऐसे गायकोंके तुल्य होते हैं...

हे श्रीवल्लभ! आपके कहे हुवे वचनसे विपरीत जो कोई कुछ कहते हैं वे सभी भ्रान्त केवल अन्धन्तम नरकको पाने वाले सहज आसुरी जीव हैं.

(पू.पा.गो.श्रीद्रुमिलकुमारजीकी सम्मतीसे पुष्टिसिद्धान्त चर्चासभामें विचारार्थ प्रस्तुत की गई सिद्धान्तवचनावलीके अंश)

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको कामिनी शाह, भरूच के सादर प्रणाम)

***

नि.ली.गो.श्रीइन्दिरा बेटीजी (वडोदरा)

श्रीमहाप्रभुजीने अलग-अलग मन्दिरन्की प्रणाली खड़ी नहीं करी; परन्तु यामें जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्यकी एक दूरदृष्टि हती:प्रत्येक वैष्णवको घर नन्दालय बननो चहिये... कोई मन्दिरके पड़ौसमें एक बहन रहे है. वाकुं मन्दिरकी आरतीके घंटानाद सुनाई पड़े हैं. सेवा करवेकुं बैठी भई वो बहन ठाकुरजीके वस्त्र बड़े करके स्नान करावे जा रही हती ऐसेमें आरतीके घंटानाद सुनाई दिये. वो ठाकुरजीकुं वहीं वाही अवस्थामें छोड़के मन्दिरकी तरफ दौड़ गई. थोड़ी देरके बाद लौटके घर आई. अब विचार करो कि या तरहसूं कोई सेवा करे तो वामें आनन्द कभी आ सके है क्या? यहां तो प्रत्येक वैष्णवको घर नन्दालय है. ('वैष्णवपरिवार' अंक जून ९०)

***

नि.ली.गो.श्रीगोविन्दलालजी महाराज
पू.पा.गो.श्रीव्रजेशकुमारजी महाराज
पू.पा.गो.श्रीराजेशकुमारजी महाराज
पू.पा.गो.श्रीविजयकुमारजी महाराज
पू.पा.गो.श्रीवल्लभलालजी महाराज

(कडी-अमदावाद)

...जहां तक सिद्धान्तके निश्चित स्वरूप या व्याख्या का प्रश्न है, हम सभी धर्माचार्य, हमारे सम्प्रदायके प्रवर्तक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य तथा परवर्ती अन्य भी मान्य सभी व्याख्याकारोंके सन्देहरहित विधानोंके आधारपर, यह स्पष्टतम शब्दोमें घोषित करते हैं कि हमारे धार्मिक सिद्धान्त एवं परम्पराओं के अनुसार भगवत्सेवा, सेवास्थल, सेवोपयोगिसम्पत्ति, सेवाकर्ता (उपदेशक या अनुयायी) एवं सेव्य भगवत्स्वरूप का निजी अथवा पारिवारिक होना एक अनुल्लंघ्य धार्मिक अनिवार्यता है. अतः इनमेंसे किसीको भी सार्वजनिक बनाना सर्वथा धर्मविरुद्ध होनेसे एक घोर धार्मिक अपराध है.

...वाल्लभ सम्प्रदायके सिद्धान्तके अनुसार निजघरमें निजधनको तथा निज परिवारजनोंको भगवत्स्वरूपकी सेवामें उपयोगमें लाना ही आराधनाका वास्तविक स्वरूप है. ...अतः निजघरमें निजधनके विनियोग द्वारा तथा निजपरिवारके जनोंके सहयोग बिना की जाती आराधना, वाल्लभ सम्प्रदायकी आराधनाकी परिभाषाके अनुसार, आराधना ही नहीं है. ऐसी स्थितिमें हमारे घरोंमें आती जनताद्वारा हमारे सेव्य भगवत्स्वरूपके दर्शन करना या भेंट चढाना आदि आचरण आराधनाके अन्तर्गत मान्य क्रियाकलाप नहीं है.

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको ज्योति शाह, कडी के सादर प्रणाम)

...यदि निज घरमें न किया जाता हो तो ऐसे भगवद्भजनको पुष्टिमार्गीय परिभाषामें भगवद्भजन ही नहीं कहा जा सकता है. पुष्टिमार्गमें निजघरमें रहकर भगवद्भजन करनेके प्रकारके अलावा अन्य कोई प्रकार भगवद्भजनका है ही नहीं.

...भेंट धरे हुए धनसे भोग धरी हुई सामग्रीका प्रसादत्वेन ग्रहण हमारे यहां सर्वथा वर्जित है. ...सार्वजनिक मंदिरमें दर्शनार्थी जनताके प्रतिनिधिके रूपमें सेवा करनेकी प्रक्रियाको न तो वाल्लभ सम्प्रदायमें अवकाश है और न वैसा आचरण सिद्धांततः प्रशंसनीय ही है. भगवत्सेवाका अनुष्ठान न तो नौकरी और न धंधा के रूपमें किया जा सकता है.

...श्रीमहाप्रभु सभी पुष्टिमार्गीयोंको सैद्धान्तिक निष्ठा स्वधर्मानुसरणका सामर्थ्य तथा पारस्परिक सौमनस्य प्रदान करें. ... सभी पुष्टिमार्गीयके निजघरोंमें बिराजमान सेव्यस्वरूप सर्वदा निजी ही रहें, कभी सार्वजनिक न बन जायें. ‘‘बुद्धिप्रेरक कृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु’’.

(नि.ली.गो.श्रीगोविन्दलालजी महाराज, गो.श्रीव्रजेशकुमारजी, गो.श्रीराजेशकुमारजी तथा गो.श्रीविजयकुमारजी की हस्ताक्षरित सम्मतिसे सुप्रिमकोर्टमें प्रस्तुत करनेकेलिये तैयार किया गया ‘‘श्रीमद्वल्लभाचार्य वंशज गोस्वामीओंका संयुक्त घोषणापत्र’’ १९८६.)

कोई पुरुष कृष्णसेवामें तत्पर है कि नहीं, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित है कि नहीं; और श्रीमद्भागवत पुराणके मर्मका विज्ञ है कि नहीं यह सर्वप्रथम देखना चाहिये और तभी किसी जिज्ञासुको ऐसे व्यक्तिमें गुरुबुद्धि रखकर उसके पास जाना चाहिये.

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको प्रियांक भट्ट, केनेडा के सादर प्रणाम)

...ऐसे गुणोंसे युक्त गुरु बलवान् कलियुगके कारण न मिले तो ... स्वयं ही भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना चाहिये. पात्रापात्रका विवेक रखे बिना

यदि नामदीक्षा प्रदान की जाती है तो भगवन्नामविक्रयका दोष लगता ही है जिसके कारण दीक्षादाता अपराधी बनता है.

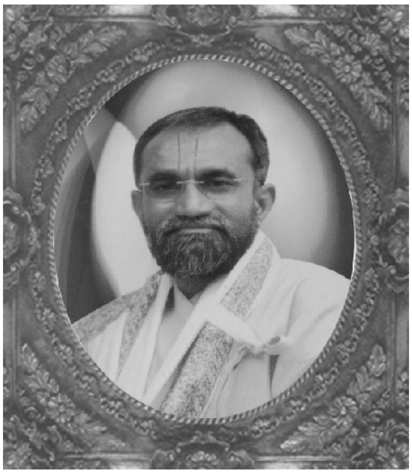

...एक प्रकार सेवाका यह भी हो सकता है कि वह वित्त देकर किसी अन्य पुरुषद्वारा करा ली जाये; और दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि वह कृष्णसेवा किसी दूसरेसे वित्त लेकर की जाये. ऐसे दोनों प्रकारोंसे की जाती सेवाओंसे चित्त कभी कृष्णप्रवण हो नहीं सकता. ...वह...यदि किसी अन्य तनुजासेवाकर्ता(गोस्वामी-मुखिया-ट्रस्टी)को वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें वित्त देकर करायी जाती है तब वह वित्तजा सेवा हुई जो चित्तको राजसभाव=दर्प-दम्भादिसे युक्त बना देती है, पर कृष्णप्रवण नहीं बना पाती. यदि किसी अन्यसे वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें वित्त ग्रहण करके तनुजासेवा की जाती है तब पुरोहितोंको जैसे यज्ञ-यागका फल नहीं मिलता है वैसे ही दूसरेके वित्तसे तनुजा सेवा करनेवालेको भी कृष्णप्रवणतारूप फल कभी नहीं मिलता.

...जो अपने स्वजन हों और भक्त हों ऐसोंको ही श्रीठाकुरजीके दर्शन कराने चाहिये.

...११वां अपराध: अवैष्णवके समक्ष अपने घरमें बिराजते श्रीठाकुरजीका प्रदर्शन करना. फल: एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त: श्रीठाकुरजीको पञ्चामृत स्नान कराना.

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको मनन शाह, भरुच के सादर प्रणाम)

...३६वां अपराध: श्रीठाकुरजी (या श्रीभागवतजी या श्रीयमुनाजी) के

नामसे (भेट, सामग्री, पोथीसेवा, या न्योछावर) मांगना. फल: सेवा सर्वथा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त: जितना मांगा या बटोरा हो उससे पांचगुना नैवेद्यका प्रभुको दान (न कि समर्पण) करना.

...आजीविका कमाने या यश पाने केलिये भी भजन(सेवा) करता हो तो उसकी क्या गति होगी? ...वह व्यक्ति भी क्लेश ही पाता है ऐसा श्रीमहाप्रभुके वचनका साफ-साफ अर्थ है. न केवल उसे ऐहिक (पारिवारिक-सामाजिक-साम्प्रदायिक) क्लेश ही होता है प्रत्युत उसके सारे पारलौकिक अधिकार एवं फल भी नष्ट हो जाते हैं ऐसे निषिद्ध आचरणके कारण...अत्यल्प भी ज्ञान हो वह तो ऐसा कुकृत्य नहीं कर सकता है.

...भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें घरमें सेवा करनेका विधान किया गया होनेसे यह सूचित होता है कि अपने घरमें बिराजते प्रभुकी सेवाको छोड़कर अन्य कहीं दर्शन-सेवा-कीर्तनादि करनेसे भक्ति सिद्ध नहीं होती है.

...भागवतका पाठ प्रयत्नपूर्वक किसी भी अन्य हेतुके बिना ही करना चाहिये. प्राण चाहे कंठमें क्यों न अटक जाये परन्तु आजीविकार्थ उसका उपयोग नहीं करना चाहिये. भागवतका आजीविकार्थ उपयोग न करके ओर जैसे भी अपना निर्वाह चले चला लेना चाहिये.

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको राकेश राजपरा, यु.के. के सादर प्रणाम)

...मुख आदिके प्रक्षालनमें प्रयुक्त अपवित्र जलको एकत्रित करनेकेलिये भूमिमें जो गड्ढे खोदे जाते हैं उनके जैसे निम्न गानोपजीवी होते हैं...इससे यह आशय प्रकट हुआ कि प्रक्षालनोच्छिष्ट गर्तपूरित जलकी तरह

इन गानोपजीविओंका भाव सत्पुरुषोंकेलिये ग्राह्य नहीं होता...पुराणकथासे आजीविका चलानेवाले पौराणिक भी ऐसे गायकोंके तुल्य होते हैं...

हे श्रीवल्लभ! आपके कहे हुवे वचनसे विपरीत जो कोई कुछ कहते हैं वे सभी भ्रान्त केवल अन्धन्तम नरकको पाने वाले सहज आसुरी जीव हैं.

(गो.श्रीव्रजेशकुमारजी, गो.श्रीराजेशकुमारजी तथा गो.श्रीविजय कुमारजीकी हस्ताक्षरित सम्मतिसे पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभामें विचारार्थ प्रस्तुत की गई सिद्धान्तवचनावलीके अंश)

आज फेरि वो समय आयो है. वासों हु कठिन समय आयो है. वा समय तो अन्यमार्गीय लोग मतन्कुं प्रस्तुत करिके भ्रम उत्पन्न करत हते. परि आज तो अपने सम्प्रदायके ही 'सुज्ञजन' श्रीमहाप्रभुजीकी वाणीको विपरीत अर्थ करि रहे हैं, लोगन्कूं पथभ्रष्ट करि रहे हैं, दैवीजीवन्के सङ्ग घोर अन्याय करि रहे हैं. तासों ही अभी महाप्रभु श्रीवल्लभाधीशके वंशज पुष्टिमार्गीय युवा आचार्यन्ने एक 'संवादस्थापकमण्डल'की स्थापना करीके मुम्बईमें ... चार दिवस पर्यन्त एक पुष्टिसिद्धान्त चर्चासभाको आयोजन कियो हतो. ... सभामें ३५ महानुभाव आचार्य उपस्थित हते. २८ गोस्वामी आचार्य महानुभावन्ने गो.श्रीश्याम मनोहरजी महाराश्री (किशनगढ-पार्ला)के 'सिद्धान्तवचनावली'के भावानुवादकुं सहमति दीनी हती. ... पू.पा.गो.श्रीहरिरायजी व्रजभूषणलालजी महाराजश्री जामनगरवारेन्ने पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी महाराजश्रीके सङ्ग विनने करे भावानुवादके मुद्दान्पे चर्चा प्रारम्भ कीनी हती. ... समयके अभावके कारण चर्चा निर्णयपे पहुंच न सकी. परन्तु वर्तमान(में) कितनेक चर्चास्पद, संशयास्पद मुद्दान्की स्पष्टता या चर्चामें प्राप्त भयी जो वस्तुत: एक बड़ी सिद्धि है. इतनो ही नहीं परन्तु नीचे बताये मुद्दान्के विश्लेषणमें पूज्य श्रीश्याम मनोहरजीके सङ्ग सहमत

होयके पूज्य श्रीहरिरायजीने अपने सम्प्रदायकी उत्तम सेवा कीनी है:

१. पुष्टिमार्गीय सेव्यस्वरूप पूर्णपुरुषोत्तम स्वरूपसों ही बिराजे हैं, वे स्वरूप पाछें चाहे गुरुके सेव्य होवें के शिष्य (वैष्णव)के सेव्य होवें. दोउ(स्वरूपन्)मेंतें कोउमें हु पुरुषोत्तमपनों न्यूनाधिक होत नाहीं.

२. पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त अनुसार कृष्णसेवा करिवेको स्थान गृह ही होइ सकत है, सार्वजनिक (स्थल) नाहीं.

३. पुष्टिमार्गीय भगवत्सेवाकु धनकी प्राप्तिको साधन बनानो नहीं चहिये.

४. देवलक (=भगवत्सेवाकु धनप्राप्तिको साधन अथवा आजीविकाको साधन बनायवेवारे) व्यक्तिकी सेवा निषिद्ध कक्षाकी होयवेसों (वो) सेवा करवे योग्य नाहीं है.

५. श्रीठाकुरजीके तांई काहु प्रकारके दान-भेंट मांगने अथवा स्वीकारने वो शास्त्रद्वारा निषिद्ध है. इतनो ही नाहीं परि लाभ-पूजाके हेतुसों अपने लिये द्रव्य अथवा काहु वस्तुको स्वीकारनो वो शास्त्रकी दृष्टिमें ऋणानुबन्धी दोषकों उत्पन्न करिवेवारो होयवेसों बन्धनकारी है.

६. पुष्टिमार्गके सिद्धान्तानुसार श्रीठाकुरजीकुं निवेदन करे पदार्थन्को ही समर्पण होइ सकत है अरु समर्पित पदार्थन्को ही भगवद् उच्छिष्टरूपमें प्रसाद लेइ सकत हैं. श्रीठाकुरजीके लिये दान अथवा भेंट के रूपमें आयी भयी सामग्रीकुं प्रसादके रूपमें ली नहीं जा सके है क्योंके श्रीठाकुरजीके लिये दान अथवा भेंट के रूपमें प्राप्त भये पदार्थ (द्रव्य)सों आयी सामग्रीकुं प्रसादके रूपमें पाछी लेवेसों ‘दत्तापहार’को पाप लागत है.

७. सेवा तो शास्त्रको विषय है. तासों सेवाके सम्बन्धमें शास्त्रसों श्रीमहाप्रभुजीके ग्रन्थन्सों ही सर्व निर्णय होइ सकत है, अन्य काहु प्रकारसों नाहीं.

(गो.श्रीव्रजेशकुमारजी, गो.श्रीराजेशकुमारजी, गो.श्रीविजयकुमारजी तथा गो.श्रीवल्लभलालजी की हस्ताक्षरित सम्मतिसे प्रकाशित हुवा ‘‘संयुक्तघोषणापत्र:अमदावाद’’, मिति फाल्गुन सुदि७, श्रीवल्लभाब्द ५१४, दि.११ मार्च १९९२)

पू.पा.गो.चि.श्रीयोगेश्वरजी (वडोदरा-सुरत)

...जहां तक सिद्धान्तके निश्चित स्वर है । व्याख्या का प्रश्न है, हम सभी धर्माचार्य, हमारे सम्प्रदायके प्रवर्तक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य तथा परवर्ती अन्य भी मान्य सभी व्याख्याकारोंके सन्देहरहित विधानोंके आधारपर, यह स्पष्टतम शब्दोमें घोषित करते हैं कि हमारे धार्मिक सिद्धान्त एवं परम्पराओं के अनुसार भगवत्सेवा, सेवास्थल, सेवोपयोगिसम्पत्ति, सेवाकर्ता (उपदेशक या अनुयायी) एवं सेव्य भगवत्स्वरूप का निजी अथवा पारिवारिक होना एक अनुल्लंघ्य धार्मिक अनिवार्यता है. अतः इनमेंसे किसीको भी सार्वजनिक बनाना सर्वथा धर्मविरुद्ध होनेसे एक घोर धार्मिक अपराध है.

...वाल्लभ सम्प्रदायके सिद्धान्तके अनुसार निजघरमें निजधनको तथा निज परिवारजनोंको भगवत्स्वरूपकी सेवामें उपयोगमें लाना ही आराधनाका वास्तविक स्वरूप है. ...अतः निजघरमें निजधनके विनियोग द्वारा तथा निजपरिवारके जनोंके सहयोग बिना की जाती आराधना, वाल्लभ सम्प्रदायकी आराधनाकी परिभाषाके अनुसार, आराधना ही नहीं है. ऐसी स्थितिमें हमारे घरोंमें आती जनताद्वारा हमारे सेव्य भगवत्स्वरूपके दर्शन करना या भेंट चढाना आदि आचरण आराधनाके अन्तर्गत मान्य क्रियाकलाप नहीं है.

...यदि निज घरमें न किया जाता हो तो ऐसे भगवद्भजनको पुष्टिमार्गीय परिभाषामें भगवद्भजन ही नहीं कहा जा सकता है. पुष्टिमार्गमें निजघरमें रहकर भगवद्भजन करनेके प्रकारके अलावा अन्य कोई प्रकार भगवद्भजनका हैहीनहीं.

...भेंट धरे हुए धनसे भोग धरी हुई सामग्रीका प्रसादत्वेन ग्रहण हमारे यहां सर्वथा वर्जित है. ...सार्वजनिक मंदिरमें दर्शनार्थी जनताके प्रतिनिधिके रूपमें सेवा करनेकी प्रक्रियाको न तो वाल्लभ सम्प्रदायमें अवकाश है और न वैसा आचरण सिद्धांततः प्रशंसनीय ही है. भगवत्सेवाका अनुष्ठान न तो नौकरी और न धंधा के रूपमें किया जा सकता है.

...श्रीमहाप्रभु सभी पुष्टिमार्गीयोंको सैद्धान्तिक निष्ठा स्वधर्मानुसरणका सामर्थ्य तथा पारस्परिक सौमनस्य प्रदान करें. ... सभी पुष्टिमार्गीयके निजघरोंमें बिराजमान सेव्यस्वरूप सर्वदा निजी ही रहें, कभी सार्वजनिक न बन जायें. ''बुद्धिप्रेरक कृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु''.

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको भरत शाह, राजपारडी के सादर प्रणाम)

***

पू.पा.गो.श्रीवल्लभरायजी महाराज (सुरत)

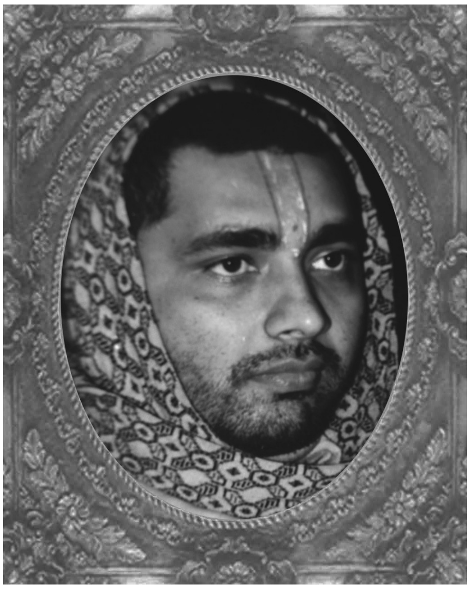

प्रश्न:अपने सम्प्रदायमें मन्दिरकुं 'मन्दिर' न कहके 'हवेली' क्यों कह्यो जावे है?

उत्तर:सामान्यतया इतर हिन्दु-सम्प्रदायमें 'मन्दिर' शब्द देवालयके अर्थमें प्रयुक्त होवे है परन्तु ऐसे देवालयके रूपमें मन्दिर जैसी संस्थाको पुष्टिमार्गमें अस्तित्व ही नहीं है. क्योंकि पुष्टिमार्गमें अपने माथे जो प्रभु पधराये जावे हैं वे प्रभुस्वरूप और उनकी सेवा हरेकक्‌ु व्यक्तिगतरूपमें वाकी भावनाके अनुसार पधराये जावे हैं. स्वयंके श्रीठाकुरजीकी सेवा पुष्टिमार्गीय जीवको एकमात्र स्वयंको कर्तव्य बन जातो स्वयंको ही धर्माचरण है. पुष्टिमार्गमें सेवा

सामुहिक जीवनको विषय नहीं परन्तु व्यक्तिगत जीवनको विषय है. जेसे लोकमें पत्नी अथवा माता को पति अथवा पुत्र की सेवा या वात्सल्य प्रदान करवेको वाको व्यक्तिगत धर्म उत्तरदायित्व और अधिकार होवे है वा ही तरह जा सेवकके जो सेव्यस्वरूप होवे हैं वा सेव्यस्वरूपकी सेवा वाको व्यक्तिगत धर्म और अधिकार होवे है. सेवा कोई सार्वजनिक कार्य या सार्वजनिक प्रवृत्ति नहीं परन्तु सेवा तो स्वयंके आन्तरिक जीवनके साथ सम्बन्ध रखवेवाली बात होवेसूं स्वयंके जीवनकी स्वयंके घरमें की जावेवाली धर्मरूप प्रवृत्ति है... अतः इतर हवेलीन्की तरह जैसे 'श्रीनाथजीको मन्दिर' शब्द, रूढ़ हो गयो होवेसूं, प्रयोग कियो जावे है. वस्तुतः तो सामुहिक दर्शन या सेवा जहां की जाती होय ऐसे अन्यमार्गीय सार्वजनिक देवस्थान जैसो वो मन्दिर नहीं है.

('पुष्टिने शीतल छांयडे' पृ.सं.१५७-१५८)

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको नारायण मारडीया, सुरत के सादर प्रणाम)

***

पू.पा.गो.श्रीहरिरायजी महाराज (पोरबंदर)

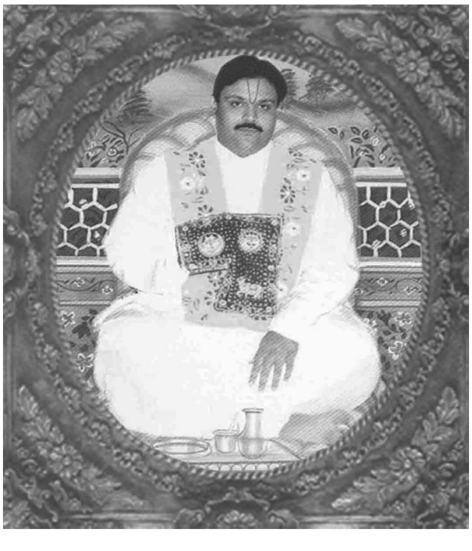

...जहां तक सिद्धान्तके निश्चित स्वरूप या व्याख्या का प्रश्न है, हम सभी धर्माचार्य, हमारे सम्प्रदायके प्रवर्तक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य तथा परवर्ती अन्य भी मान्य सभी व्याख्याकारोंके सन्देहरहित विधानोंके आधारपर, यह स्पष्टतम शब्दोमें घोषित करते हैं कि हमारे धार्मिक सिद्धान्त एवं परम्पराओं के अनुसार भगवत्सेवा, सेवास्थल, सेवोपयोगिसम्पत्ति, सेवाकर्ता (उपदेशक या

अनुयायी) एवं सेव्य भगवत्स्वरूप का निजी अथवा पारिवारिक होना एक अनुल्लंघ्य धार्मिक अनिवार्यता है. अतः इनमेंसे किसीको भी सार्वजनिक बनाना सर्वथा धर्मविरुद्ध होनेसे एक घोर धार्मिक अपराध है.

...वाल्लभ सम्प्रदायके सिद्धान्तके अनुसार निजघरमें निजधनको तथा निज परिवारजनोंको भगवत्स्वरूपकी सेवामें उपयोगमें लाना ही आराधनाका वास्तविक स्वरूप है. ...अतः निजघरमें निजधनके विनियोग द्वारा तथा निजपरिवारके जनोंके सहयोग बिना की जाती आराधना, वाल्लभ सम्प्रदायकी आराधनाकी परिभाषाके अनुसार, आराधना ही नहीं है. ऐसी स्थितिमें हमारे घरोंमें आती जनताद्वारा हमारे सेव्य भगवत्स्वरूपके दर्शन करना या भेंट चढाना आदि आचरण आराधनाके अन्तर्गत मान्य क्रियाकलाप नहीं है.

...यदि निज घरमें न किया जाता हो तो ऐसे भगवद्भजनको पुष्टिमार्गीय परिभाषामें भगवद्भजन ही नहीं कहा जा सकता है. पुष्टिमार्गमें निजघरमें रहकर भगवद्भजन करनेके प्रकारके अलावा अन्य कोई प्रकार भगवद्भजनका हैहीनहीं.

...भेंट धरे हुए धनसे भोग धरी हुई सामग्रीका प्रसादत्वेन ग्रहण हमारे यहां सर्वथा वर्जित है. ...सार्वजनिक मंदिरमें दर्शनार्थी जनताके प्रतिनिधिके रूपमें सेवा करनेकी प्रक्रियाको न तो वाल्लभ सम्प्रदायमें अवकाश है और न वैसा आचरण सिद्धांततः प्रशंसनीय ही है. भगवत्सेवाका अनुष्ठान न तो नौकरी और न धंधा के रूपमें किया जा सकता है.

...श्रीमहाप्रभु सभी पुष्टिमार्गीयोंको सैद्धान्तिक निष्ठा स्वधर्मानुसरणका सामर्थ्य तथा पारस्परिक सौमनस्य प्रदान करें. ... सभी पुष्टिमार्गीयके निजघरोंमें बिराजमान सेव्यस्वरूप सर्वदा निजी ही रहें, कभी सार्वजनिक न बन जायें. ‘‘बुद्धिप्रेरक कृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु’’.

(गो.श्रीहरिरायजीकी हस्ताक्षरित सम्मतिसे सुप्रिमकोर्टमें प्रस्तुत करनेकेलिये तैयार किया गया ‘‘श्रीमद्वल्लभाचार्य वंशज गोस्वामीओंका संयुक्त घोषणापत्र’’ १९८६.)

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको माया तन्ना, गोंडल के सादर प्रणाम)

***

पू.पा.गो.श्रीद्वारकेशलालजी महाराज (कामवन–सुरत)

तनुजा सेवा और वित्तजा सेवा एक ही व्यक्ति करे तब कहीं जाकर वह मानसीको सिद्ध करती है. केवल तनुजा करली या केवल वित्तजा करली तो अहन्ता–ममता दूर नहीं होगी. ... कैसे? मैं आपको एक उदाहरण देता हूं. ... जो घरसेवा करते हैं उनकेलिये तो को प्रश्न नहीं है. लेकिन यदि को वित्तजा सेवा करेगा तो समझ लीजीये कि उसने मन्दिरमें भेंट दी. मनोरथ किया. उसकी आप रसीद लेंगे. ... तब आप कहेंगे ‘‘मैने सेवा लिखायी है’’. आप कहते हैं ‘‘मैने सेवा लिखायी है’’ तब अहन्ता कहां दूर हु? अब आप मेहताजीसे क्या मांगोगे? ‘‘ये मेरी रसीद है, मेरा प्रसाद लाओ’’. तो देखीये, अहन्ता–ममतामें हम और बंध गये. तो ऐसी सेवा संसारको दूर नहीं करेगी, संसारमें बांधेगी. .... केवल यदि हम वित्तजा करते हैं तो हमारे अहंकारको बढाते हैं. और अहन्ता दूर न होगी, ममता दूर न होगी तो मानसी कैसे सिद्ध होगी? क्योंकि सभी बन्धनका मूल अहन्ता–ममता ही है. (सिद्धान्तमुक्तावली प्रवचन, भरूच, जनवरी २००५)

कोई पुरुष कृष्णसेवामें तत्पर है कि नहीं, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित है कि नहीं; और श्रीमद्भागवत पुराणके मर्मका विज्ञ है कि नहीं यह सर्वप्रथम देखना चाहिये और तभी किसी जिज्ञासुको ऐसे व्यक्तिमें गुरुबुद्धि रखकर उसके

पास जाना चाहिये.

...ऐसे गुणोंसे युक्त गुरु बलवान् कलियुगके कारण न मिले तो ... स्वयं ही भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना चाहिये. पात्रापात्रका विवेक रखे बिना यदि नामदीक्षा प्रदान की जाती है तो भगवन्नामविक्रयका दोष लगता ही है जिसके कारण दीक्षादाता अपराधी बनता है.

...एक प्रकार सेवाका यह भी हो सकता है कि वह वित्त देकर किसी अन्य पुरुषद्वारा करा ली जाये; और दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि वह कृष्णसेवा किसी दूसरेसे वित्त लेकर की जाये. ऐसे दोनों प्रकारोंसे की जाती सेवाओंसे चित्त कभी कृष्णप्रवण हो नहीं सकता. ...वह...यदि किसी अन्य तनुजासेवाकर्ता(गोस्वामी-मुखिया-ट्रस्टी)को वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें वित्त देकर करायी जाती है तब वह वित्तजा सेवा हुई जो चित्तको राजसभाव=दर्प-दम्भादिसे युक्त बना देती है, पर कृष्णप्रवण नहीं बना पाती. यदि किसी अन्यसे वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें वित्त ग्रहण करके तनुजासेवा की जाती है तब पुरोहितोंको जैसे यज्ञ-यागका फल नहीं मिलता है वैसे ही दूसरेके वित्तसे तनुजा सेवा करनेवालेको भी कृष्णप्रवणतारूप फल कभी नहीं मिलता.

...जो अपने स्वजन हों और भक्त हों ऐसोंको ही श्रीठाकुरजीके दर्शन कराने चाहिये.

...११वां अपराध: अवैष्णवके समक्ष अपने घरमें बिराजते श्रीठाकुरजीका प्रदर्शन करना. फल: एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त: श्रीठाकुरजीको पञ्चामृत स्नान कराना.

...३६वां अपराध: श्रीठाकुरजी (या श्रीभागवतजी या श्रीयमुनाजी) के नामसे (भेट, सामग्री, पोथीसेवा, या न्योछावर) मांगना. फल: सेवा सर्वथा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त: जितना मांगा या बटोरा हो उससे पांचगुना नैवेद्यका प्रभुको दान (न कि समर्पण) करना.

...आजीविका कमाने या यश पाने केलिये भी भजन(सेवा) करता हो तो उसकी क्या गति होगी? ...वह व्यक्ति भी क्लेश ही पाता है ऐसा श्रीमहाप्रभुके वचनका साफ-साफ अर्थ है. न केवल उसे ऐहिक (पारिवारिक-सामाजिक-साम्प्रदायिक) क्लेश ही होता है प्रत्युत उसके सारे पारलौकिक अधिकार एवं फल भी नष्ट हो जाते हैं ऐसे निषिद्ध आचरणके कारण...अत्यल्प भी ज्ञान हो वह तो ऐसा कुकृत्य नहीं कर सकता है.

...भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें घरमें सेवा करनेका विधान किया गया होनेसे यह सूचित होता है कि अपने घरमें बिराजते प्रभुकी सेवाको छोड़कर अन्य कहीं दर्शन-सेवा-कीर्तनादि करनेसे भक्ति सिद्ध नहीं होती है.

...भागवतका पाठ प्रयत्नपूर्वक किसी भी अन्य हेतुके बिना ही करना चाहिये. प्राण चाहे कंठमें क्यों न अटक जाये परन्तु आजीविकार्थ उसका उपयोग नहीं करना चाहिये. भागवतका आजीविकार्थ उपयोग न करके ओर जैसे भी अपना निर्वाह चले चला लेना चाहिये.

...मुख आदिके प्रक्षालनमें प्रयुक्त अपवित्र जलको एकत्रित करनेकेलिये भूमिमें जो गढ्ढे खोदे जाते हैं उनके जैसे निम्न गानोपजीवी होते हैं...इससे यह आशय प्रकट हुआ कि प्रक्षालनोच्छिष्ट गर्तपूरित जलकी तरह इन गानोपजीविओंका भाव सत्पुरुषोंकेलिये ग्राह्य नहीं होता...पुराणकथासे आजीविका चलानेवाले पौराणिक भी ऐसे गायकोंके तुल्य होते हैं...

हे श्रीवल्लभ! आपके कहे हुवे वचनसे विपरीत जो कोई कुछ कहते हैं वे सभी भ्रान्त केवल अन्धन्तम नरकको पाने वाले सहज आसुरी जीव हैं.

(गो.श्रीद्वारकेशलालजीकी सम्मतिसे पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभामें विचारार्थ प्रस्तुत की गई सिद्धान्तवचनावलीके अंश)

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको भरत शाह, उमरेठ के सादर प्रणाम)

पू.पा.गो.श्रीनवनीतलालजी महाराज (भावनगर–कामवन)

(क) कई बार प्रभु सामग्रीपर मात्र दृष्टि करते हैं, उसे अरोगते नहीं हैं. जिस प्रसादको लेनेका आमन्त्रण पहले ही दे दिया गया हो उसे... वैष्णवोंको पहलेसे निमन्त्रण भेजा जाता है कि हवेली पर दोपहर बारह बजे प्रसाद लेने आना है. यह बात ठीक नहीं है. (आश्रय, मार्च २००५, पृ.१२)

(ख) श्रीमहाप्रभुजीकी स्पष्ट आज्ञा है कि प्रत्येक वैष्णवका मुख्य कर्तव्य प्रभुसेवा है. अपने घरमें बिराजते प्रभुकी सेवा करना ही वैष्णवका परम धर्म है... ''हम घरमें सेवा नहीं कर सकते, नित्य पाठादि भी नहीं हो पाते हैं इसलिये नियमित मन्दिरमें दर्शन कर आते हैं'' यह तो मन मनानेकी बात है. यह विचार ठीक नहीं है. सेवा नित्यनियम अवश्य करने चाहिये. सेवाका विकल्प मन्दिर जाना नहीं हो सकता. (आश्रय, फेब्रुआरी २००५, पृ.१२)

(ग) कोई पुरुष कृष्णसेवामें तत्पर है कि नहीं, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित है कि नहीं; और श्रीमद्भागवत पुराणके मर्मका विज्ञ है कि नहीं यह सर्वप्रथम देखना चाहिये और तभी किसी जिज्ञासुको ऐसे व्यक्तिमें गुरुबुद्धि रखकर उसके पास जाना चाहिये.

...ऐसे गुणोंसे युक्त गुरु बलवान् कलियुगके कारण न मिले तो ... स्वयं ही भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना चाहिये. पात्रापात्रका विवेक रखे बिना यदि नामदीक्षा प्रदान की जाती है तो भगवन्नामविक्रयका दोष लगता ही है जिसके कारण दीक्षादाता अपराधी बनता है.

...एक प्रकार सेवाका यह भी हो सकता है कि वह वित्त देकर किसी अन्य पुरुषद्वारा करा ली जाये; और दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि वह

कृष्णसेवा किसी दूसरेसे वित्त लेकर की जाये. ऐसे दोनों प्रकारोंसे की जाती सेवाओंसे चित्त कभी कृष्णप्रवण हो नहीं सकता. ...वह...यदि किसी अन्य तनुजासेवाकर्ता(गोस्वामी-मुखिया-ट्रस्टी)को वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें वित्त देकर करायी जाती है तब वह वित्तजा सेवा हुई जो चित्तको राजसभाव=दर्प-दम्भादिसे युक्त बना देती है, पर कृष्णप्रवण नहीं बना पाती. यदि किसी अन्यसे वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें वित्त ग्रहण करके तनुजासेवा की जाती है तब पुरोहितोंको जैसे यज्ञ-यागका फल नहीं मिलता है वैसे ही दूसरेके वित्तसे तनुजा सेवा करनेवालेको भी कृष्णप्रवणतारूप फल कभी नहीं मिलता.

...जो अपने स्वजन हों और भक्त हों ऐसोंको ही श्रीठाकुरजीके दर्शन कराने चाहिये.

...११वां अपराध: अवैष्णवके समक्ष अपने घरमें बिराजते श्रीठाकुरजीका प्रदर्शन करना. फल: एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त: श्रीठाकुरजीको पञ्चामृत स्नान कराना.

...३६वां अपराध: श्रीठाकुरजी (या श्रीभागवतजी या श्रीयमुनाजी) के नामसे (भेट, सामग्री, पोथीसेवा, या न्योछावर) मांगना. फल: सेवा सर्वथा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त: जितना मांगा या बटोरा हो उससे पांचगुना नैवेद्यका प्रभुको दान (न कि समर्पण) करना.

...आजीविका कमाने या यश पाने केलिये भी भजन(सेवा) करता हो तो उसकी क्या गति होगी? ...वह व्यक्ति भी क्लेश ही पाता है ऐसा श्रीमहाप्रभुके वचनका साफ-साफ अर्थ है. न केवल उसे ऐहिक (पारिवारिक-सामाजिक-साम्प्रदायिक) क्लेश ही होता है प्रत्युत उसके सारे पारलौकिक अधिकार एवं फल भी नष्ट हो जाते हैं ऐसे निषिद्ध आचरणके कारण...अत्यल्प भी ज्ञान हो वह तो ऐसा कुकृत्य नहीं कर सकता है.

...भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें घरमें सेवा करनेका विधान किया गया होनेसे

यह सूचित होता है कि अपने घरमें बिराजते प्रभुकी सेवाको छोड़कर अन्य कहीं दर्शन–सेवा–कीर्तनादि करनेसे भक्ति सिद्ध नहीं होती है.

...भागवतका पाठ प्रयत्नपूर्वक किसी भी अन्य हेतुके बिना ही करना चाहिये. प्राण चाहे कंठमें क्यों न अटक जाये परन्तु आजीविकार्थ उसका उपयोग नहीं करना चाहिये. भागवतका आजीविकार्थ उपयोग न करके ओर जैसे भी अपना निर्वाह चले चला लेना चाहिये.

...मुख आदिके प्रक्षालनमें प्रयुक्त अपवित्र जलको एकत्रित करनेकेलिये भूमिमें जो गड्ढे खोदे जाते हैं उनके जैसे निम्न गानोपजीवी होते हैं...इससे यह आशय प्रकट हुआ कि प्रक्षालनोच्छिष्ट गर्तपूरित जलकी तरह इन गानोपजीविओंका भाव सत्पुरुषोंकेलिये ग्राह्य नहीं होता...पुराणकथासे आजीविका चलानेवाले पौराणिक भी ऐसे गायकोंके तुल्य होते हैं...

हे श्रीवल्लभ! आपके कहे हुवे वचनसे विपरीत जो कोई कुछ कहते हैं वे सभी भ्रान्त केवल अन्धन्तम नरकको पाने वाले सहज आसुरी जीव हैं.

(गो.श्रीनवनीतलालजीकी सम्मतिसे पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभामें विचारार्थ प्रस्तुत की गई सिद्धान्तवचनावलीके अंश)

***

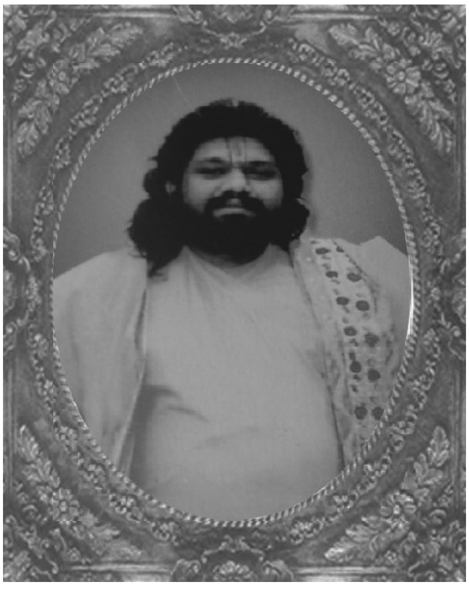

पंचमगृहाधीश

पू.पा.गो.श्रीवल्लभलालजी महाराज (श्रीविकिबावा)

(कामवन–वल्लभविद्यानगर)

कोई पुरुष कृष्णसेवामें तत्पर है कि नहीं, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित है कि नहीं; और श्रीमद्भागवत पुराणके मर्मका विज्ञ है कि नहीं यह सर्वप्रथम देखना चाहिये और तभी किसी

जिज्ञासुको ऐसे व्यक्तिमें गुरुबुद्धि रखकर उसके पास जाना चाहिये.

...ऐसे गुणोंसे युक्त गुरु बलवान् कलियुगके कारण न मिले तो ... स्वयं ही भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना चाहिये. पात्रापात्रका विवेक रखे बिना यदि नामदीक्षा प्रदान की जाती है तो भगवन्नामविक्रयका दोष लगता ही है जिसके कारण दीक्षादाता अपराधी बनता है.

...एक प्रकार सेवाका यह भी हो सकता है कि वह वित्त देकर किसी अन्य पुरुषद्वारा करा ली जाये; और दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि वह कृष्णसेवा किसी दूसरेसे वित्त लेकर की जाये. ऐसे दोनों प्रकारोंसे की जाती सेवाओंसे चित्त कभी कृष्णप्रवण हो नहीं सकता. ...वह...यदि किसी अन्य तनुजासेवाकर्ता(गोस्वामी-मुखिया-ट्रस्टी)को वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें वित्त देकर करायी जाती है तब वह वित्तजा सेवा हुई जो चित्तको राजसभाव=दर्प-दम्भादिसे युक्त बना देती है, पर कृष्णप्रवण नहीं बना पाती. यदि किसी अन्यसे वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें वित्त ग्रहण करके तनुजासेवा की जाती है तब पुरोहितोंको जैसे यज्ञ-यागका फल नहीं मिलता है वैसे ही दूसरेके वित्तसे तनुजा सेवा करनेवालेको भी कृष्णप्रवणतारूप फल कभी नहीं मिलता.

...जो अपने स्वजन हों और भक्त हों ऐसोंको ही श्रीठाकुरजीके दर्शन कराने चाहिये.

...११वां अपराध: अवैष्णवके समक्ष अपने घरमें बिराजते श्रीठाकुरजीका प्रदर्शन करना. फल: एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त: श्रीठाकुरजीको पञ्चामृत स्नान कराना.

...३६वां अपराध: श्रीठाकुरजी (या श्रीभागवतजी या श्रीयमुनाजी) के नामसे (भेट, सामग्री, पोथीसेवा, या न्योछावर) मांगना. फल: सेवा सर्वथा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त: जितना मांगा या बटोरा हो उससे पांचगुना नैवेद्यका प्रभुको दान (न कि समर्पण) करना.

...आजीविका कमाने या यश पाने केलिये भी भजन(सेवा) करता हो तो उसकी क्या गति होगी? ...वह व्यक्ति भी क्लेश ही पाता है ऐसा श्रीमहाप्रभुके वचनका साफ-साफ अर्थ है. न केवल उसे ऐहिक (पारिवारिक-सामाजिक-साम्प्रदायिक) क्लेश ही होता है प्रत्युत उसके सारे पारलौकिक अधिकार एवं फल भी नष्ट हो जाते हैं ऐसे निषिद्ध आचरणके कारण...अत्यल्प भी ज्ञान हो वह तो ऐसा कुकृत्य नहीं कर सकता है.

...भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें घरमें सेवा करनेका विधान किया गया होनेसे यह सूचित होता है कि अपने घरमें बिराजते प्रभुकी सेवाको छोड़कर अन्य कहीं दर्शन-सेवा-कीर्तनादि करनेसे भक्ति सिद्ध नहीं होती है.

...भागवतका पाठ प्रयत्नपूर्वक किसी भी अन्य हेतुके बिना ही करना चाहिये. प्राण चाहे कंठमें क्यों न अटक जाये परन्तु आजीविकार्थ उसका उपयोग नहीं करना चाहिये. भागवतका आजीविकार्थ उपयोग न करके ओर जैसे भी अपना निर्वाह चले चला लेना चाहिये.

...मुख आदिके प्रक्षालनमें प्रयुक्त अपवित्र जलको एकत्रित करनेकेलिये भूमिमें जो गड्ढे खोदे जाते हैं उनके जैसे निम्न गानोपजीवी होते हैं...इससे यह आशय प्रकट हुआ कि प्रक्षालनोच्छिष्ट गर्तपूरित जलकी तरह इन गानोपजीविओंका भाव सत्पुरुषोंकेलिये ग्राह्य नहीं होता...पुराणकथासे आजीविका चलानेवाले पौराणिक भी ऐसे गायकोंके तुल्य होते हैं...

हे श्रीवल्लभ! आपके कहे हुवे वचनसे विपरीत जो कोई कुछ कहते हैं वे सभी भ्रान्त केवल अन्धन्तम नरकको पाने वाले सहज आसुरी जीव हैं.

(गो.श्रीवल्लभलालजीकी हस्ताक्षरित सम्मतिसे पुष्टिसिद्धान्त चर्चासभामें विचारार्थ प्रस्तुत की गई सिद्धान्तवचनावलीके अंश)

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको रासेश शाह, अंकलेश्वर के सादर प्रणाम)

पू.पा.गो.श्रीरमेशकुमारजी महाराज
(मुलुंड)
पू.पा.गो.श्रीनीरजकुमारजी महाराज
(मुंबई-वापी-हैदराबाद)

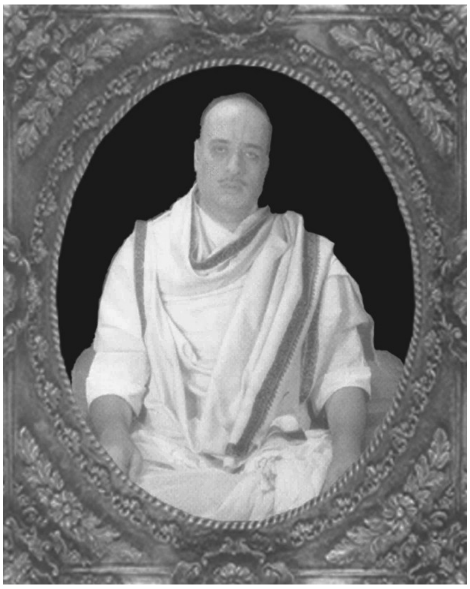

...जहां तक सिद्धान्तके निश्चित स्वरूप या व्याख्या का प्रश्न है, हम सभी धर्माचार्य, हमारे सम्प्रदायके प्रवर्तक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य तथा परवर्ती अन्य भी मान्य सभी व्याख्याकारोंके सन्देहरहित विधानोंके आधारपर, यह स्पष्टतम शब्दोमें घोषित करते हैं कि हमारे धार्मिक सिद्धान्त एवं परम्पराओं के अनुसार भगवत्सेवा, सेवास्थल, सेवोपयोगिसम्पत्ति, सेवाकर्ता (उपदेशक या अनुयायी) एवं सेव्य भगवत्स्वरूप का निजी अथवा पारिवारिक होना एक अनुल्लंघ्य धार्मिक अनिवार्यता है. अतः इनमेंसे किसीको भी सार्वजनिक बनाना सर्वथा धर्मविरुद्ध होनेसे एक घोर धार्मिक अपराध है.

...वाल्लभ सम्प्रदायके सिद्धान्तके अनुसार निजघरमें निजधनको तथा निज परिवारजनोंको भगवत्स्वरूपकी सेवामें उपयोगमें लाना ही आराधनाका वास्तविक स्वरूप है. ...अतः निजघरमें निजधनके विनियोग द्वारा तथा निजपरिवारके जनोंके सहयोग बिना की जाती आराधना, वाल्लभ सम्प्रदायकी आराधनाकी परिभाषाके अनुसार, आराधना ही नहीं है. ऐसी स्थितिमें हमारे घरोंमें आती जनताद्वारा हमारे सेव्य भगवत्स्वरूपके दर्शन करना या भेंट चढाना आदि आचरण आराधनाके अन्तर्गत मान्य क्रियाकलाप नहीं है.

...यदि निज घरमें न किया जाता हो तो ऐसे भगवद्भजनको पुष्टिमार्गीय परिभाषामें भगवद्भजन ही नहीं कहा जा सकता है. पुष्टिमार्गमें

निजघरमें रहकर भगवद्भजन करनेके प्रकारके अलावा अन्य कोई प्रकार भगवद्भजनका हैहीनहीं.

...भेंट धरे हुए धनसे भोग धरी हुई सामग्रीका प्रसादत्वेन ग्रहण हमारे यहां सर्वथा वर्जित है. ...सार्वजनिक मंदिरमें दर्शनार्थी जनताके प्रतिनिधिके रूपमें सेवा करनेकी प्रक्रियाको न तो वाल्लभ सम्प्रदायमें अवकाश है और न वैसा आचरण सिद्धांततः प्रशंसनीय ही है. भगवत्सेवाका अनुष्ठान न तो नौकरी और न धंधा के रूपमें किया जा सकता है.

...श्रीमहाप्रभु सभी पुष्टिमार्गीयोंको सैद्धान्तिक निष्ठा स्वधर्मानुसरणका सामर्थ्य तथा पारस्परिक सौमनस्य प्रदान करें. ... सभी पुष्टिमार्गीयके निजघरोंमें बिराजमान सेव्यस्वरूप सर्वदा निजी ही रहें, कभी सार्वजनिक न बन जायें. ‘‘बुद्धिप्रेरक कृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु’’.

(गो.श्रीरमेशकुमारजी तथा गो.श्रीनीरजकुमारजी की हस्ताक्षरित सम्मतिसे सुप्रिमकोर्टमें प्रस्तुत करनेकेलिये तैयार किया गया ‘‘श्रीमद्वल्लभाचार्य वंशज गोस्वामीओंका संयुक्त घोषणापत्र’’ १९८६.)

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको सुधीर शेठ, वापी के सादर प्रणाम)

***

पू.पा.गो.श्रीमाधवरायजी महाराज (वेरावल)

कोई पुरुष कृष्णसेवामें तत्पर है कि नहीं, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित है कि नहीं; और श्रीमद्भागवत पुराणके मर्मका विज्ञ है कि नहीं यह सर्वप्रथम

देखना चाहिये और तभी किसी जिज्ञासुको ऐसे व्यक्तिमें गुरुबुद्धि रखकर उसके पास जाना चाहिये.

...ऐसे गुणोंसे युक्त गुरु बलवान् कलियुगके कारण न मिले तो ... स्वयं ही भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना चाहिये. पात्रापात्रका विवेक रखे बिना यदि नामदीक्षा प्रदान की जाती है तो भगवन्नामविक्रयका दोष लगता ही है जिसके कारण दीक्षादाता अपराधी बनता है.

...एक प्रकार सेवाका यह भी हो सकता है कि वह वित्त देकर किसी अन्य पुरुषद्वारा करा ली जाये; और दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि वह कृष्णसेवा किसी दूसरेसे वित्त लेकर की जाये. ऐसे दोनों प्रकारोंसे की जाती सेवाओंसे चित्त कभी कृष्णप्रवण हो नहीं सकता. ...वह...यदि किसी अन्य तनुजासेवाकर्ता(गोस्वामी-मुखिया-ट्रस्टी)को वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें वित्त देकर करायी जाती है तब वह वित्तजा सेवा हुई जो चित्तको राजसभाव=दर्प-दम्भादिसे युक्त बना देती है, पर कृष्णप्रवण नहीं बना पाती. यदि किसी अन्यसे वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें वित्त ग्रहण करके तनुजासेवा की जाती है तब पुरोहितोंको जैसे यज्ञ-यागका फल नहीं मिलता है वैसे ही दूसरेके वित्तसे तनुजा सेवा करनेवालेको भी कृष्णप्रवणतारूप फल कभी नहीं मिलता.

...जो अपने स्वजन हों और भक्त हों ऐसोंको ही श्रीठाकुरजीके दर्शन कराने चाहिये.

...११वां अपराध: अवैष्णवके समक्ष अपने घरमें बिराजते श्रीठाकुरजीका प्रदर्शन करना. फल: एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त: श्रीठाकुरजीको पञ्चामृत स्नान कराना.

...३६वां अपराध: श्रीठाकुरजी (या श्रीभागवतजी या श्रीयमुनाजी) के नामसे (भेट, सामग्री, पोथीसेवा, या न्योछावर) मांगना. फल: सेवा सर्वथा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त: जितना मांगा या बटोरा हो उससे पांचगुना

नैवेद्यका प्रभुको दान (न कि समर्पण) करना.

...आजीविका कमाने या यश पाने केलिये भी भजन(सेवा) करता हो तो उसकी क्या गति होगी? ...वह व्यक्ति भी क्लेश ही पाता है ऐसा श्रीमहाप्रभुके वचनका साफ-साफ अर्थ है. न केवल उसे ऐहिक (पारिवारिक-सामाजिक-साम्प्रदायिक) क्लेश ही होता है प्रत्युत उसके सारे पारलौकिक अधिकार एवं फल भी नष्ट हो जाते हैं ऐसे निषिद्ध आचरणके कारण...अत्यल्प भी ज्ञान हो वह तो ऐसा कुकृत्य नहीं कर सकता है.

...भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें घरमें सेवा करनेका विधान किया गया होनेसे यह सूचित होता है कि अपने घरमें बिराजते प्रभुकी सेवाको छोड़कर अन्य कहीं दर्शन-सेवा-कीर्तनादि करनेसे भक्ति सिद्ध नहीं होती है.

...भागवतका पाठ प्रयत्नपूर्वक किसी भी अन्य हेतुके बिना ही करना चाहिये. प्राण चाहे कंठमें क्यों न अटक जाये परन्तु आजीविकार्थ उसका उपयोग नहीं करना चाहिये. भागवतका आजीविकार्थ उपयोग न करके ओर जैसे भी अपना निर्वाह चले चला लेना चाहिये.

...मुख आदिके प्रक्षालनमें प्रयुक्त अपवित्र जलको एकत्रित करनेकेलिये भूमिमें जो गड्ढे खोदे जाते हैं उनके जैसे निम्न गानोपजीवी होते हैं...इससे यह आशय प्रकट हुआ कि प्रक्षालनोच्छिष्ट गर्तपूरित जलकी तरह इन गानोपजीविओंका भाव सत्पुरुषोंकेलिये ग्राह्य नहीं होता...पुराणकथासे आजीविका चलानेवाले पौराणिक भी ऐसे गायकोंके तुल्य होते हैं...

हे श्रीवल्लभ! आपके कहे हुवे वचनसे विपरीत जो कोई कुछ कहते हैं वे सभी भ्रान्त केवल अन्धन्तम नरकको पाने वाले सहज आसुरी जीव हैं.

(गो.श्रीमाधवरायजीकी हस्ताक्षरित सम्मतिसे पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभामें विचारार्थ प्रस्तुत की गई सिद्धान्तवचनावलीके अंश)

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको कैलाश लक्ष्मीदास मकवाणा, डुमरा के सादर प्रणाम)

पू.पा.गो.श्रीशरद्कुमारजी श्रीमुरलीधरजी
पू.पा.गो.श्रीचन्द्रगोपालजी श्रीमुरलीधरजी

(वेरावल–पोरबंदर)

...जहां तक सिद्धान्तके निश्चित स्वरूप या व्याख्या का प्रश्न है, हम सभी धर्माचार्य, हमारे सम्प्रदायके प्रवर्तक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य तथा परवर्ती अन्य भी मान्य सभी व्याख्याकारोंके सन्देहरहित विधानोंके आधारपर, यह स्पष्टतम शब्दोमें घोषित करते हैं कि हमारे धार्मिक सिद्धान्त एवं परम्पराओं के अनुसार भगवत्सेवा, सेवास्थल, सेवोपयोगिसम्पत्ति, सेवाकर्ता (उपदेशक या अनुयायी) एवं सेव्य भगवत्स्वरूप का निजी अथवा पारिवारिक होना एक अनुल्लंघ्य धार्मिक अनिवार्यता है. अतः इनमेंसे किसीको भी सार्वजनिक बनाना सर्वथा धर्मविरुद्ध होनेसे एक घोर धार्मिक अपराध है.

...वाल्लभ सम्प्रदायके सिद्धान्तके अनुसार निजघरमें निजधनको तथा निज परिवारजनोंको भगवत्स्वरूपकी सेवामें उपयोगमें लाना ही आराधनाका वास्तविक स्वरूप है. ...अतः निजघरमें निजधनके विनियोग द्वारा तथा निजपरिवारके जनोंके सहयोग बिना की जाती आराधना, वाल्लभ सम्प्रदायकी आराधनाकी परिभाषाके अनुसार, आराधना ही नहीं है. ऐसी स्थितिमें हमारे घरोंमें आती जनताद्वारा हमारे सेव्य भगवत्स्वरूपके दर्शन करना या भेंट चढाना आदि आचरण आराधनाके अन्तर्गत मान्य क्रियाकलाप नहीं है.

...यदि निज घरमें न किया जाता हो तो ऐसे भगवद्भजनको पुष्टिमार्गीय परिभाषामें भगवद्भजन ही नहीं कहा जा सकता है. पुष्टिमार्गमें

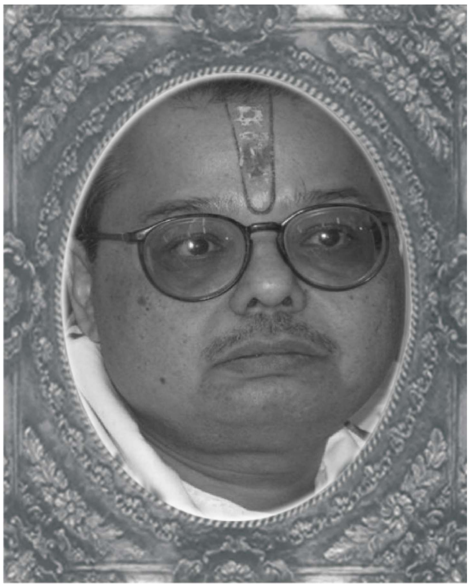

निजघरमें रहकर भगवद्भजन करनेके प्रकारके अलावा अन्य कोई प्रकार भगवद्भजनका हैहीनहीं.

...भेंट धरे हुए धनसे भोग धरी हुई सामग्रीका प्रसादत्वेन ग्रहण हमारे यहां सर्वथा वर्जित है. ...सार्वजनिक मंदिरमें दर्शनार्थी जनताके प्रतिनिधिके रूपमें सेवा करनेकी प्रक्रियाको न तो वाल्लभ सम्प्रदायमें अवकाश है और न वैसा आचरण सिद्धांततः प्रशंसनीय ही है. भगवत्सेवाका अनुष्ठान न तो नौकरी और न धंधा के रूपमें किया जा सकता है.

...श्रीमहाप्रभु सभी पुष्टिमार्गीयोंको सैद्धान्तिक निष्ठा स्वधर्मानुसरणका सामर्थ्य तथा पारस्परिक सौमनस्य प्रदान करें. ... सभी पुष्टिमार्गीयके निजघरोंमें बिराजमान सेव्यस्वरूप सर्वदा निजी ही रहें, कभी सार्वजनिक न बन जायें. ''बुद्धिप्रेरक कृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु''.

(गो.श्रीशीलूबावा तथा गो.श्रीचंदुबावाकी हस्ताक्षरित सम्मतिसे सुप्रिमकोर्टमें प्रस्तुत करनेकेलिये तैयार किया गया ''श्रीमद्वल्लभाचार्य वंशज गोस्वामीओंका संयुक्त घोषणापत्र'' १९८६.)

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुघरको लक्ष्मीदास मकवाणा, डुमरा के सादर प्रणाम)

***

पू.पा.गो.श्रीअजयकुमारजी महाराज (मद्रास–पूना)

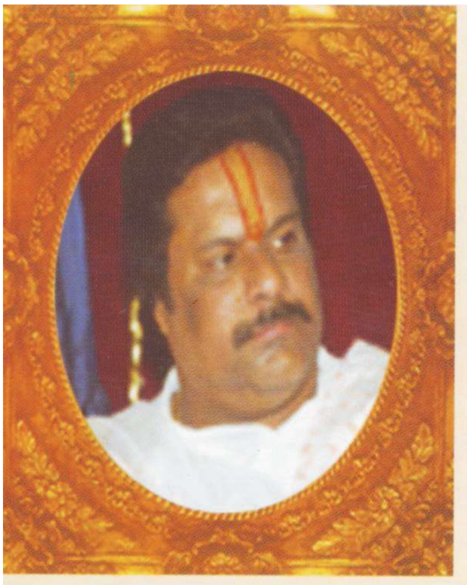

...जहां तक सिद्धान्तके निश्चित स्वरूप या व्याख्या का प्रश्न है, हम सभी धर्माचार्य, हमारे सम्प्रदायके प्रवर्तक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य तथा परवर्ती अन्य भी मान्य सभी व्याख्याकारोंके सन्देहरहित विधानोंके आधारपर, यह स्पष्टतम शब्दोंमें घोषित करते हैं कि हमारे धार्मिक सिद्धान्त एवं परम्पराओं के अनुसार भगवत्सेवा, सेवास्थल, सेवोपयोगिसम्पत्ति, सेवाकर्ता (उपदेशक या अनुयायी) एवं सेव्य भगवत्स्वरूप का निजी अथवा पारिवारिक होना एक अनुल्लंघ्य धार्मिक अनिवार्यता है. अतः इनमेंसे किसीको भी सार्वजनिक बनाना सर्वथा धर्मविरुद्ध होनेसे एक घोर धार्मिक अपराध है.

...वाल्लभ सम्प्रदायके सिद्धान्तके अनुसार निजघरमें निजधनको तथा निज परिवारजनोंको भगवत्स्वरूपकी सेवामें उपयोगमें लाना ही आराधनाका वास्तविक स्वरूप है. ...अतः निजघरमें निजधनके विनियोग द्वारा तथा निजपरिवारके जनोंके सहयोग बिना की जाती आराधना, वाल्लभ सम्प्रदायकी आराधनाकी परिभाषाके अनुसार, आराधना ही नहीं है. ऐसी स्थितिमें हमारे घरोंमें आती जनताद्वारा हमारे सेव्य भगवत्स्वरूपके दर्शन करना या भेंट चढाना आदि आचरण आराधनाके अन्तर्गत मान्य क्रियाकलाप नहीं है.

...यदि निज घरमें न किया जाता हो तो ऐसे भगवद्भजनको पुष्टिमार्गीय परिभाषामें भगवद्भजन ही नहीं कहा जा सकता है. पुष्टिमार्गमें निजघरमें रहकर भगवद्भजन करनेके प्रकारके अलावा अन्य कोई प्रकार भगवद्भजनका हैहीनहीं.

...भेंट धरे हुए धनसे भोग धरी हुई सामग्रीका प्रसादत्वेन ग्रहण हमारे यहां सर्वथा वर्जित है. ...सार्वजनिक मंदिरमें दर्शनार्थी जनताके प्रतिनिधिके रूपमें सेवा करनेकी प्रक्रियाको न तो वाल्लभ सम्प्रदायमें अवकाश है और न वैसा आचरण सिद्धांततः प्रशंसनीय ही है. भगवत्सेवाका अनुष्ठान न तो नौकरी और न धंधा के रूपमें किया जा सकता है.

...श्रीमहाप्रभु सभी पुष्टिमार्गीयोंको सैद्धान्तिक निष्ठा स्वधर्मानुसरणका सामर्थ्य तथा पारस्परिक सौमनस्य प्रदान करें. ... सभी पुष्टिमार्गीयके निजघरोंमें बिराजमान सेव्यस्वरूप सर्वदा निजी ही रहें, कभी सार्वजनिक न बन जायें. ‘‘बुद्धिप्रेरक कृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु’’.

(गो.श्रीअजयकुमारजीकी हस्ताक्षरित सम्मतिसे सुप्रिमकोर्टमें प्रस्तुत करनेकेलिये तैयार किया गया ‘‘श्रीमद्वल्लभाचार्य वंशज गोस्वामीओंका संयुक्त घोषणापत्र’’ १९८६.)

***

षष्ठगृहाधीश

पू.पा.गो.चि.श्रीद्वारकेशलालजी महोदय (वडोदरा)

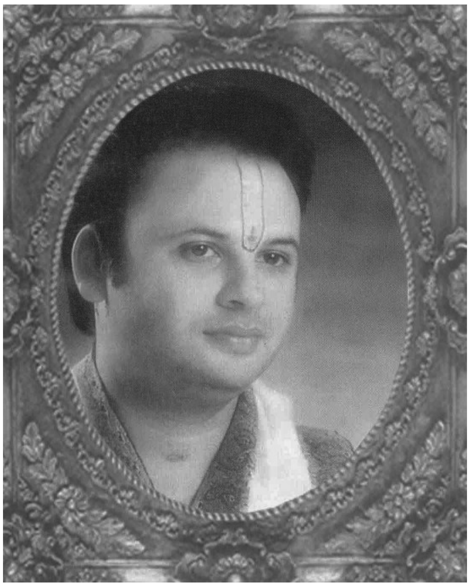

चित्त भगवत्प्रेममें परिपूर्ण होइ जाय, पूर्णतः भगवान्में लगि जाय, तन्मय अरु तल्लीन होइ जाय है तब परासेवा होत है. याकों मानसी सेवा कह्यो जाय है. याके सङ्ग मनुष्यकों शरीरसों हु सेवा करनी चहिये. ... तनुजा सेवासों शरीरकी शुद्धि होत है. अहन्ता-अहंपनेंको नाश होत है. धनसों करी जाती सेवा ‘वित्तजा’सेवा है. वासों ममता-मेरोपेनेंको नाश होत है. अहन्ता अरु ममता एक-दूसरेके सङ्ग जुडे भये रहत हैं तासों

तनुजा अरु वित्तजा सेवा एकसङ्ग करनी चहिये. यामें प्रधानता तनुजा सेवाकी है. केवल धन दे देवेसों सेवा होत नाहीं है. वासों तो (चित्तमें)राजसी वृत्ति होत है. **(श्रीमद्भगवद्गीता पुष्टिदर्शन, पृ.१२५)**

(पुष्टिमार्गमें आ जाने पर भी अपसिद्धान्तके प्रवाहमें बहे जाते मेरे जैसे पामर जीवको ऐसे शुद्ध सिद्धान्तोंको समझाकर पुनः पुष्टिपथपर आरूढ करनेवाले पूज्य गुरुदेवको स्मित शाह, हालोल के सादर प्रणाम)

***

पू.पा.गो.श्रीश्यामसुंदरजी महाराज
पू.पा.गो.श्रीव्रजप्रियजी महाराज
(बोरीवली)

...जहां तक सिद्धान्तके निश्चित स्वरूप या व्याख्या का प्रश्न है, हम सभी धर्माचार्य, हमारे सम्प्रदायके प्रवर्तक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य तथा परवर्ती अन्य भी मान्य सभी व्याख्याकारोंके सन्देहरहित विधानोंके आधारपर, यह स्पष्टतम शब्दोमें घोषित करते हैं कि हमारे धार्मिक सिद्धान्त एवं परम्पराओं के अनुसार भगवत्सेवा, सेवास्थल, सेवोपयोगिसम्पत्ति, सेवाकर्ता (उपदेशक या अनुयायी) एवं सेव्य भगवत्स्वरूप का निजी अथवा पारिवारिक होना एक अनुल्लंघ्य धार्मिक अनिवार्यता है. अतः इनमेंसे किसीको भी सार्वजनिक बनाना सर्वथा धर्मविरुद्ध होनेसे एक घोर धार्मिक अपराध है.

...वाल्लभ सम्प्रदायके सिद्धान्तके अनुसार निजघरमें निजधनको तथा

निज परिवारजनोंको भगवत्स्वरूपकी सेवामें उपयोगमें लाना ही आराधनाका वास्तविक स्वरूप है. ...अतः निजघरमें निजधनके विनियोग द्वारा तथा निजपरिवारके जनोंके सहयोग बिना की जाती आराधना, वाल्लभ सम्प्रदायकी आराधनाकी परिभाषाके अनुसार, आराधना ही नहीं है. ऐसी स्थितिमें हमारे घरोंमें आती जनताद्वारा हमारे सेव्य भगवत्स्वरूपके दर्शन करना या भेंट चढाना आदि आचरण आराधनाके अन्तर्गत मान्य क्रियाकलाप नहीं है.

...यदि निज घरमें न किया जाता हो तो ऐसे भगवद्भजनको पुष्टिमार्गीय परिभाषामें भगवद्भजन ही नहीं कहा जा सकता है. पुष्टिमार्गमें निजघरमें रहकर भगवद्भजन करनेके प्रकारके अलावा अन्य कोई प्रकार भगवद्भजनका हैहीनहीं.

...भेंट धरे हुए धनसे भोग धरी हुई सामग्रीका प्रसादत्वेन ग्रहण हमारे यहां सर्वथा वर्जित है. ...सार्वजनिक मंदिरमें दर्शनार्थी जनताके प्रतिनिधिके रूपमें सेवा करनेकी प्रक्रियाको न तो वाल्लभ सम्प्रदायमें अवकाश है और न वैसा आचरण सिद्धांततः प्रशंसनीय ही है. भगवत्सेवाका अनुष्ठान न तो नौकरी और न धंधा के रूपमें किया जा सकता है.

...श्रीमहाप्रभु सभी पुष्टिमार्गीयोंको सैद्धान्तिक निष्ठा स्वधर्मानुसरणका सामर्थ्य तथा पारस्परिक सौमनस्य प्रदान करें. ... सभी पुष्टिमार्गीयके निजघरोंमें बिराजमान सेव्यस्वरूप सर्वदा निजी ही रहें, कभी सार्वजनिक न बन जायें. ‘‘बुद्धिप्रेरक कृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु’’.

(गो.श्रीश्यामसुंदरजी तथा गो.श्रीव्रजप्रियजी की हस्ताक्षरित सम्मतिसे सुप्रिमकोर्टमें प्रस्तुत करनेकेलिये तैयार किया गया ‘‘श्रीमद्वल्लभाचार्य वंशज गोस्वामीओंका संयुक्त घोषणापत्र’’ १९८६.)

पू.पा.गो.श्रीरसिकरायजी महाराज (पोरबंदर–उपलेटा)

कोई पुरुष कृष्णसेवामें तत्पर है कि नहीं, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित है कि नहीं; और श्रीमद्भागवत पुराणके मर्मका विज्ञ है कि नहीं यह सर्वप्रथम देखना चाहिये और तभी किसी जिज्ञासुको ऐसे व्यक्तिमें गुरुबुद्धि रखकर उसके पास जाना चाहिये.

...ऐसे गुणोंसे युक्त गुरु बलवान् कलियुगके कारण न मिले तो ... स्वयं ही भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना चाहिये. पात्रापात्रका विवेक रखे बिना यदि नामदीक्षा प्रदान की जाती है तो भगवन्नामविक्रयका दोष लगता ही है जिसके कारण दीक्षादाता अपराधी बनता है.

...एक प्रकार सेवाका यह भी हो सकता है कि वह वित्त देकर किसी अन्य पुरुषद्वारा करा ली जाये; और दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि वह कृष्णसेवा किसी दूसरेसे वित्त लेकर की जाये. ऐसे दोनों प्रकारोंसे की जाती सेवाओंसे चित्त कभी कृष्णप्रवण हो नहीं सकता. ...वह...यदि किसी अन्य तनुजासेवाकर्ता(गोस्वामी–मुखिया–ट्रस्टी)को वेतन–तनुजासेवामूल्य–के रूपमें वित्त देकर करायी जाती है तब वह वित्तजा सेवा हुई जो चित्तको राजसभाव=दर्प–दम्भादिसे युक्त बना देती है, पर कृष्णप्रवण नहीं बना पाती. यदि किसी अन्यसे वेतन–तनुजासेवामूल्य–के रूपमें वित्त ग्रहण करके तनुजासेवा की जाती है तब पुरोहितोंको जैसे यज्ञ–यागका फल नहीं मिलता है वैसे ही दूसरेके वित्तसे तनुजा सेवा करनेवालेको भी कृष्णप्रवणतारूप फल कभी नहीं मिलता.

...जो अपने स्वजन हों और भक्त हों ऐसोंको ही श्रीठाकुरजीके दर्शन कराने चाहिये.

...११वां अपराध: अवैष्णवके समक्ष अपने घरमें बिराजते श्रीठाकुरजीका प्रदर्शन करना. फल: एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त: श्रीठाकुरजीको पञ्चामृत स्नान कराना.

...३६वां अपराध: श्रीठाकुरजी (या श्रीभागवतजी या श्रीयमुनाजी) के नामसे (भेट, सामग्री, पोथीसेवा, या न्योछावर) मांगना. फल: सेवा सर्वथा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त: जितना मांगा या बटोरा हो उससे पांचगुना नैवेद्यका प्रभुको दान (न कि समर्पण) करना.

...आजीविका कमाने या यश पाने केलिये भी भजन(सेवा) करता हो तो उसकी क्या गति होगी? ...वह व्यक्ति भी क्लेश ही पाता है ऐसा श्रीमहाप्रभुके वचनका साफ-साफ अर्थ है. न केवल उसे ऐहिक (पारिवारिक-सामाजिक-साम्प्रदायिक) क्लेश ही होता है प्रत्युत उसके सारे पारलौकिक अधिकार एवं फल भी नष्ट हो जाते हैं ऐसे निषिद्ध आचरणके कारण...अत्यल्प भी ज्ञान हो वह तो ऐसा कुकृत्य नहीं कर सकता है.

...भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें घरमें सेवा करनेका विधान किया गया होनेसे यह सूचित होता है कि अपने घरमें बिराजते प्रभुकी सेवाको छोड़कर अन्य कहीं दर्शन-सेवा-कीर्तनादि करनेसे भक्ति सिद्ध नहीं होती है.

...भागवतका पाठ प्रयत्नपूर्वक किसी भी अन्य हेतुके बिना ही करना चाहिये. प्राण चाहे कंठमें क्यों न अटक जाये परन्तु आजीविकार्थ उसका उपयोग नहीं करना चाहिये. भागवतका आजीविकार्थ उपयोग न करके ओर जैसे भी अपना निर्वाह चले चला लेना चाहिये.

...मुख आदिके प्रक्षालनमें प्रयुक्त अपवित्र जलको एकत्रित करनेकेलिये भूमिमें जो गड्ढे खोदे जाते हैं उनके जैसे निम्न गानोपजीवी होते हैं...इससे यह आशय प्रकट हुआ कि प्रक्षालनोच्छिष्ट गर्तपूरित जलकी तरह इन गानोपजीविओंका भाव सत्पुरुषोंकेलिये ग्राह्य नहीं होता...पुराणकथासे आजीविका चलानेवाले पौराणिक भी ऐसे गायकोंके तुल्य होते हैं...

हे श्रीवल्लभ! आपके कहे हुवे वचनसे विपरीत जो कोई कुछ कहते हैं

वे सभी भ्रान्त केवल अन्धन्तम नरकको पाने वाले सहज आसुरी जीव हैं.

(गो.श्रीमाधवरायजीकी हस्ताक्षरित सम्मतिसे पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभामें विचारार्थ प्रस्तुत की गई सिद्धान्तवचनावलीके अंश)

***

पू.पा.गो.चि.श्रीपुरुषोत्तमलालजी (जुनागढ)

(क) ''श्रीमहाप्रभुजी वल्लभाचार्यजीके पुष्टिसम्प्रदायमें दो दीक्षाएं दी जाती हैं. दोनों दीक्षाओंका प्रयोजन और तत्पश्चात् कर्तव्य का भी विचार बहुत आवश्यक है. केवल शिष्येषणासे प्रेरित होकर शिष्य बनानेकेलिये दी जाती दीक्षासे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है. जो भगवत्सेवा करनेकेलिये तैयार नहीं है उसको कदापि ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षा लेनी नहीं चाहिये. परन्तु श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धान्तोंमें यदि निष्ठावान् है तो उसे केवल नामदीक्षा लेनी चाहिये और अनन्याश्रयका त्याग करके श्रीकृष्णका आश्रय दृढ करनेकेलिये प्रयत्नशील होकर नामसेवारत रहना चाहिये. परन्तु ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षा लेनेके बाद श्रीकृष्णकी सेवा करना अनिवार्य है.

श्रीकृष्णकी सेवा भी श्रीमहाप्रभुजीद्वारा दिखलाई गयी रीतिके अनुसार ही हो सकती है. अपने घरमें अपने परिवारके सदस्योंके साथ अपने ही द्रव्यसे भगवत्सेवा करनी चाहिये. किसीको द्रव्य देकर अथवा किसीसे द्रव्य लेकर की जाती सेवा वह भगवत्सेवा तो कदापि नहीं ही है परन्तु श्रीमहाप्रभुजीका द्रोह होनेसे गुरु-अपराधसे ग्रसित बनाकर आरूढपतित बनाती है और इस भक्तिमार्गसे भ्रष्ट करती है. आजीविका चलानेकेलिये की जाती व्यावसायिक सेवासे तो चांडालके समान हीन देवलक बन जाते हैं. अतः भगवत्सेवा अपने

घरमें अपने द्रव्य और तनसे ही की जा सकती है.

सेवाकी ही तरह भगवत्कथा-कीर्तन भी स्वयं अथवा निष्काम भगवदीयोंके साथ करने चाहिये. व्यावसायिक कथाकारोंको द्रव्य-दक्षिणा देकर करायी जाती कथा राखमें घी होमनेके तुल्य है. ऐसी कथा, पारायण, कीर्तन अथवा सप्ताह पिष्यिमार्गीय सिद्धान्तसे सर्वथा विरुद्ध हैं. अतः सेवा और कथा दोनों द्रव्य देकर अथवा लेकर करनेसे किसी भी तरहके अलौकिक पुष्टिफलकी प्राप्ति स्वप्नमें भी नहीं हो सकती है. हां, बहिर्मुख अवश्य होते हैं.

(ख)‘‘अमे तो राजना खासा खवास मुक्ति मन न आवे रे’’ व्रजाधिपका सेवन करनेवाले हम मुक्ति नहीं मांगते हैं. फिर भी पुष्टिमार्गी वैष्णव भागवत सप्ताह बैठाकर अपने पितृओंको मोक्षके मार्गपर भेजते हैं! पितृमोक्षार्थ भागवत सप्ताह! को एकसो आठ! को एक हजार आठ! ...अपने पितृ तो गोलोकमें जाते हैं! उनको वापिस मोक्षमें क्यों भेजते हो? ...भागवत सप्ताह पूरी हो जानेके बाद माला पहेरामणी (सौराष्ट्रकी एक वैष्णव परम्परा)की जाती है और कहते हैं कि अब गोलोक धाम ...अब गोलोक धाममें भेजना है! मतलब यह हुवा कि पितृओंको यहां से वहां सिर्फ धक्के हि खिलवाने हैं! हमारा कोई ध्येय ही निश्चित नहीं है!! हमने श्रीमहाप्रभुजीके ग्रन्थोंको खोला नहीं है उसका यह दुष्परिणाम है कि जिसे हमारे पूर्वजोंको भुगतना पड़ रहा है. (श्रीयमुनाष्टक प्रवचन, राजकोट, २००६)

***

पू.पा.गो.श्रीयोगेशकुमारजी महाराज

(मुंबई)

...जहां तक सिद्धान्तके निश्चित स्वरूप या व्याख्या का प्रश्न है, हम सभी धर्माचार्य, हमारे सम्प्रदायके प्रवर्तक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य तथा परवर्ती अन्य भी मान्य सभी व्याख्याकारोंके सन्देहरहित विधानोंके आधारपर, यह स्पष्टतम शब्दोमें घोषित करते हैं कि हमारे धार्मिक सिद्धान्त एवं परम्पराओं के

अनुसार भगवत्सेवा, सेवास्थल, सेवोपयोगिसम्पत्ति, सेवाकर्ता (उपदेशक या अनुयायी) एवं सेव्य भगवत्स्वरूप का निजी अथवा पारिवारिक होना एक अनुल्लंघ्य धार्मिक अनिवार्यता है. अतः इनमेंसे किसीको भी सार्वजनिक बनाना सर्वथा धर्मविरुद्ध होनेसे एक घोर धार्मिक अपराध है.

...वाल्लभ सम्प्रदायके सिद्धान्तके अनुसार निजघरमें निजधनको तथा निज परिवारजनोंको भगवत्स्वरूपकी सेवामें उपयोगमें लाना ही आराधनाका वास्तविक स्वरूप है. ...अतः निजघरमें निजधनके विनियोग द्वारा तथा निजपरिवारके जनोंके सहयोग बिना की जाती आराधना, वाल्लभ सम्प्रदायकी आराधनाकी परिभाषाके अनुसार, आराधना ही नहीं है. ऐसी स्थितिमें हमारे घरोंमें आती जनताद्वारा हमारे सेव्य भगवत्स्वरूपके दर्शन करना या भेंट चढाना आदि आचरण आराधनाके अन्तर्गत मान्य क्रियाकलाप नहीं है.

...यदि निज घरमें न किया जाता हो तो ऐसे भगवद्भजनको पुष्टिमार्गीय परिभाषामें भगवद्भजन ही नहीं कहा जा सकता है. पुष्टिमार्गमें निजघरमें रहकर भगवद्भजन करनेके प्रकारके अलावा अन्य कोई प्रकार भगवद्भजनका हैहीनहीं.

...भेंट धरे हुए धनसे भोग धरी हुई सामग्रीका प्रसादत्वेन ग्रहण हमारे यहां सर्वथा वर्जित है. ...सार्वजनिक मंदिरमें दर्शनार्थी जनताके प्रतिनिधिके रूपमें सेवा करनेकी प्रक्रियाको न तो वाल्लभ सम्प्रदायमें अवकाश है और न वैसा आचरण सिद्धांततः प्रशंसनीय ही है. भगवत्सेवाका अनुष्ठान न तो नौकरी और न धंधा के रूपमें किया जा सकता है.

...श्रीमहाप्रभु सभी पुष्टिमार्गीयोंको सैद्धान्तिक निष्ठा स्वधर्मानुसरणका

सामर्थ्य तथा पारस्परिक सौमनस्य प्रदान करें. ... सभी पुष्टिमार्गीयके निजघरोंमें बिराजमान सेव्यस्वरूप सर्वदा निजी ही रहें, कभी सार्वजनिक न बन जायें. ''बुद्धिप्रेरक कृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु''.

(गो.श्रीयोगेशकुमारजी की हस्ताक्षरित सम्मतिसे सुप्रिमकोर्टमें प्रस्तुत करनेकेलिये तैयार किया गया ''श्रीमद्वल्लभाचार्य वंशज गोस्वामीओंका संयुक्त घोषणापत्र'' १९८६.)

***

पू.पा.गो.श्रीगोपिकालंकारजी (राजकोट-माणावदर)

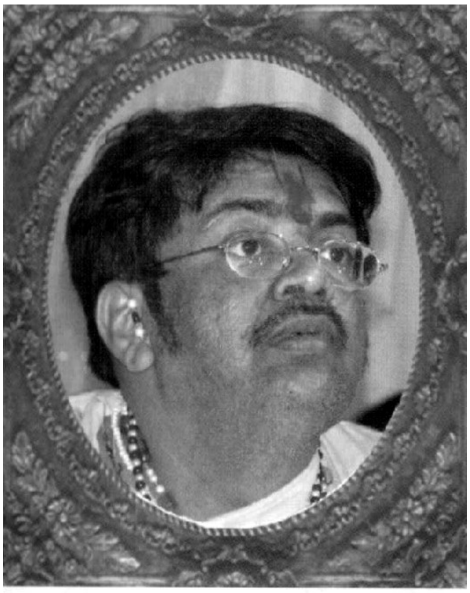

कोई पुरुष कृष्णसेवामें तत्पर है कि नहीं, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित है कि नहीं; और श्रीमद्भागवत पुराणके मर्मका विज्ञ है कि नहीं यह सर्वप्रथम देखना चाहिये और तभी किसी जिज्ञासुको ऐसे व्यक्तिमें गुरुबुद्धि रखकर उसके पास जाना चाहिये.

...ऐसे गुणोंसे युक्त गुरु बलवान् कलियुगके कारण न मिले तो ... स्वयं ही भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना चाहिये. पात्रापात्रका विवेक रखे बिना यदि नामदीक्षा प्रदान की जाती है तो भगवन्नामविक्रयका दोष लगता ही है जिसके कारण दीक्षादाता अपराधी बनता है.

...एक प्रकार सेवाका यह भी हो सकता है कि वह वित्त देकर किसी अन्य पुरुषद्वारा करा ली जाये; और दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि वह कृष्णसेवा किसी दूसरेसे वित्त लेकर की जाये. ऐसे दोनों प्रकारोंसे की जाती सेवाओंसे चित्त कभी कृष्णप्रवण हो नहीं सकता. ...वह...यदि किसी अन्य तनुजासेवाकर्ता(गोस्वामी-मुखिया-ट्रस्टी)को वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें

वित्त देकर करायी जाती है तब वह वित्तजा सेवा हुई जो चित्तको राजसभाव=दर्प-दम्भादिसे युक्त बना देती है, पर कृष्णप्रवण नहीं बना पाती. यदि किसी अन्यसे वेतन-तनुजासेवामूल्य-के रूपमें वित्त ग्रहण करके तनुजासेवा की जाती है तब पुरोहितोंको जैसे यज्ञ-यागका फल नहीं मिलता है वैसे ही दूसरेके वित्तसे तनुजा सेवा करनेवालेको भी कृष्णप्रवणतारूप फल कभी नहीं मिलता.

...जो अपने स्वजन हों और भक्त हों ऐसोंको ही श्रीठाकुरजीके दर्शन कराने चाहिये.

...११वां अपराध: अवैष्णवके समक्ष अपने घरमें बिराजते श्रीठाकुरजीका प्रदर्शन करना. फल: एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त: श्रीठाकुरजीको पञ्चामृत स्नान कराना.

...३६वां अपराध: श्रीठाकुरजी (या श्रीभागवतजी या श्रीयमुनाजी) के नामसे (भेट, सामग्री, पोथीसेवा, या न्योछावर) मांगना. फल: सेवा सर्वथा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त: जितना मांगा या बटोरा हो उससे पांचगुना नैवेद्यका प्रभुको दान (न कि समर्पण) करना.

...आजीविका कमाने या यश पाने केलिये भी भजन(सेवा) करता हो तो उसकी क्या गति होगी? ...वह व्यक्ति भी क्लेश ही पाता है ऐसा श्रीमहाप्रभुके वचनका साफ-साफ अर्थ है. न केवल उसे ऐहिक (पारिवारिक-सामाजिक-साम्प्रदायिक) क्लेश ही होता है प्रत्युत उसके सारे पारलौकिक अधिकार एवं फल भी नष्ट हो जाते हैं ऐसे निषिद्ध आचरणके कारण...अत्यल्प भी ज्ञान हो वह तो ऐसा कुकृत्य नहीं कर सकता है.

...भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें घरमें सेवा करनेका विधान किया गया होनेसे यह सूचित होता है कि अपने घरमें बिराजते प्रभुकी सेवाको छोड़कर अन्य कहीं दर्शन-सेवा-कीर्तनादि करनेसे भक्ति सिद्ध नहीं होती है.

...भागवतका पाठ प्रयत्नपूर्वक किसी भी अन्य हेतुके बिना ही करना

चाहिये. प्राण चाहे कंठमें क्यों न अटक जाये परन्तु आजीविकार्थ उसका उपयोग नहीं करना चाहिये. भागवतका आजीविकार्थ उपयोग न करके ओर जैसे भी अपना निर्वाह चले चला लेना चाहिये.

...मुख आदिके प्रक्षालनमें प्रयुक्त अपवित्र जलको एकत्रित करनेकेलिये भूमिमें जो गढ्ढे खोदे जाते हैं उनके जैसे निम्न गानोपजीवी होते हैं...इससे यह आशय प्रकट हुआ कि प्रक्षालनोच्छिष्ट गर्तपूरित जलकी तरह इन गानोपजीविओंका भाव सत्पुरुषोंकेलिये ग्राह्य नहीं होता...पुराणकथासे आजीविका चलानेवाले पौराणिक भी ऐसे गायकोंके तुल्य होते हैं...

हे श्रीवल्लभ! आपके कहे हुवे वचनसे विपरीत जो कोई कुछ कहते हैं वे सभी भ्रान्त केवल अन्धन्तम नरकको पाने वाले सहज आसुरी जीव हैं.

(गो.श्रीगोपिकालंकारजीकी हस्ताक्षरित सम्मतिसे पुष्टिसिद्धान्त चर्चासभामें विचारार्थ प्रस्तुत की गई सिद्धान्तवचनावलीके अंश))

***

संयुक्त घोषणापत्रपर मूल हस्ताक्षरोंकी फोटो कोपी

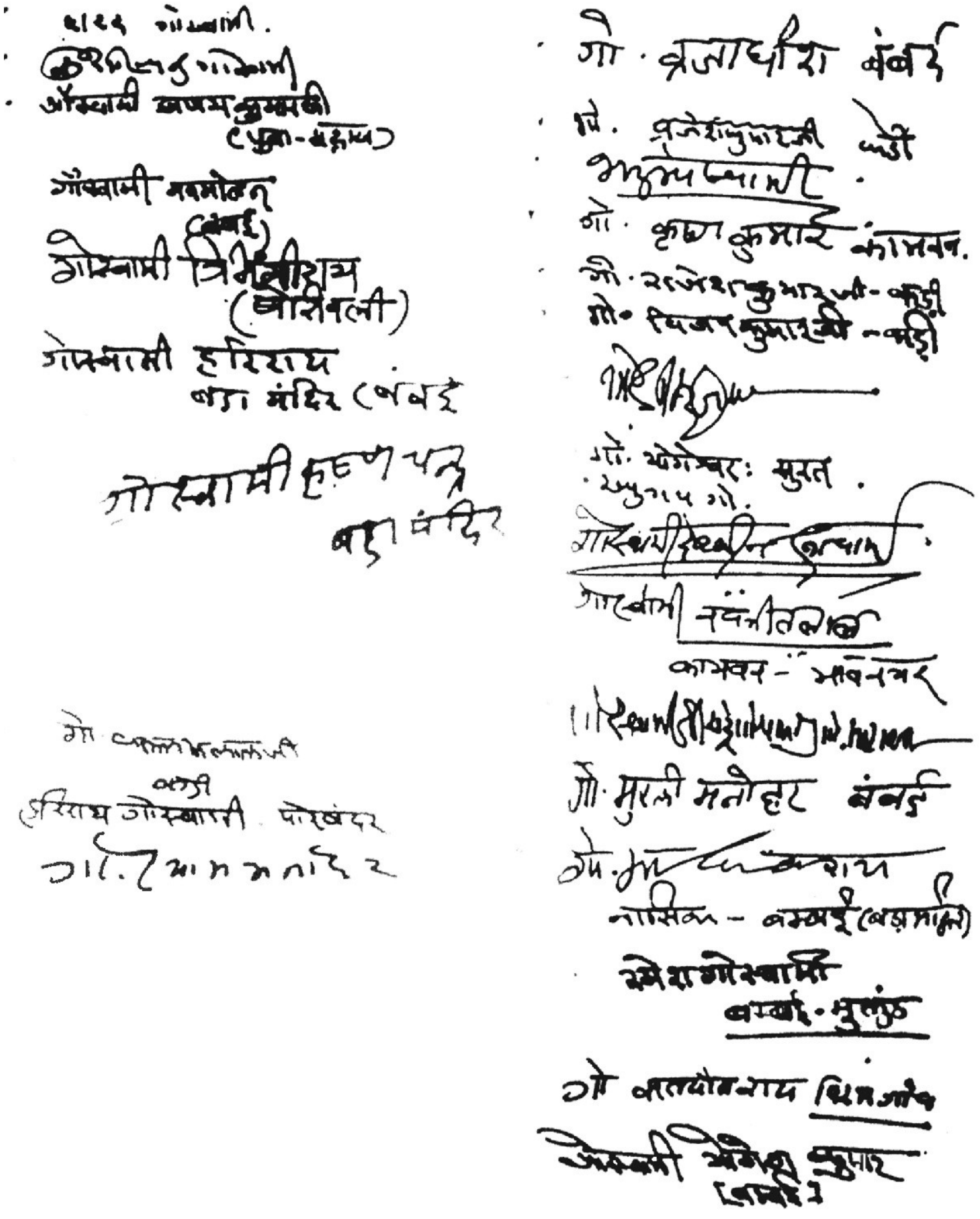

गोस्वामी मनमोहन
(बंबई)
गोस्वामी हरिराय
बड़ा मंदिर (बंबई
गोस्वामी कृष्णचन्द्र
बड़ा मंदिर
हरिराय गोस्वामी पोरबंदर

गो. व्रजाधीश बंबई
गो. कृष्णकुमार कामवन.
गो. योगेश्वरः सुरत
कामवन - भावनगर
गो. मुरली मनोहर बंबई
नासिक - बम्बई
बम्बई - मुलुंड
गोस्वामी ... कुमार

पत्रद्वारा प्राप्त सहमतिके हस्ताक्षरोंमें इन्हें ओर लेना चाहिए :

गोस्वामी श्रीमथुरेशजी–श्रीव्रजेशजी (वीरमगाम)

सुप्रिमकोर्टमें प्रस्तुत करनेकेलिये तैयार किये गये ‘‘श्रीमद्वल्लभाचार्य वंशज गोस्वामीओंका संयुक्त घोषणापत्र’’ पर हस्ताक्षर करने वाले गोस्वामी आचार्य

१

२

३

४

५

६

७

८

९

१०

११

१२

सुप्रिमकोर्टमें प्रस्तुत करनेकेलिये तैयार किये गये ‘‘श्रीमद्वल्लभाचार्य वंशज गोस्वामीओंका संयुक्त घोषणापत्र’’ पर हस्ताक्षर करने वाले गोस्वामी आचार्य

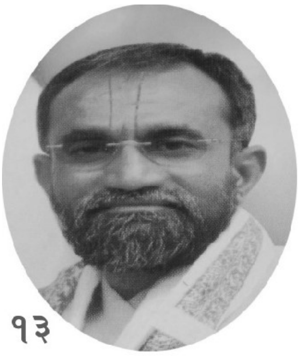
१३

१४

१५

१६

१७

१८

१९

२०

२१

२२

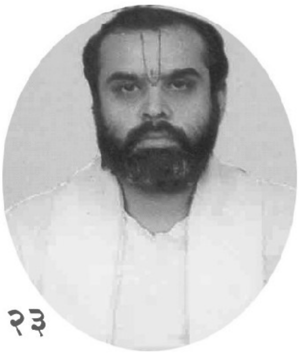
२३

२४

सुप्रिमकोर्टमें प्रस्तुत करनेकेलिये तैयार किये गये ‘‘श्रीमद्वल्लभाचार्य वंशज गोस्वामीओंका संयुक्त घोषणापत्र’’ पर हस्ताक्षर करने वाले गोस्वामी आचार्य

२५

२६

२७

गो.श्रीविट्ठलनाथजी

गो.श्रीहरिरायजी

गो.श्रीव्रजरत्नजी

नि.ली.गो.श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज
एवं आपके सभी चि. बालक :
गो.श्रीविट्ठलनाथजी, गो.श्रीहरिरायजी, गो.श्रीश्याममनोहरजी,
गो.श्रीव्रजरत्नजी, गो.श्रीनवनीतरायजी तथा गो.श्रीबालकृष्णजी

गो.श्रीश्याममनोहरजी

गो.श्रीनवनीतरायजी

गो.श्रीबालकृष्णजी

३५

३६

३७

३८

३९

४०

सुप्रिमकोर्टमें प्रस्तुत करनेकेलिये तैयार किये गये ‘‘श्रीमद्‌वल्लभाचार्य वंशज गोस्वामीओंका संयुक्त घोषणापत्र’’ पर हस्ताक्षर करने वाले गोस्वामी आचार्य

४१

४२

४३

१. गो. शरद् अनिरुद्धजी (मांडवी–हालोल)
२. गो. किशोरचन्द्रजी (मांडवी–जुनागढ)
३. गो. अजयकुमारजी श्यामसुंदरजी (मद्रास)
४. गो. मनमोहनजी श्रीनृत्यगोपालजी (मुंबई)
५. गो. श्यामसुन्दरजी मुरलीधरजी (बोरीवली)
६. नि.ली.गो.श्रीकृष्णचन्द्रजी श्रीकृष्णजीवनजी (मुंबई)
७. गो. वल्लभलालजी श्रीगोविंदलालजी (कडी–अमदावाद)
८. गो. हरिराय श्रीगोविंदरायजी (पोरबंदर)
९. नि.ली.गो.श्रीव्रजाधीषजी श्रीकृष्णजीवनजी (दहिसर)
१०. गो. श्याम मनोहरजी श्रीदीक्षितजी (किशनगढ–मुंबई)
११. गो. व्रजेशकुमार श्रीगोविंदलालजी (कडी–अमदावाद)
१२. नि.ली.गो.श्रीकृष्णकुमार श्रीरमणलालजी (कांदीवली–कामवन)
१३. गो. राजेशकुमारजी श्रीगोविंदलालजी (कडी–अमदावाद)
१४. गो. विजयकुमारजी श्रीगोविंदलालजी (कडी–अमदावाद)
१५. गो. योगेश्वर मथुरेश्वरजी (वडोदरा–सुरत)
१६. गो. रघुनाथलाल श्रीरमणलालजी (कामवन–गोकुल–पार्ला)
१७. गो. देवकीनन्दनाचार्य (गोकुल–अमदावाद)

१८. गो. नवनीतलालजी श्रीगोविंदलालजी (कामवन-भावनगर)
१९. गो. चन्द्रगोपालजी (चंदुबावा) श्रीमुरलीधरजी (पोरबंदर)
२०. गो. मुरलीमनोहर श्रीव्रजाधीशजी (दहिसर)
२१. नि.ली.गो.श्रीमाधवरायजी श्रीगोकुलनाथजी (मुंबई-नासिक)
२२. गो. रमेशकुमार श्रीगोपीनाथजी (मुलुंड-नासिक)
२३. गो. कल्याणराय (कन्हैयाबावा) (वीरमगाम-अमदावाद)
२४. गो. योगेशकुमारजी शिशुकुमारजी (मुंबई)
२५. गो. व्रजप्रियजी मुरलीधरजी (बोरीवली)
२६. गो. व्रजेशकुमारजी (वीरमगाम-अमदावाद)
२७. गो. अनिरुद्धलालजी श्रीद्वारकेशलालजी (मांडवी-हालोल)
२८. नि.ली.गो.श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज (जामनगर)
२९. गो. विट्ठलनाथजी श्रीव्रजभूषणलालजी (चापासेनी-जूनागढ)
३०. गो. हरिरायजी श्रीव्रजभूषणलालजी (जामनगर)
३१. गो. श्याम मनोहरजी श्रीव्रजभूषणलालजी (काशी)
३२. गो. व्रजरत्नजी श्रीव्रजभूषणलालजी (नडीयाद-जामनगर)
३३. गो. नवनीतलालजी श्रीव्रजभूषणलालजी (जूनागढ-जामनगर)
३४. गो. बालकृष्णजी श्रीव्रजभुषणलालजी (जेतपुर-जामनगर)
३५. गो. नीरजकुमार श्रीमाधवरायजी (मुंबई-नासिक)
३६. गो. मधुसूदनजी श्रीकृष्णचन्द्रजी (चेन्नई)
३७. गो. नि.ली.गो.श्रीमथुरेशजी (वीरमगाम-अमदावाद)
३८. नि.ली.गो.श्रीनृत्यगोपालजी श्रीकृष्णजीवनजी (मुंबई)
३९. गो. शरदकुमारजी (शीलूबावा) श्रीमुरलीधरजी (पोरबंदर)
४०. नि.ली.गो.श्रीबालकृष्णलालजी श्रीगोविंदरायजी (सुरत)
४१. नि.ली.गो.श्रीगिरिधरलालजी (कामवन-वल्लभविद्यानगर)
४२. नि.ली.गो.श्रीगोविंदलालजी (कोटा)
४३. गो. हरिरायजी श्रीकृष्णजीवनजी (मुंबई)

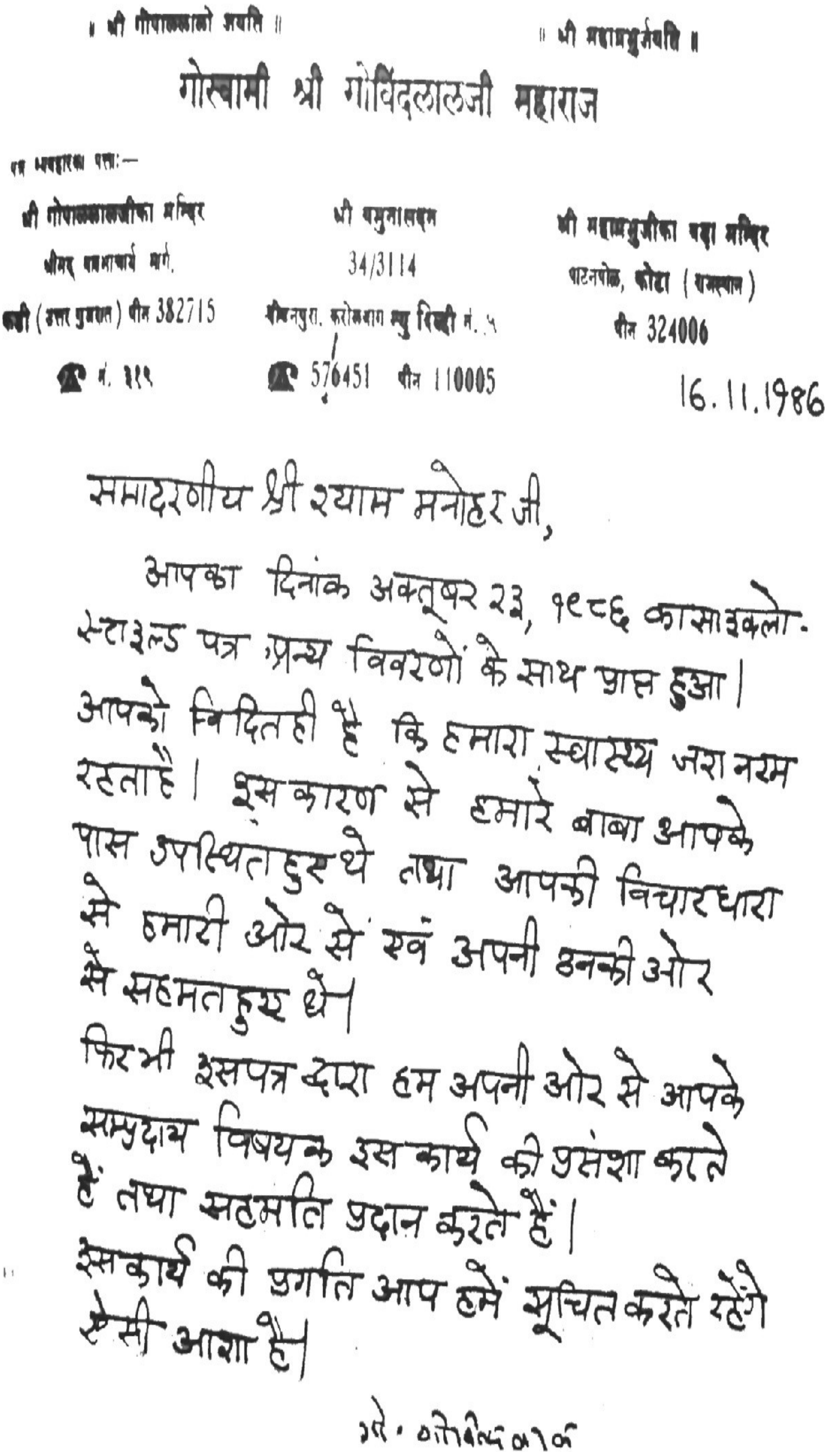

॥ श्री गोपाललालो जयति ॥ ॥ श्री महाप्रभुर्जयति ॥

गोस्वामी श्री गोविंदलालजी महाराज

पत्र व्यवहारका पता:—

श्री गोपाललालजीका मन्दिर
श्रीमद् वल्लभाचार्य मार्ग,
कडी (उत्तर गुजरात) पीन 382715
☎ नं. ३१९

श्री यमुनालयम
34/3114
बीडनपुरा, करोलबाग न्यु दिल्ही नं. ५
☎ 576451 पीन 110005

श्री महाप्रभुजीका बड़ा मन्दिर
पाटनपोल, कोटा (राजस्थान)
पीन 324006

16.11.1986

समादरणीय श्री श्याम मनोहर जी,

आपका दिनांक अक्तूबर २३, १९८६ का साइक्लोस्टाइल्ड पत्र ग्रन्थ विवरणों के साथ प्राप्त हुआ। आपको विदित ही है कि हमारा स्वास्थ्य जरा नरम रहता है। इस कारण से हमारे बाबा आपके पास उपस्थित हुए थे तथा आपकी विचारधारा से हमारी ओर से एवं अपनी उनकी ओर से सहमत हुए थे।

फिर भी इसपत्र द्वारा हम अपनी ओर से आपके सम्प्रदाय विषयक इस कार्य की प्रसंशा करते हैं तथा सहमति प्रदान करते हैं।

इस कार्य की प्रगति आप हमें सूचित करते रहेंगे ऐसी आशा है।

गो. गोविन्दलाल

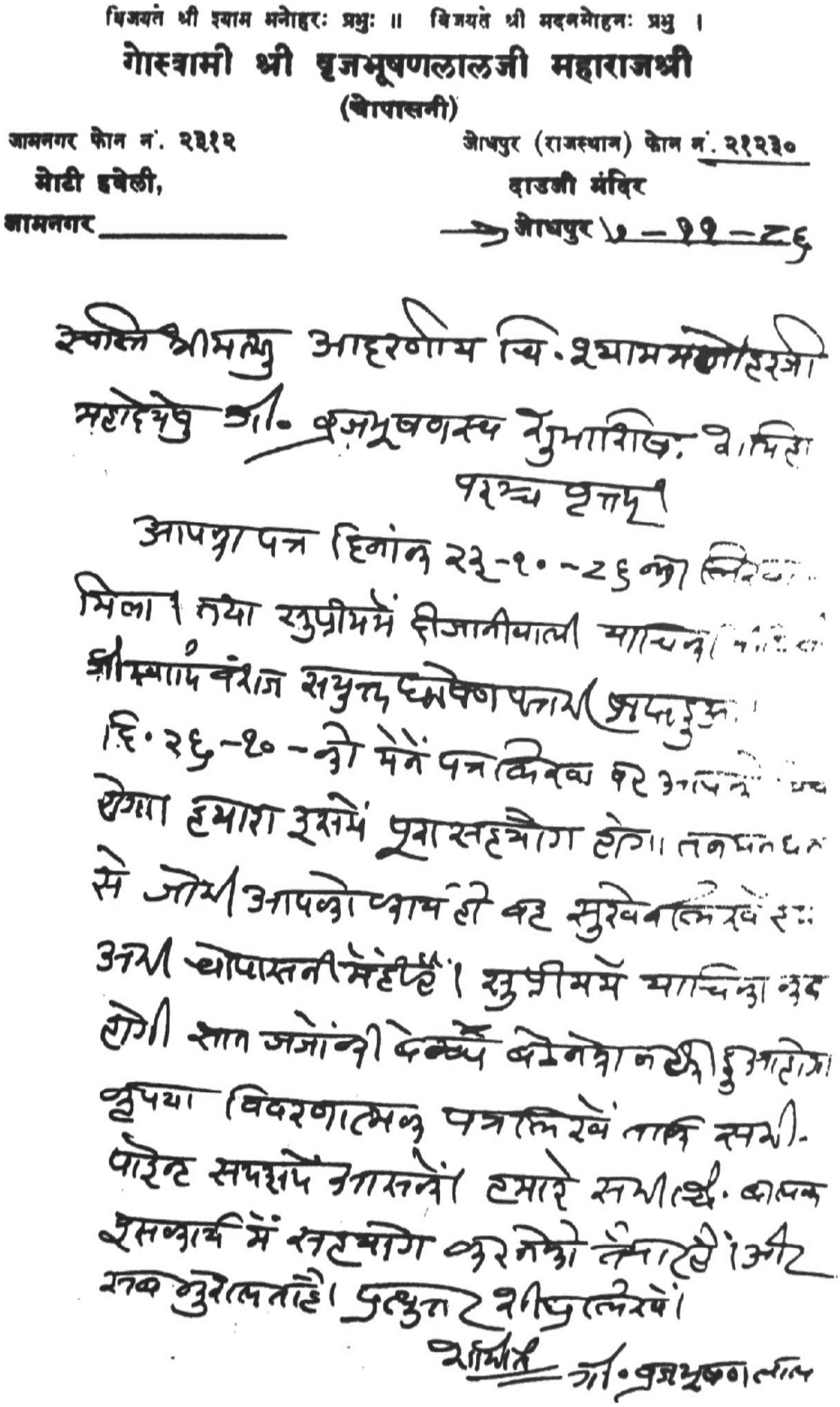

विजयतं श्री श्याम मनोहरः प्रभुः ॥ विजयतं श्री मदनमोहनः प्रभु ।
गोस्वामी श्री वृजभूषणलालजी महाराजश्री
(चोपासनी)
जामनगर फोन नं. २३१२ जोधपुर (राजस्थान) फोन नं. २१२३०
मोटी हवेली, दाउजी मंदिर
जामनगर____

जोधपुर १-११-८६

स्वस्ति श्रीमत्सु आदरणीय चि. श्याममनोहरजी
महोदयेषु गो. व्रजभूषणस्य शुभाशिषः शमिह
परञ्च वृत्तम्।

आपका पत्र दिनांक २३-१०-८६ का लिखा
मिला। नया सुप्रीममें दीजानीवाली याचिका [illegible]
श्रीमदाचार्य वंशज संयुक्त धर्मपीठ प्रन्यास (प्रयागराज)
दि. २६-१० - को मैंने पत्र लिखा पर आपने [illegible]
ऐसा हमारा इसमें पूरा सहयोग होगा। तत्पश्चात्
से जोभी आपको प्राप्त हो वह सुरेशको लिखें [illegible]
अभी चोपासनी मेंही हैं। सुप्रीममें याचिका कब
होगी साथ जजोंको देखने बोलनेका क्या है आदि
कृपया विवरणात्मक पत्र लिखें ताकि सभी-
पोइन्ट स्पष्ट जानसकें। हमारे सभी श्री. बालक
इसकार्य में सहयोग करनेको तैयार हैं और
सब उत्सुक हैं। उत्तर शीघ्र लिखें।

आशीर्वाद गो. व्रजभूषणलाल

विजयते श्री श्याम मनोहरः प्रभु ॥ विजयते श्री मदनमोहनः प्रभु ।
गोस्वामी श्री व्रजभूषणलालजी महाराजश्री
२०/१२
(कांकरोली)
भावनगर फोन नं. ४३४६
मोटी हवेली.
भावनगर
जोधपुर (राजस्थान) फोन नं. २१२३०
दाउजी मंदिर

जोधपुर २६-१०-८६

स्वस्ति श्रीमत्सु चि॰ श्यामबाबा को — गो॰ व्रजभूषण
स्नेह शुभाशिषः —— शमितापरञ्च वृत्त

आपको जूनागढ़ भेजा सुप्रीम बाबत को पत्र मिल्यो। मैं दि॰ २३-९-८६ सूं २२-१०-८६ तक कलकत्ता हतो — २४-१०-८६ को यहां आयो हूं। बाकी सब हिस्ट्री बांचने में आई। वहां तो प्रधानजी ने जरा कुछ बात करी थी- अब क्या याचिका पुनः हो सकती है! यदि हो सकती हो तो मेरे जो करनो हो सो आप खुलासावार लिखें। याचिका के सब करें। अन्यथा गोस्वामि महानुभावों को क्या करना चाहिये यह भी आप पत्र पर तो सामूहिक रूपसे विचार कियाही होगा। इस कार्य में सबों का सहयोग होना अत्यावश्यक है। यदि मीटिंग रखकर कुछ होता निर्णय लेना हो तो मैं बम्बई आ सकता हूं

कृपया विवरणात्मक सब बातों से अवगत
करें। मुझे दिल्ली में श्यामजीमं.के भाई
और बब्बू भाई ने आपके परिश्रम की बात
कही — अति धन्य वधाई हैं कि जो आपने
इतनी मेहनत करके संप्रदाय के सिध्धान्तनकूं
ओट में समझाये। और सब कुशलवारी।
प्रत्युत्तर जोधपुर ही करवो और भाई फोन
मे बात करनी हो तो नंबर छपे भये हैं सो
जैसा उचित समझें। चरण भेट वाले
फैसला आपने जैसे ठीक हु आवै न?

चि. हरिरायजी
सिवाय सब कौलक
यही हैं नमस्कार।

श्रीपति
का० कृ ९३०

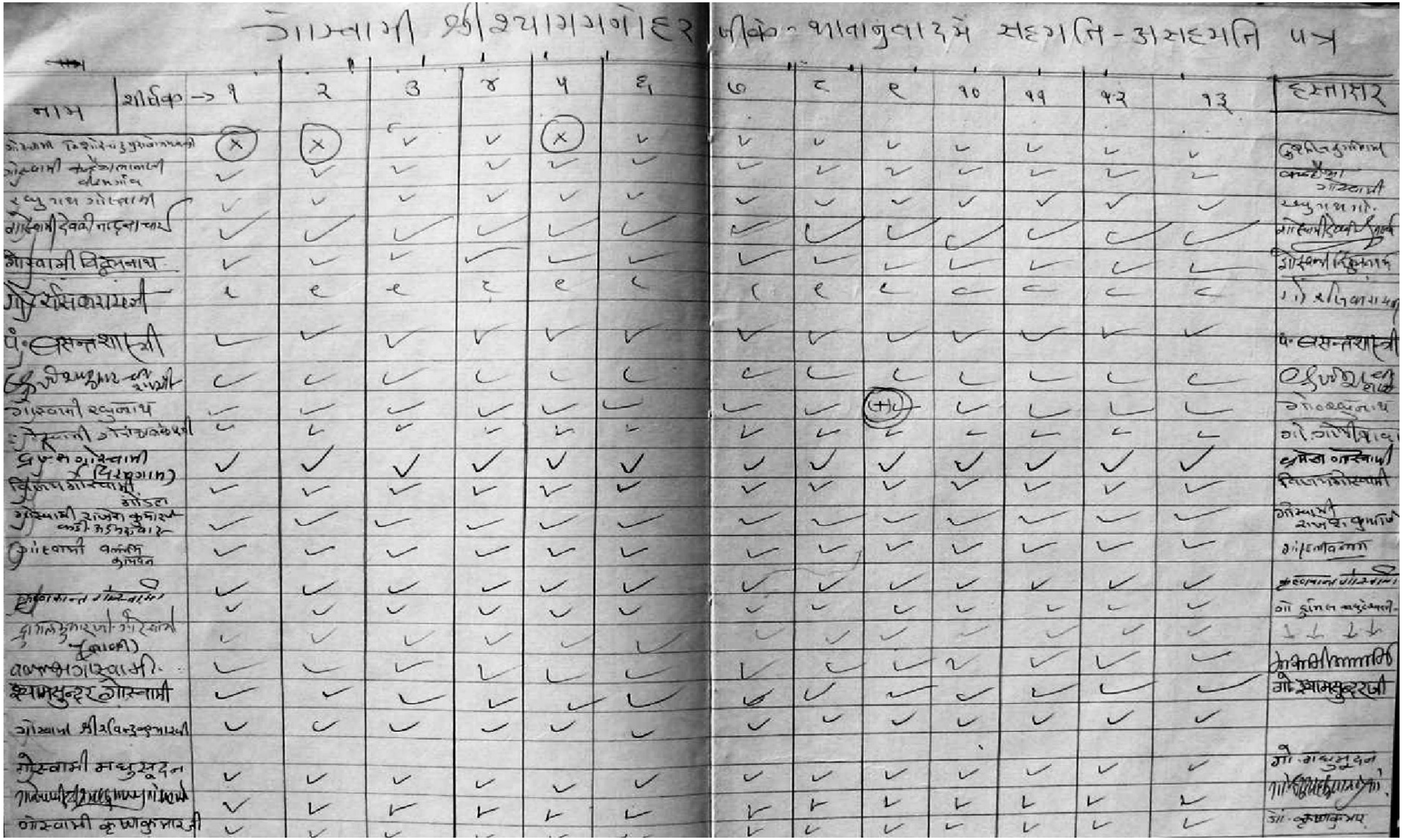

गोस्वामी श्रीश्याममनोहरजी के भावानुवाद में सहमति - असहमति पत्र

नाम	शीर्षक -> १	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	हस्ताक्षर
गोस्वामी किशोरचन्द्र [illegible]	ⓧ	ⓧ	✓	✓	ⓧ	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	[illegible]
गोस्वामी कन्हैयालालजी [illegible]	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	कन्हैया गोस्वामी
रघुनाथ गोस्वामी	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	रघुनाथ गो.
गोस्वामी देवकीनन्दनाचार्य	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	गोस्वामी देवकी [illegible]
गोस्वामी विट्ठलनाथ	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	गोस्वामी विट्ठलनाथ
गो. रसिकरायजी	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	गो. रसिकरायजी
पं. वसन्तशास्त्री	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	पं. वसन्तशास्त्री
[illegible]	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	[illegible]
गोस्वामी रघुनाथ	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	(+)	✓	✓	✓	✓	गो. रघुनाथ
गोस्वामी [illegible]	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	गो. [illegible]
ब्रजेश गोस्वामी (सिरमाथ)	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	ब्रजेश गोस्वामी
विजय गोस्वामी मोडासा	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	विजय गोस्वामी
गोस्वामी राजेश कुमार कडी अहमदाबाद	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	गोस्वामी राजेश कुमार
गोस्वामी वल्लभ कामवन	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	गो. [illegible]
कृष्णकान्त गोस्वामी	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	कृष्णकान्त गोस्वामी
	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	गो. [illegible]
गोपालकुमारजी गोस्वामी (काकी)	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	[illegible]
वल्लभ गोस्वामी	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	[illegible]
श्यामसुन्दर गोस्वामी	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	गो. श्यामसुन्दरजी
गोस्वामी श्रीरविन्द्रकुमारजी	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	
गोस्वामी मधुसूदन	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	गो. मधुसूदन
गोस्वामी [illegible]	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	[illegible]
गोस्वामी कृष्णकुमारजी	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	गो. कृष्णकुमार

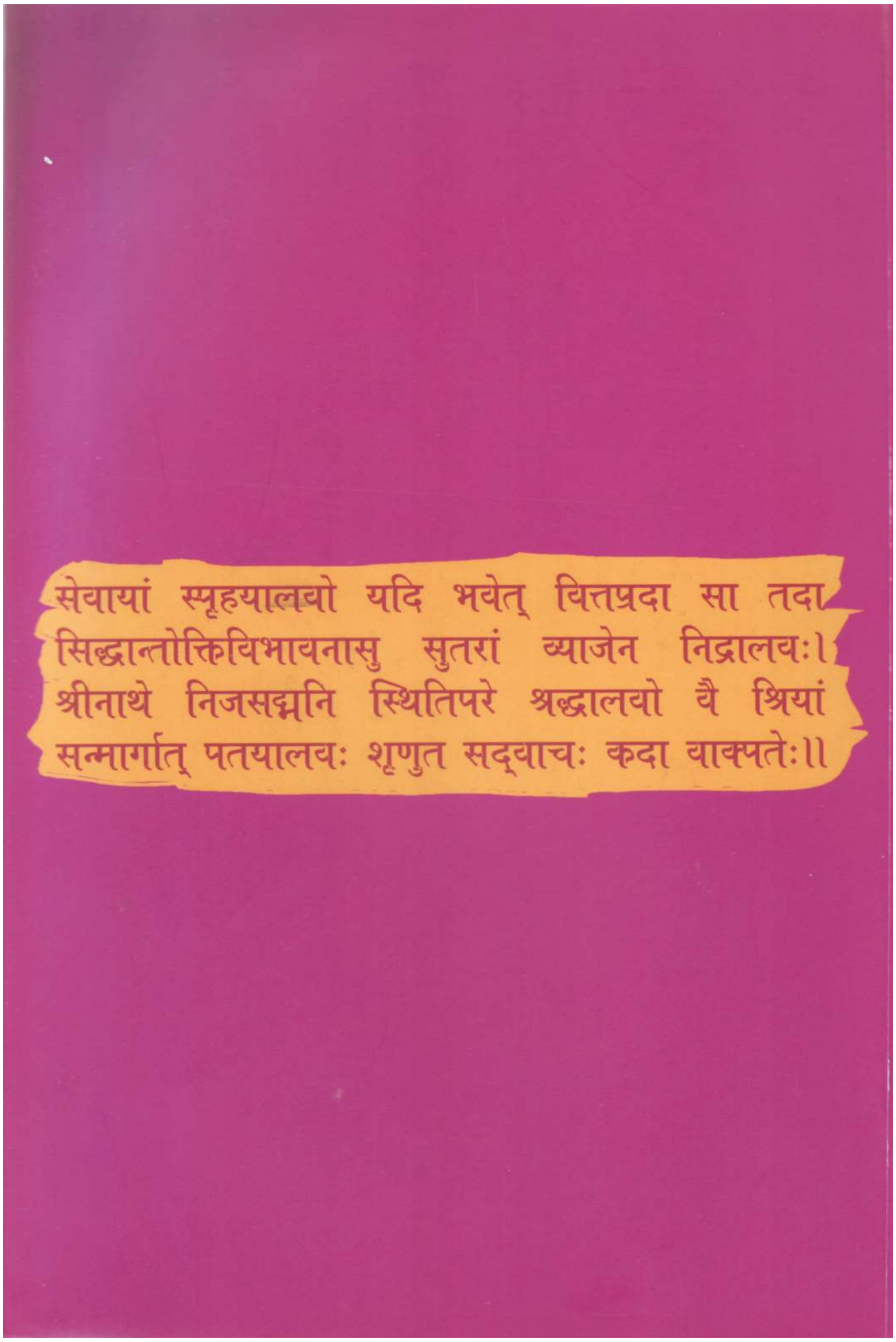

सेवायां स्पृहयालवो यदि भवेत् वित्तप्रदा सा तदा
सिद्धान्तोक्तिविभावनासु सुतरां व्याजेन निद्रालवः।
श्रीनाथे निजसद्मनि स्थितिपरे श्रद्धालवो वै श्रियां
सन्मार्गात् पतयालवः शृणुत सद्वाचः कदा वाक्पतेः॥

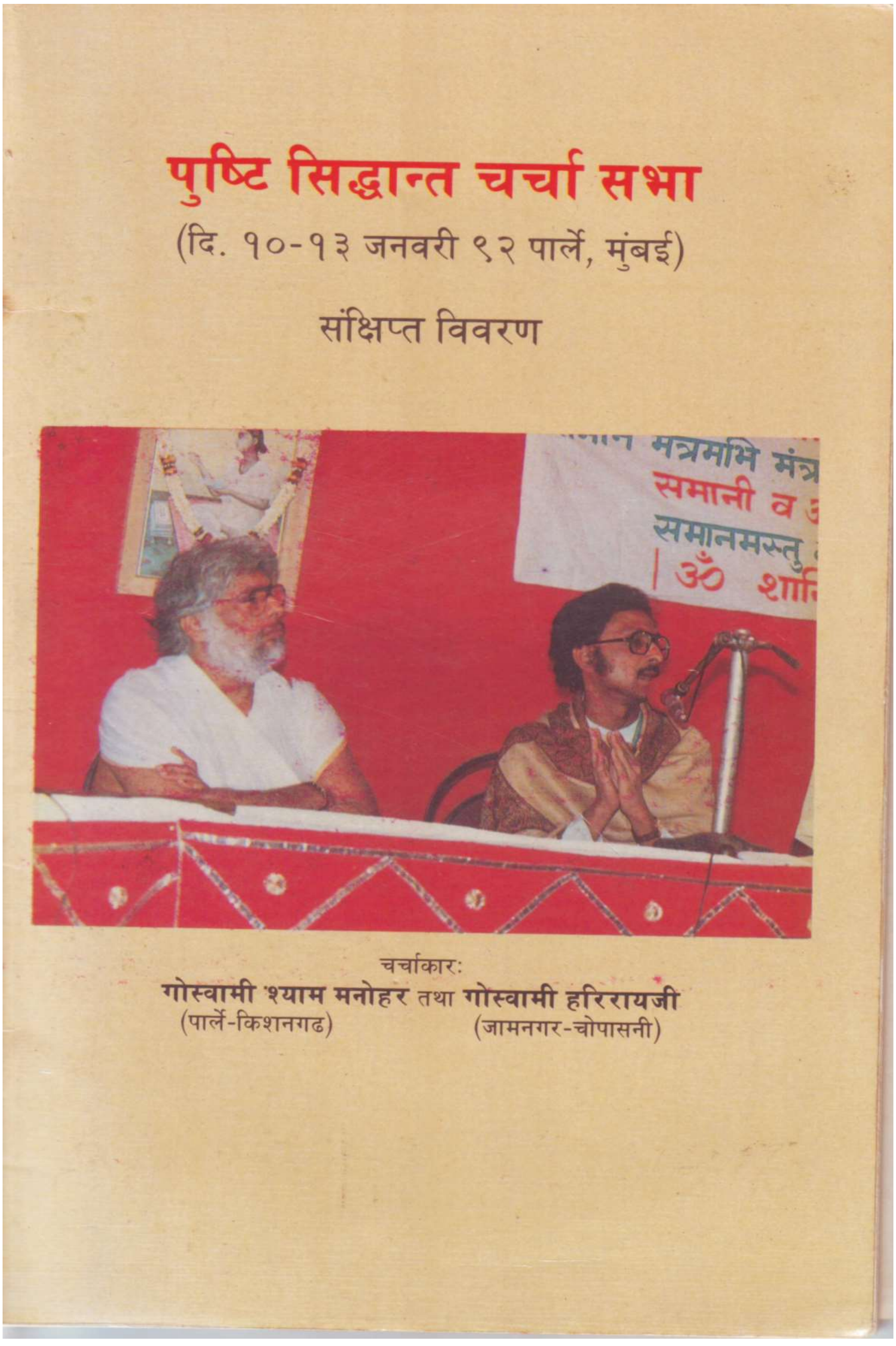
मत्रमभि मंत्र
समानी व
समानमस्तु
ॐ शा

पुष्टि सिद्धान्त चर्चा सभा

(दि. १०-१३ जनवरी ९२ पार्ले, मुंबई)

संक्षिप्त विवरण

चर्चाकारः

गोस्वामी श्याम मनोहर तथा **गोस्वामी हरिरायजी**

(पार्ले-किशनगढ) (जामनगर-चोपासनी)

सुस्वागतम्
पुष्टि मार्गीय सिद्धान्त चर्चा सभा
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

चर्चाकारः

गोस्वामी श्याम मनोहर (पार्ले-किशनगढ) गोस्वामी किशोरचन्द्रजी (जूनागढ)

तच्छंयोरावृणीमहे गातुं यज्ञाय गातुं यज्ञपतये।
दैवी स्वस्तिरस्तु नः स्वस्तिर्मानुषेभ्यः।
ऊर्ध्वं जिगातु भेषजं शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे।
।ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।
पुष्टि

: संवाद स्थापक मंडल :

(बायेंसे दायें) गो. भूषण, गो. नीरजकुमार, गो. व्रजप्रिय, गो. शरद, गो. योगेश

पुष्टि सिद्धान्त चर्चा सभा

(दि. १०-१३ जनवरी '९२ पार्ले, मुंबई)

संक्षिप्त विवरण

परिशिष्ट सहित

संयुक्त प्रकाशन

संयुक्त प्रकाशन

गोस्वामी श्याम मनोहर
अडेल, महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य मार्ग, नया शहर,
किशनगढ, अजमेर-३०५ ८०२

प्रथमपीठाधीश्वर गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी
'लालमणि', २५/३१, आत्माराम मर्चन्ट रोड,
भुलेश्वर, मुंबई-४०० ००२

नि:शुल्क वितरणार्थ :

प्रति : २०००

प्रकाशन वर्ष : १९९२ मार्च

मुद्रक :
नरोत्तम भाटीया
प्रफुल्ल ज्योति,
जवाहर रोड, घाटकोपर (पूर्व),
मुंबई-४०० ०७७
फोन : ५१३ १८ १३

प्रकाशकिय

पुष्टिमार्गके इतिहासमें एक बेजोड़ घटना सिद्ध हुई है दि.१०-१३ जनवरीमें पार्ले मुंबईमें हुई पुष्टिसिद्धान्त-चर्चासभा !

आज संप्रदायकी अनुगामी जनताको जिस तरहके अपसिद्धान्तोंसे बरगलाया जा रहा है, वैसी स्थितिमें सच्चे सिद्धान्तोंकी ओर अग्रसर, यदि हमें होना हो तो, यह चर्चासभा मीलका पत्थर सिद्ध होगी । इसमें दो राय हो नहीं सकती ।

निजगृहमें व्यावसायिक - प्रदर्शनरहित तनुवित्तजा सेवाके स्वसिद्धान्तको स्वीकारनेसे जो कतराते रहे हैं, ऐसे कई महानुभाव तो आनेका साहस ही नहीं कर पाये! जिन्होंने आनेका साहस किया वे भी सिद्धान्त-वचनावलीका अपना भावानुवाद ला पानेका साहस नहिं कर पायें!! मेरे द्वारा प्रस्तुत भावानुवादसे असहमति दिखाने के बावजूद स्वयंका भावानुवाद चर्चासभा के नियमानुसार प्रस्तुत भी नहीं कर पाये!!! कुछ आनेवाले तो तटस्थ बनकर मौन धार कर गये या फिर अनुपस्थित ही रहे ।

विपक्षिओंके मानों अघोषित प्रतिनिधि हों ऐसी तरह ‘जामनगरवाले चि. गोस्वामी हरिरायजी यदि न पधारते तो चर्चासभा की सारी कारवाई इकतरफा ही हो जाती । एतदर्थ उनका जितना आभार मानें वह अल्प ही रहेगा ।

लाभपूजार्थ तनुजा सेवा करनेवाला निषिध्ध कोटीका जघन्य अधिकारी देवलक पतित होता है तथा पुष्टिमार्गीय सेवा सेवाकर्ताकी मालीकीवाले घरमें ही होनी चाहिये । इन दो मूलबातोंको चि. हरिरायजी द्वारा स्वीकार लिये जानेके बाद अन्य सारी चर्चायें निष्प्रयोजन सिद्ध होती हैं, क्योंकि जिन दर्शनार्थीओंकी वित्तजा सेवा एंठनेके लिये गोस्वामि वर्ग उन्हें अपनी मालीकीवाले घरमें बुलानेको लालायित रहता है या तो उन दर्शनार्थीओंकी मालीकी अब अपने घरपर स्वीकारनी पडेगी या फिर यह अपसिद्धान्त खतम करना पडेगा । गोस्वामितिलकायित श्रीगोविन्दलालजी महाराज तथा पू.पा.गो.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराज अर्थात् एक पदवृद्ध तथा दूसरे ज्ञान वयोवृद्ध धर्माचार्य द्वारा चि. हरिरायजीके द्वारा गृहीत पक्षोंको ‘सिद्धान्त संरक्षणकी’की गरिमासे मण्डित करना हमारे कथ्यका ही अचुक समर्थन है उक्त तीनों महानुभावोंकी धारणाके विपरीत इसमें अब कोई शंकाको अवकाश रह नहीं गया । ‘‘बुद्धिप्रेरककृष्णस्य पादपद्मं प्रीसदतु!’’

गो.श्या.म.

सूची

१ चर्चा सभामें उपस्थित महानुभावोंकी सूची १७४

२ पक्षग्रहण १७९

३ उपपत्ति १९६

४ शाखाचंक्रमण-निरसन २०५

५ गोस्वामी तिलकायत श्रीगोविन्दलालजी तथा पू.पा.गो.श्रीव्रजरत्नलालजी (सूरत) द्वारा पुष्टि-सिद्धान्त-चर्चासभामें सिद्धान्त-स्थापनार्थ प्रदत्त अभिनन्दनकी अनिर्णायकताकी स्वीकृतिका पत्र चर्चाकार गोस्वामी श्रीहरिरायजी (जामनगर) गोस्वामी श्याम मनोहर (किशनगढ-पारला) तथा संवाद स्थापकमंडल सदस्यो के हस्ताक्षरों सहित । २१८

६ सिद्धान्त-घोषणापत्र प्रकट करनेकी भूमिका : नि.ली.गोस्वामी श्रीरणछोडाचार्य 'प्रथमेश'जी द्वारा लिखित आग्रह पत्र । २१९

७ संयुक्त घोषणापत्र २२५

८ गोस्वामी श्रीबालकृष्णजी (सूरत) द्वारा लिखित पत्र २४७

९ नि.ली.गोस्वामी श्रीव्रजभूषणलालजी (जामनगर-चोंपासनी)का पत्र : सिद्धान्तसंरक्षणार्थ सहयोगका वचन २४९

१० गोस्वामी श्रीअनिरुद्धलालजी (मांडवी-हालोल) का संयुक्त घोषणा समर्थन पत्र २५१

११ गोस्वामी श्रीमधुसूदनजी (मद्रास)का संयुक्त घोषणा समर्थन पत्र २५२

१२ गोस्वामी श्रीगिरधरलालजी पंचमेश का संयुक्त घोषणा समर्थन पत्र २५३

१३ नि.ली.गोस्वामी श्रीव्रजभूषणलालजी (जामनगर-चोंपासनी)का संयुक्त घोषणा समर्थन पत्र २५४

१४ नि.ली.श्रीगोविन्दलालजी (कडी)का संयुक्त घोषणा समर्थन पत्र २५५

१५ गोस्वामी श्रीमथुरेश्वरजी (सूरत-बडोदा) का पत्र २५६

।। श्रीहरिः ।।

पुष्टि सिद्धान्त - चर्चासभामें उपस्थिति

:: आयोजकमंडल ::

(१) गो. श्रीव्रजप्रियजी मुरलीधरजी (मुंबई)
(२) गो. श्रीनीरजकमारजी माधवरायजी (मुंबई)
(३) गो.चि.श्रीमनोजकुमारजी नृत्यगोपालजी (मुंबई)
(४) गो.चि.श्रीयोगेश रघुनाथलालजी (मुंबई-गोकुल)
(५) गो.चि.श्रीशरद अनिरुद्धलालजी (मांडवी-हालोल-मुंबई)
(६) गो.चि.श्रीपंकज चिमनलालजी (मांडवी-गोकुल)
(७) गो.चि.श्रीपीयूष किशोरचन्द्रजी (मांडवी-जूनागढ़-मुंबई)
(८) गो.चि.श्रीगोपेशकुमारजी मुरलीमनोहरजी (मुंबई)
(९) गो.चि.श्रीभूषण चिमनलालजी (मांडवी-गोकुल)
(१०) गो.चि.श्रीविठ्ठलदेवकीनन्दनाचार्यजी (गोकुल-अमदावाद-मुंबई)
(११) गो.चि.श्रीमिलनकुमारजी लालमणिजी (जतिपुरा-कोटा-मुंबई)
(१२) गो.चि.श्रीशरदकुमारजी लालमणिजी (जतिपुरा-कोटा-मुंबई)

***

आयोजकमंडल द्वारा सम्प्रदाय के प्राणोपम् ओर विवादग्रस्त मुद्दे पर; दिनांक १०-११-१२-१३, जनवरी १९९२ के दिनोमें विश्वकर्मा बाग, बजाज रोड, विले पार्ले, (पश्चिम) बम्बई ४०० ०५७ स्थल पर आयोजित की गई चर्चासभामें अतिशय औदार्य स्वधर्म-निष्ठा और निर्भीक-साहस से उपस्थीत रहकर चर्चासभाकी शोभामें अभिवृद्धि करनेवाले उपस्थित आदरणीय गोस्वामी महानुभावों और शास्त्रीजीओं की नामावली :

(१) गो. श्रीउत्तमश्लोकजी दीक्षितजी (किशनगढ़-मुंबई)
(२) गो.श्रीकल्याणरायजी गोविन्दरायजी (पूना-सुरत)
(३) गो.चि.श्रीकन्हैयालालजी चन्द्रगोपालजी (विरमगाम, अमदावाद)
(४) गो.श्रीकिशोरचन्द्रजी पुरुषोत्तमलालजी (जूनागढ़-मुंबई)

(५) गो.श्रीकृष्णचन्द्रजी कृष्णजीवनजी (मुंबई)
(६) गो.चि.श्रीकृष्णकान्तजी कृष्णचन्द्रजी (मुंबई–उदयपुर)
(७) गो.श्रीकृष्णकुमारजी रमणलालजी (मुंबई)
(८) गो.चि.श्रीगोपिकालंकारजी वल्लभलालजी (राजकोट)
(९) गो.श्रीगोविन्दरायजी रणछोड़लालजी (पोरबन्दर)
(१०) गो.चि.श्रीचन्द्रगोपालजी मधुसूदनलालजी (वडोदरा)
(११) गो.श्रीत्रिलोकीभूषणजी त्रिकमरायजजी (कलकत्ता)
(१२) गो.चि.श्रीदेवकीनन्दनाचार्यजी गोकुलनाथजी (गोकुल–अमदावाद)
(१३) गो.चि.श्रीद्रुमिलकुमारजी मथुरेश्वरजी (वडोदरा)
(१४) गो.चि.श्रीद्वारकेशजी व्रजजीवनजी (अमरेली–मुंबई)
(१५) गो.चि.श्रीपुरुषोत्तमजी व्रजजीवनजी (अमरेली–मुंबई)
(१६) गो.चि.श्रीप्रशान्तकुमारजी राजकुमारजी (मुंबई)
(१७) गो.श्रीबालकृष्णजी गोविन्दरायी (सुरत)
(१८) गो.चि.श्रीमथुरेश्वरजी मधुसूदनजी (वडोदरा)
(१९) गो.चि.श्रीमधुसूदनजी कृष्णचन्द्रजी (मद्रास)
(२०) श्रीरघुनाथलालजी रमणलालजी (मुंबई–गोकुल)
(२१) गो.चि.श्रीरघुनाथजी रमेशचन्द्रजी (मुंबई)
(२२) गो.श्रीरसिकरायजी द्वारकेशलालजी (मथुरा–पोरबन्दर)
(२३) गो.श्रीराजेशकुमारजी गोविन्दरायजी (कडी–अमदावाद)
(२४) गो.श्रीवल्लभरायजी गोविन्दरायजी (सुरत)
(२५) गो.चि.श्रीवल्लभलालजी गिरिधरलालजी (कामवन–विद्यानगर)
(२६) गो.चि.श्रीवल्लभलालजी देवकीनन्दनाचार्यजी (गोकुल–अमदावाद)
(२७) गो.श्रीविजयकुमारजी गोविन्दरायजी (कड़ी)
(२८) गो.श्रीविठ्ठलनाथ–लालमणिजी रणछोड़लालजी (जतिपुरा–कोटा–मुंबई)
(२९) गो.श्रीव्रजजीवनजी पुरुषोत्तमलालजी (अमरेली–मुंबई)
(३०) गो.चि.श्रीव्रजेशकुमारजी घनश्यामलालजी (राजकोट–कामवन)
(३१) गो.चि.श्रीव्रजेशकुमारजी चन्द्रगोपालजी (वीरमगाम–अमदावाद)
(३२) गो.श्रीशरदकुमार–शीलुबावाजी मुरलीधरजी (वेरावल–पोरबन्दर–मुंबई)

(३३) गो.श्याम मनोहर दीक्षितजी (किशनगढ़-मुंबई)
(३४) गो.श्रीश्यामसुन्दरजी मुरलीधरजी (मुंबई)
(३५) गो.श्रीहरिरायजी व्रजभूषणलालजी (जामनगर)
(१) श्रीजयवल्लभशास्त्रीजी (मुंबई)
(२) श्रीनिरंजनशास्त्रीजी (उमरेठ-मुंबई)
(३) श्रीवसंतशास्त्रीजी (मथुरा)
(४) श्रीव्रजेशशास्त्रीजी (महेसाणा-वीसनगर)

***

गोस्वामी श्याम मनोहर (किशनगढ़-मुंबई) द्वारा प्रस्तुत सिद्धांतवचनावली के लीये ओर उनके समीक्षार्थ प्रस्तावित भावानुवाद के लीये अपनी सहमति दर्शानेवाले महानुभावों की नामावली :

(१) गो.श्रीअनीरुद्धलालजी द्वारकेशलालजी*(मांडवी-हालोल)
(२) गो.चि.श्रीकन्हैयालालजी चन्द्रगोपालजी (विरमगाम-अमदावाद)
(३) गो.श्रीकिशोरचन्द्रजीपुरुषोत्तमलालजी (जूनागढ़-मुंबई)
(४) गो.चि.श्रीकृष्णकान्तजी कृष्णचन्द्रजी (मुंबई-उदयपुर)
(५) गो.श्रीकृष्णकुमारजी रमणलालजी (मुंबई-कामवन)
(६) गो.श्रीगिरिधरलालजी गोविन्दरायजी** (कामवन-विद्यानगर)
(७) गो.चि.श्रीगोपिकालंकारजी वल्लभलालजी (राजकोट)
(८) गो.चि.श्रीदेवकीनन्दनाचार्यजी गोकुलनाथजी (गोकुल-अमदावाद)
(९) गो.चि.श्रीद्रुमिलकुमारजी मथुरेश्वरजी (वडोदरा)
(१०) गो.श्रीद्वारकेशलालजी गोविन्दरायजी** (कामवन-सुरत)
(११) गो.श्रीनवनीतलालजी गोविन्दरायजी** (कामवन-भावनगर)
(१२) गो.चि.श्रीमथुरेशजी चन्द्रगोपालजी* (अमदावाद-वीरमगाम)
(१३) गो.श्रीमाधवरायजी मुरलीधरजी* (वेरावल)
(१४) गो.श्रीरघुनाथलालजी रमणलालजी (मुंबई-गोकुल)
(१५) गो.चि.श्रीरघुनाथजी रमेशचन्द्रजी (मुंबई)
(१६) गो.चि.श्रीरवीन्द्रकुमारजी दामोदरलालजी (मांडवी-राजकोट)

(१७) गो.श्रीरसिकरायजी द्वारकेशलालजी (मथुरा-पोरबन्दर)
(१८) गो.श्रीराजेशकुमारजी गोविन्दरायजी (कड़ी-अमदावाद)
(१९) गो.चि.श्रीवल्लभलालजी गिरिधरलालजी (कामवन-विद्यानगर)
(२०) गो.श्रीवल्लभलालजी गोविन्दरायजी (कड़ी-अमदावाद)
(२१) गो.चि.श्रीवल्लभलालजी देवकीनन्दनाचार्यजी (गोकुल-अमदावाद)
(२२) गो.श्रीविजयकुमारजी गोविन्दरायजी (गोंडल-कड़ी)
(२३) गो.श्रीविट्ठलनाथज लालमणिजी रणछोड़लालजी (जतिपुरा-कोटा-मुंबई)
(२४) गो.श्रीव्रजरायजी रणछोड़लालजी* (अमदावाद)
(२५) गो.श्रीव्रजेशकुमारजी गोविन्दरायजी* (अमदावाद-कड़ी)
(२६) गो.श्रीव्रजेशकुमारजी चन्द्रगोपालजी (वीरमगाम-अमदावाद)
(२७) गो.श्रीशरदकुमार-शीलुबावा जी मुरलीधरजी (वेरावल-पोरबंदर-मुंबई)
(२८) गो.श्रीश्यामसुन्दरजी मुरलीधरजी (मुंबई)
(१) श्रीनवनीतप्रियशास्त्रीजी *(नड़ियाद)
(२) श्रीवसन्तशास्त्रीजी (मथुरा)
(३) श्रीव्रजेशशास्त्रीजी (महेसाणा-वीसनगर)

***

गोस्वामी श्याम मनोहर (किशनगढ़-मुंबई) द्वारा प्रस्तुत सिद्धांतवचनावली के लीये ओर उनके समीक्षार्थ प्रस्तावित भावानुवाद के लीये अपनी असहमति दर्शानेवाले महानुभावों की नामावली :

(१) गो.श्रीगोपाललालजी पुरुषोत्तमलालजी* (कोटा)
(२) गो.चि.श्रीमथुरेश्वरजी मधुसूदनजी (वडोदरा)
(३) गो.श्रीवल्लभलालजी गोविन्दरायजी (सुरत)
(४) गो.चि.श्रीविनयकुमारजी गोपाललालजी* (कोटा)
(५) गो.श्रीव्रजरत्नलालजी वेंकटेशजी* (सुरत)
(६) गो.श्रीव्रजरमणलालजी दामोदरलालजी* (मथुरा)
(७) गो.चि.श्रीशरदकुमारजी गोपाललालजी* (कोटा)
(८) गो.श्रीहरिरायजी व्रजभूषणलालजी (जामनगर)

***

गोस्वामी श्याम मनोहर (किशनगढ़–मुंबई) द्वारा प्रस्तुत सिद्धांतवचनावली के लीये ओर उनके समीक्षार्थ प्रस्तावित भावानुवाद के लीये सभामें मौन धारण करनेवाले महानुभावों की नामावली :

(१) गो.श्रीउत्तमश्लोकजी दीक्षितजी (किशनगढ़–मुंबई)
(२) गो.श्रीकल्याणरायजी गोविन्दरायजी (पूना–सुरत)
(३) गो.श्रीकृष्णचन्द्रजी कृष्णजीवनजी (मुंबई)
(४) गो.श्रीगोविन्दरायजी रणछोड़लालजी (पोरबन्दर)
(५) गो.चि.श्रीचन्द्रगोपालजी मधुसूदनलालजी (वडोदरा)
(६) गो.श्रीत्रिलोकीभूषणजी त्रिकमरायजी (कोटा–कलकत्ता)
(७) गो.चि.श्रीद्वारकेशलालजी व्रजजीवनजी (अमरेली–मुंबई)
(८) गो.चि.श्रीपुरुषोत्तमजी व्रजजीवनजी (अमरेली–मुंबई)
(९) गो.चि.श्रीप्रशान्तकुमारजी राजकुमारजी (मुंबई)
(१०) गो.श्रीबालकृष्णजी गोविन्दरायजी (सुरत)
(११) गो.श्रीव्रजजीवनजी पुरुषोत्तमलालजी (अमरेली–मुंबई)
(१२) गो.चि.श्रीव्रजेशकुमारजी घनश्यामलालजी (राजकोट–कामवन)
(१) श्रीजयवल्लभशास्त्रीजी (मुंबई)
(२) श्रीनिरंजनशास्त्रीजी (उमरेठ–मुंबई)

(संवाद स्थापक–मंडल के सौजन्यसे)

(+) पृष्ठ संख्या ४, शीर्षक १–ख, में ‘कोईक पुरुषके’ शब्द प्रयोग के स्थान पर ‘ऐसे पुरुषके’ शब्द प्रयोग होना चाहीये ओर पृष्ठ संख्या ११, शीर्षक २–घ में ‘थोथा’ शब्द न होना चाहिये ।

(*) पत्रद्वारा प्राप्त ।

(**) हमारे विचारसे इन वचननको जो अनुवाद श्री श्याम मनोहरजीने कियो है वह सही है एवं या अनुवादसूं जहां कहीं व्यक्तिगत उल्लेखकी गंध है या स्थलकु छोडके हम सहमत है ।

***

पक्षग्रहण

गो.श्रीहरिरायजी (जामनगर) को सिद्धान्ततया अभिमत तथा चर्चासभामें स्वीकृत पक्षोंकी सूचि

सेवास्वरूप:

(पक्षग्रहणकोटिक्रमसारांश)

१. गो.श्रीश्याममनोहरजी : पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तोंके अनुसार मानसीकी साधनरूपा सेवा जो होती है वह तनुवित्तजा ही होती है या तनुजा और वित्तजा भी?

गो.श्रीहरिरायजी : अर्थात् सेवात्रैविध्य है या द्वैविध्य यही आपका आशय है न?

२. गो.श्रीश्याममनोहरजी : बराबर ! सुन्दर !

गो. श्रीहरिरायजी : त्रैविध्यम् ।

सेवाप्रदर्शन:

(पक्षग्रहणकोटिक्रमसारांश)

१. गो.श्रीश्याममनोहरजी : सिद्धान्त: भगवत्सेवाका प्रदर्शन आमजनताको कराया जा सकता है या नहीं ?

गो.श्रीहरिरायजी : श्रीनाथजीकी सेवा जो प्रकट करी उसमें मंदिरसेवा और दर्शनसेवाका प्रावधान है । उस समय दर्शन, मंदिरको सिद्धान्तत: स्वीकार लिया गया था ।

सेवाप्रयोजन:

(पक्षग्रहणकोटिक्रमसारांश)

१. गो.श्रीश्याममनोहरजी : सेवाका प्रयोजन भक्तिप्रवर्धनके अलावा लौकिक या अलौकिक कुछ ओर भी हो सकता है या नहीं?

गो.श्रीहरिरायजी : पुष्टिमार्गमें (या) पुष्टिसिद्धान्तमें?

२. गो.श्रीश्याममनोहरजी : पुष्टिसिद्धान्तमें संभव है या नहीं?

गो. श्रीहरिरायजी : अधिकारिभेदसे संभव है ।

सेवास्थल :

(पक्षग्रहणकोटिक्रमसारांश)

१. गो.श्रीश्याममनोहरजी : सेवास्थल स्वगृह होता है या सार्वजनिक मन्दिर भी?

गो.श्रीहरिरायजी : सिद्धान्त या शास्त्रोंमें 'सार्वजनिक' शब्द मैंने पढा नहीं, तब यहाँ जोडनेका कारण क्या?

२. गो.श्रीश्याममनोहरजी : शास्त्रमें मूर्तिकी परार्थप्रतिष्ठा साधारण जनता के लिये की जाती है, स्वार्थप्रतिष्ठा स्वयं तथा परिवारके आराधनार्थ । अत: परार्थप्रतिष्ठा जहां हुई वहाँ उसे सार्वजनिक समजना चाहिये । सो सिद्धान्तत: पुष्टिभक्ति के लिये सेवास्थल सेवाकर्ताका घर ही होता है या सार्वजनिक स्थल भी?

गो. श्रीहरिरायजी : शास्त्रमें इतना ही है, देवालयमन्दिर और गृहमन्दिर । पुष्टिमार्गमें देवालय नहीं होता । मन्दिर और घर दोनों जगह सेवा हो सकती है ।

३. गो. श्रीश्याममनोहरजी : आदरणीय श्रीव्रजरत्नलालजी महाराज (सुरत) के शब्दोमें कहूँ तो पुष्टिमार्गमें घरमें मन्दिर हो सकता है परंतु मन्दिरमें

घर नहीं। घरमें मन्दिर सार्वजनिक नहीं हो सकता, इसमें आपका पक्ष कौनसा है?

गो.श्रीहरिरायजी : श्रीगोपीनाथजीने साधनदीपिकामें 'मन्दिर' शब्द जिस आशयसे लिखा उस आशयमें हो सकता है।

४. गो.श्रीश्याममनोहरजी : पक्ष स्पष्ट नहीं हुआ। मेरे पूछनेका अभिप्राय यह है कि घरमें तो मन्दिर हो सकता हे पर मन्दिरमें घर नहीं। अर्थात् सेवा करनेवालेकी मालिकीके घरमें सेवयस्वरूपका मन्दिर हो सकता है परन्तु सेव्यस्वरूपकी मालिकीके मन्दिरमें सेवाकर्ता रह नहीं सकता। इसमें आपका क्या पक्ष है?

गो.श्रीहरिरायजी : मालिककी चर्चा बादमें होगी। श्रीगोपीनाथजीने साधनदीपिकामें गृह और मन्दिर का जो तारतम्य बताया है वह हमें मान्य है।

५. गो.श्रीश्याममनोहरजी : पक्ष स्पष्ट नहीं हुआ। सेवाकर्ताकी मालिकीके घरमें भगवन्मन्दिर हो सकता है या सेव्यस्वरूपकी मालिकीके मन्दिरमें सेवाकर्ता रह सकता है?

गो.श्रीहरिरायजी : स्पष्ट कह रहा हूँ। श्रीगोपीनाथजीने घरमें मन्दिरको स्वीकारा है। अर्थात् जो गृह स्वामी है वह मन्दिर भी उसीका है।

६. गो.श्रीश्याममनोहरजी : जो सेवा करनेवालेकी मालिकीका घर है उसमें भगवन्मन्दिर होनेका सिद्धान्ततः मान्य है न?

गो.श्रीहरिरायजी : जो सेवाकर्ता हो उसके घरमें भगवन्मन्दिर हो सकता है इसमें कोई दो राय नहीं। आपको शायद श्रीगोपीनाथजीकी उक्ति ध्यानमें नहीं लगती।

७. गो. श्रीश्याममनोहरजी : ध्यानमें तो बहोत कुछ है। आप 'हो सकता है' कह रहे हो; सिद्धान्तः क्या होना चाहिये वह स्पष्ट क्यों नहीं करते हो?

गो. श्रीहरिरायजी : वह इसलिये कि बादमें उसमें सार्वजनिकता, ट्रस्ट आदि जोड दिया जायगा । अत: जो जोडना हो वह पहले जोडकर बोलें ।

८. गो. श्रीश्याममनोहरजी : शंकामें दो पक्ष में प्रस्तुत करता हूँ; आपको क्या अभिमत है या क्या अनभिमत यह आपका उत्तरदायित्व है । किसी भी तरहकी अस्पष्टता मेरे पूछनेमें हो तो स्पष्टीकरण देना मेरा उत्तरदायित्व है ।

गो. श्रीहरिरायजी : तो 'ट्रस्ट' आदि जो कुछ जोडना हो, जोड दो । तभी उत्तर दूँगा ।

९. गो. श्रीश्याममनोहरजी : ट्रस्ट या घरको प्रश्न नहीं है; प्रश्न है भगवत्स्वामिक मन्दिरमें भगवत्सेवा या सेवाकर्तृस्वामिक गृहमें भगवत्सेवा? इन दो पक्षोंके बीच आपको अभिमत पक्ष कौनसा है ?

गो. श्रीहरिरायजी : जिस मन्दिरमें देवत्वेन प्रतिष्ठपूर्वक भगवान बिराजते हो वह मन्दिर देवालय होता है, वह घर नहीं हो सकता । लेकिन घरमें कोई भी सेवा करता है; जेसे हमारे पूर्वज घरमें ही, अपने मन्दिरोंमें ही सेवा करते थे, वही भगवद्भजनानुकूल घर होता है । वही घरमन्दिर होता है ।

१०. गो. श्रीश्याममनोहरजी : स्पष्ट नहीं हुआ ।

गो. श्रीहरिरायजी : घरमें, जैसे प्राचीन मन्दिरोंमें हवेलियोंमें गो.बालकोंके घरमें, भगवानका मन्दिर होता है वह भगवद्भजनानुकूलतया निर्मित हुवे हैं; जो प्रकार अभी भी आपके सामने दिखलाई दे रहा है । वह सही है और हमें मान्य है ।

११. गो. श्रीश्याममनोहरजी : दो पक्षोंमेंसे आपका कौनसा पक्ष है यह स्पष्ट नहीं हो पाया ।

गो. श्री हरिरायजी : वहाँ कौन मालिक हुआ? हमारे पूर्वज गो.

महानुभावोंके स्वामित्वमें ही वह पूरी हवेली होती थी ।

१२. गो. श्रीश्याममनोहरजी : जो दो पक्ष मैंने आपके सामने रखे उनमेंसे कोई एक पक्ष आपका है या कोई तीसरा ही?

गो. श्रीहरिरायजी : किसी भी देवमूर्तिकी शास्त्रोक्तविधानके अनुसार प्राणप्रतिष्ठा नहीं की जाती तब तक वह स्थल उस देवमूर्तिकी मालिकीका नहीं बनता । पुष्टिमार्गीय मंदिरोंमें शास्त्रोक्तविधिसे प्राणप्रतिष्ठा नहीं की जाती अत: भगवन्मंदिर होनेपर भी देवालय नहीं होता ।

१३. गो. श्रीश्याममनोहरजी : विषयान्तर ही चालु है । जैसे हम पुष्टिमार्गी घरमें सेवा करते हैं वैसे ही मर्यादामार्गीय भी अपने घरमें पूजा करनेको किसी देवमूर्तिमें शास्त्रोक्तविधानसे प्राणप्रतिष्ठा करते ही हैं । एतावता यह मर्यादामार्गीय घर देवालय या देवमूर्तिस्वामिक नहीं बन जाता । इस लिये शास्त्रोक्तविधिसे प्राणप्रतिष्ठा देवालय होनेका हेतु नहीं किन्तु देवमूर्तिस्वामिकत्व अथवा आराधकस्वामिकत्व ही ‘घरमें मंदिर’ या सार्वजनिक मंदिरका विभेदक होता है । अत: यह बताईये कि सेवाकर्ताकी मालिकीके घरमें भगवत्सेवा करनी चाहिये अथवा सेव्यस्वरूपकी मालिकीके मंदिरमें पुष्टिममार्गीको भगवत्सेवा करनी चाहिये?

गो. श्रीहरिरायजी : सेवाकर्ताकी मालिकीवाले घरमें ।

१४. गो. श्रीश्याममनोहरजी : तो सेवाकर्ताकी मालिकीके घरमें जो भगवन्मंदिर हो इसमें भगवत्सेवा करनी चाहिये यह पक्ष आपने ग्रहण किया न?

गो. श्रीहरिरायजी : बिलकुल !

१५. गो. श्रीश्याममनोहरजी : अब स्पष्ट हुआ । सेवा करनेवालेकी मालिकीवाले घरमें ही भगवन्मंदिर श्रीहरिरायजीको अभिमत पक्ष है । बहोत बहोत धन्यवाद ।

सेव्यस्वरूप:

(पक्षग्रहणकोटिक्रमसारांश)

: क :

१. गो. श्रीश्याममनोहरजी : पुष्टिमार्गीय सेवास्वरूप सेवाकर्ताके परिवारका सेव्य होता है या परिवारेतर किसीका भी; चाहे वह पुष्टिमार्गीय हो या अपुष्टिमार्गीय? उदाहरणतया मर्यादामार्गीय प्राणप्रतिष्ठा स्वार्थ भी होती है, परार्थ भी । परार्थप्रतिष्ठा भी किसी समुदायविशेषके लिये अथवा सर्वजनताके लिये परार्थप्रतिष्ठा होनेपर सभी आस्तिक जनसमुदायका वहाँ स्वत्व स्थापित होता था । अत: सभीको वहाँ समर्पणाधिकार प्राप्त होता था । फलत: प्रसादादिग्रहणका भी अधिकार प्राप्त होता था । ऐसी देवमूर्तिको दानतया प्रदत्तका उपभोग वर्जित था ओर करनेपर राजदण्डका भी प्रावधान होता था । स्वार्थप्रतिष्ठापित देवमूर्तिकी पूजादिके लिये परिवारेतर जनोंसे द्रव्यादि स्वीकारना चाण्डालवत् अशुद्ध देवलकताका अपराध माना जाता था । तदनुसार अपने यहाँ यद्यपि प्राणप्रतिष्ठा नहीं होती तथापि भावप्रतिष्ठा है, जिसे हम 'पुष्ट करना' कहते हैं । वह स्वार्थप्रतिष्ठा है या परार्थप्रतिष्ठा? यदि पुष्टिमार्गीयस्वरूपकी भावप्रतिष्ठा परार्थ हो तो सभीको सेवासमर्पणाधिकार प्राप्त होगा । तब केवल दानतया दी गई वस्तुका प्रसादत्वेन ग्रहण 'दत्तापहार' कहलायेगा । यदि पुष्टिमार्गीय स्वरूपकी भावप्रतिष्ठा स्वार्थ हो तो परिवारेतर किसीसे भी भेट सामग्री, मनोरथ के लिये, कुछ भी स्वीकारना चाण्डालोपम देवलकत्वके ही अपराधका जनक होता है । अत: इस सन्दर्भमें आप स्पष्ट करें कि भावप्रतिष्ठा स्वार्थ होती है या परार्थ?

गो. श्रीहरिरायजी : मेरा स्पष्टतम मत यह है कि पुष्टिमार्गीय वैष्णव के लिये जब सेव्यस्वरूप पधराया जाता है तो वह स्वार्थप्रतिष्ठा होती है

परन्तु पुष्टिमार्गीय गुरु जो सेवा करता है वह सेव्यस्वरूप स्वार्थ परार्थ होता है अर्थात् परार्थ भी है ।

२. गो. श्रीश्याममनोहरजी : अर्थात् विषयव्यवस्थासे विभेद है; वैष्णवके यहाँ केवल स्वार्थ और गोस्वामियोंके यहाँ स्वार्थपरार्थ अर्थात् उभयार्थ, ऐसे ही न?

गो. श्रीहरिरायजी : स्वामित्व पहले आ चुका है उसे नहीं भूलेंगे ! स्मर्तव्यम् ! अवेधयम् !

३. गो. श्रीश्याममनोहरजी : अनुयायीके केवल स्वार्थ तथा गुरुके स्वार्थपरार्थ ! बहोत सुन्दर !

: ख :

१. गो. श्रीश्याममनोहरजी : क्या गुरुके यहाँ बिराजते सेवयस्वरूप कोई विशेष पुरुषोत्तमता लिये हुए और शिष्यके यहाँ बिराजते स्वरूप न्यून पुरुषोत्तमता लिये हुए या दोनों जगह बिराजते स्वरूप समान पुरुषोत्तमता लिये हुए होते हैं?

गो. श्रीहरिरायजी : पुरुषोत्तमत्व कहाँ कम होता है और कहाँ ज्यादा होता है ऐसा सिद्धान्तका कोई सूत्र या वचन नहीं है ! श्रीमहाप्रभु श्रीगुसाँईजीके निधिस्वरूपोंके बारेमें हम पुष्टिमार्गीयोमें भावनाधिक्य तो होता ही है.

२. गो. श्रीश्याममनोहरजी : बहोत बहोत बहोत धन्यवाद । पुरुषोत्तमके तारतम्यके बारेमें कोई वचन नहीं है फिर भी श्रीमहाप्रभु आदिके निधिस्वरूपमें भावनाधिक्य तो होता ही है ।

गो. श्रीहरिरायजी : कमसे कम मुझे तो ऐसा वचन कहीं नहीं मिला, फिर हो तो मुझे पता नहीं ।

सेवार्थ आजीविका :

(पक्षग्रहणकोटिक्रमसारांश)

१. गो. श्रीश्याममनोहरजी : पुष्टिमार्गीय सेवाकर्ता भगवत्सेवाद्वारा भेट या सामग्री कुछ उपार्जित कर सकता है या नहीं?

गो. श्रीहरिरायजी : उत्तम प्रकार तो यही है कि भगवत्सेवाको द्रव्योपार्जनका उपाय नहीं बनाना चाहिये। जघन्य तो बनता ही है !

२. गो. श्रीश्याममनोहरजी : जघन्य जो बनाता है वह सिद्धान्ततया अभिमत है या अनभिमत ?

गो. श्रीहरिरायजी : अर्थार्थीको भी गीतामें भक्त तो माना ही है !

३. गो. श्रीश्याममनोहरजी : परन्तु वह सिद्धान्ततया अभिमत है या अनभिमत?

गो. श्रीहरिरायजी : अभिमत नहीं है यह में कैसे कहूँ जबकि सिद्धान्तमुक्तावलीकी ''लोकार्थी चेत्'' कारिकामें श्रीमहाप्रभुजी श्रीपुरुषोत्तमजीनें उसे जघन्याकारी माना है।

४. गो. श्रीश्याममनोहरजी : पुष्टिमार्गमें जैसे उत्तमाधिकारी भक्तिका अधिकारी है परन्तु जो उत्तमाधिकारी नहीं है वह प्रपत्तिका अधिकारी होता है। यों भक्ति जितना उत्तमाधिकार न होने पर भी प्रपत्ति भक्तिके विकल्प या अनुकल्पके रूपमें सिद्धान्तभिमत है, प्रतिकूल कल्प नहीं है। इसी तरह सेवाके द्वारा आजीविका अर्जित करनेवाला अर्जित न करनेके उत्तम कल्पका अनुकल्प है या प्रतिकूल कल्प? अर्थात् ऐसा जघन्याधिकारी हीनाधिकारितया अनुमत कल्प है या निषिद्ध कल्प?

गो. श्रीहरिरायजी : ''लोकार्थी...'' कारिकाकी व्याख्यामें लाभपूजार्थ प्रयत्नको उपधर्म तथा देवलकत्व सम्पादक होनेके कारण उससे भिन्न अर्थात् अनिषिद्धप्रकारसे, ''मेरी ऐहिक वस्तुकी कामना पूर्ण हो'' ऐसे

अनुसन्धानके साथ, जो भगवद्भजनमें प्रवृत्त होता है उसे ‘लोकार्थी’ पदसे कहा गया है ।

५. गो. श्रीश्याममनोहरजी : अर्थात् लाभ और पूजा के लिये जो आजीविकार्थ सेवा करता है वह उपधर्म है, यानिकि पाखंड है जिससे कर्ता देवलक बनता है; जो निषिद्धकल्प है ।

गो. श्रीहरिरायजी : हाँ, ऐसा भी है ! परन्तु पंक्तिमें ‘आजीविका’ शब्द आया नहीं है; शायद ‘आदि’ शब्दके अर्थतया लिया जा रहा है ।

६. गो. श्रीश्याममनोहरजी : देवलककी परिभाषामें ही वह अर्थ आ जाता है “देवार्चनपरो यस्तु वित्तार्थी वत्सरत्रयम् ।”

गो. श्रीहरिरायजी : ‘वत्सरत्रयम्’ पदपर ध्यान देना चाहिये !

७. गो. श्रीश्याममनोहरजी : अर्थात् तीन बरस तक माफ किया जा सकता है; बादमें देवलक घोषित कर देना चाहिये ।

गो. श्रीहरिरायजी : मतलब यह है कि करते ही तुम देवलक नहीं बन जाते ।

८. गो. श्रीश्याममनोहरजी : कोई भी स्थितिमें देवलक निषिद्धकोटिका जघन्याधिकारी है या अनधिकारी ही है इसमें तो कोई सन्देह नहीं न?

गो. श्रीहरिरायजी : वह तो स्वीकार्य हे ।

९. गो. श्रीश्याममनोहरजी : पुष्टिमार्गमें जहाँ सेव्यस्वरूपकी प्राणप्रतिष्ठा नहीं की जाती वहाँ भी स्वरूपसेवा द्वारा आजीविका अर्जित करनेके या ख्याति बढानेके प्रयत्न करनेवाला देवलक होता है; अर्थात् निषिद्धप्रकारका जघन्याधिकारी होता है या नहीं?

गो. श्रीहरिरायजी : श्रीपुरुषोत्तमजी यहाँ यही कह रहे हैं ! फिर भी यहाँ “तादृशश्चेत्... कृष्णं भजेत्... भगवत्प्रियाचार्यमार्गस्थत्वेन” शब्दोंपर विशेषतया ध्यान देना चाहिये । (श्रीसुरेशबावाद्वारा पूछे जानेपर) यह

अनिषिद्ध के लिये आया है । निषिद्धकी बात तो अपने (गो. श्याममनोहरजीने) स्पष्ट कर ही दी है !

गो. श्रीश्याममनोहरजी : बहोत सुन्दर !

स्वसेव्यस्वरूपप्रसादग्रहण :

(पक्षग्रहणकोटिक्रमसारांँश)

१. गो. श्रीश्याममनोहरजी : निवेदितका ही समर्पण होता है और समर्पित सामग्रीका ही प्रसाद लिया अथवा लिवाया जा सकता है या फिर दानतया प्राप्त कर भोग धरी हुई सामग्रीका भी ?

गो. श्रीहरिरायजी : समर्पितका ही ।

२. गो. श्रीश्याममनोहरजी : दानतया प्राप्तकर भोग धरी हुई सामग्रीका लिया जा सकता है अथवा नहीं ?

गो. श्रीहरिरायजी : दत्तापहार दोष लगता होनेसे दानतया प्राप्तकर भोग धरी हुई सामग्रीका प्रसाद नहीं लिया जा सकता । जो भगवानको दान दी गई हो; जो देवको दी गई हो कहना चाहूंगा ।

३. गो. श्रीश्याममनोहरजी : निवेदितका ही समर्पण होता है या अनिवेदितका भी ?

गो. श्रीहरिरायजी : जीवसे संबंधित वस्तुमात्र समर्पित हो जाती है !

४. गो. श्रीश्याममनोहरजी : भूतवर्तमानभावि स्वत्वाभिमानविषय ही संबंधित होता है या ऐसे अभिमानका अविषय भी ?

गो. श्रीहरिरायजी : कालभेद नहीं है; जन्मजन्मांतरके संस्कारत: ऐहिक पारलौकिक सभी कुछ समर्पित हो जाता है !

५. गो. श्रीश्याममनोहरजी : हम जिस सरकारी बसमें सवारी करते हैं वह समर्पित होती है या नहीं ?

गो. श्रीहरिरायजी : संबंध जोडनेवाले शास्त्रीय संस्कारके आभारवश उसे समर्पित नहीं, केवल व्यवहार्य मानना चाहिये । इसके विपरीत किसी स्त्रीसे विवाहके संस्कारवश संबंध स्थापित होता है अत: उसका समर्पण विवाहसे पूर्व भी (पतिने दीक्षा ली हो तब भी) हो जाता है ।

६. गो. श्रीश्याममनोहरजी : शास्त्रानुमोदित भूतवर्तमानभाविके स्वत्वाभिमानके विषय ही संबंधित होते हैं और संबंधितका भी समर्पण होता है न?

गो. श्रीहरिरायजी : हाँ ।

७. गो. श्रीश्याममनोहरजी : शास्त्रानुमोदित भूतवर्तमानभाविके स्वत्वाभिमानविषयोंका ही संबंधिततया निवेदन किया जाता है अत: असंबंधित अनिवेदित समर्पित होता है या नहीं ?

गो. श्रीहरिरायजी : नहीं ।

८. गो. श्रीश्याममनोहरजी : असमर्पित वस्तुको भगवत्सेवार्थ किसी दूसरेसे लेनेपर दान होता है या नहीं ?

गो. श्रीहरिरायजी : जिसमें स्वत्व नहीं उसके असमर्पित होनेके कारण असमर्पितका ग्रहण ही अप्रासंगिक बात है ।

९. गो. श्रीश्याममनोहरजी : असमर्पित वस्तुको भी भगवत्सेवार्थ दूसरेसे लेनेपर दानतया स्वीकारना होता है या नहीं; क्योंकि ‘‘दाने हि न स्वविनियोग:’’ कहा गया है ।

गो. श्रीहरिरायजी : दृष्टतया कोई वस्तु असंबंधित होनेपर भी अदृष्टतया संबंधित होनेपे समर्पित हो सकती है । एतावता दानतया ही उसे स्वीकारना आवश्यक नहीं है ।

१०. गो. श्रीश्याममनोहरजी : दृष्ट या अदृष्ट हेतुके वश शास्त्रानुमोदित स्वत्वाभिमानकी विषयीभूत वस्तुका निवेदन होता है, निवेदितका ही

समर्पण होता है; अनिवेदितका समर्पण नहीं होता, अत: असमर्पितका स्वविनियोग वर्जित होता है या नहीं?

गो. श्रीहरिरायजी : शास्त्रानुमोदित अदृष्ट स्वत्वका निर्णय ले पाना अशक्य है !

११. गो. श्रीश्याममनोहरजी : शास्त्रानुमोदित स्वत्वका निर्णय भगवत्सेवार्थ विनियोग एवं स्वार्थ उपयोगसे पूर्व लेना आवश्यक है या नहीं?

गो. श्रीहरिरायजी : भगवत्सेवार्थ विनियोग हो जानेपर अनुमेय है !

१२. गो. श्रीश्याममनोहरजी : ऐसी स्थितिमें ‘‘दाने हि न स्वविनियोग:’’ वचन कहीं सावकाश है या नहीं?

गो. श्रीहरिरायजी : दान या समर्पणकी प्रक्तनकर्मजन्य मनोवृत्तियोंके भिन्न भिन्न होनेके कारण जहाँ दानकी मनोवृत्तिसे दिया जाता है वहीं यह वचन सावकाश है ।

१३. गो. श्रीश्याममनोहरजी : दानकी प्रक्तनकर्मजन्य मनोवृत्तिके साथ जहाँ कुछ भगवत्सेवार्थ दिया जाता हो वहाँ तो ‘दान’ कहलायेगा न, ‘समर्पण’ तो नहीं?

गो. श्रीहरिरायजी : अज्ञानवश कोई वैष्णव दान देनेकी मनोवृत्ति रखकर कुछ दे देता हो एतावता उसे प्राक्तनकर्मजन्य मनोवृत्तिवश दिया हुआ दान नहीं मान लेना चाहिये, क्योंकि ऐसा अज्ञान गुरूपदेशसे निवृत्त हो सकता हैं ।

१४. गो. श्रीश्याममनोहरजी : दानकी मनोवृत्तिसे देनेवाले वैष्णवका अज्ञान जहाँ गुरु निवृत्त नहीं करते वहाँ दान होता है या समर्पण?

गो. श्रीहरिरायजी : अनेकों वैष्णवोमें गुरु एक होता है अत: वह शक्य नहीं है !

१५. गो. श्रीश्याममनोहरजी : जहाँ वैष्णवों और गुरु, दोनोंके बीच

सहमतिपूर्वक भगवत्सेवार्थ परधन या परवस्तु ली जाती हो वहाँ तो दान होता है या वहाँ भी समर्पण ही?

गो. श्रीहरिरायजी : ठाकुरजीके लिये ही लेनेदेनेकी जब दोनोंके बीच सहमति हो वहाँ दान हो सकता है । फिर भी श्रीमहाप्रभुके निधि मेरे आपके नहीं प्रत्युत सभीके हैं अत: समर्पण ही होता है ।

१६. गो. श्रीश्याममनोहरजी : गोस्वामी सभी दृष्टस्वत्वके कारण एक दूसरेके ठाकुरजीको समर्पण कर सकते हैं, परंतु कोर्टमें परस्पर स्वीकृत अस्वत्वके साथ जब भगवत्सेवार्थ वैष्णवसे द्रव्यग्रहण किया जाता है तब दान होता है या समर्पण?

गो. श्रीहरिरायजी : सेवासिद्धान्त शास्त्रीय विषय है; उसमें आंबेडकरस्मृतिको प्रमाण नहीं माना जा सकता !

१७. गो. श्रीश्याममनोहरजी : यदि वैष्णव और गुरु दोनों मिलकर आंबेडकरस्मृति को प्रमाण मानकर चलें तब दान होता है या समर्पण? और यदि दान होता हो तो ‘‘दाने हि न स्वविनियोग:’’ निषेध लागू होगा या नहीं?

गो. श्रीहरिरायजी : आंबेडकरस्मृतिका प्रामाण्य इस विषयमें अप्रासंगिक है अत: अज्ञानवश कोई गुरु वैसा करता है तो वह अतिव्यावहारिक विषय है। यह पत्रकारपरिषद नहीं अत: में व्यक्तिगत चर्चा नहीं करना चाहता !

१८. गो. श्रीश्याममनोहरजी : प्रश्न व्यक्तिगत व्यवहारका नहीं, सिद्धान्तका है कि ऐसी स्थितिमें सिद्धान्तत: दान होता है या नहीं?

गो. श्रीहरिरायजी : आंबेडकरस्मृतिको प्रमाण मानकर कोई गुरु एवं वैष्णव भगवत्सेवार्थ द्रव्य लेतेदेते हैं तो वह उनका दुर्भाग्य है; मैं क्या करू?

१९. गो. श्रीश्याममनोहरजी : ऐसी स्थितिमें तो नि:संकोच आप भी

स्वीकारेंगे कि ‘‘दाने हि न स्वविनियोग:’’ निषेध लागू होगा कि नहीं?

गो. श्रीहरिरायजी : इसमें तो मुझे संकोच पहले भी नहीं था, अभी भी नहीं है ।

२०. गो. श्रीश्याममनोहरजी : आंबेडकरस्मृतिको प्रमाण मानकर गो. गुरु तथा अनुयायी वैष्णवजनता जब परस्पर सहमति साधकर भगवत्सेवार्थ पराया द्रव्य लेतेदेते हैं; जहाँ देनेवालेका रसीदद्वारा व्यक्त होता संकल्प-मनोवृत्ति भगवानको ही देनेका है तथा लेनेवालेकी पॅम्फलेट-रसीदद्वारा अभिव्यक्त मनोवृत्ति भगवदर्थ ही लेनेकी है; वहाँ तो स्वविनियोगार्थ निषिद्ध देवद्रव्य होता है न?

गो. श्रीहरिरायजी : मेंने आंबेडकरस्मृतिकी बात नहीं पढी इसलिये कुछ कह नहीं सकता । इतना अवश्य कह सकता हूँ कि भगवत्सेवार्थ देनेलेनेवाले वैष्णव और गुरु गोस्वामि वर्ग जब सिद्धान्तके निर्धारणमें हृदयसे आंबेडकरस्मृतिको प्रमाणतया स्वीकारते हों तो वह अनुचित है क्योंकि इस विषयमें उसे प्रमाण ही माना नहीं जा सकता । यह तो अतिव्यावहारिक चर्चा हुई; सिद्धान्तचर्चा नहीं ।

२१. गो. श्रीश्याममनोहरजी : मैं भी उस व्यक्तिके बारेमें कोई निर्णय नहीं पूछ रहा हूँ; ऐसी स्थितिमें सिद्धान्त: क्या मानना चाहिये यही पूछ रहा हूँ । वह तो बतायेंगे न?

गो. श्रीहरिरायजी : मैने सिद्धान्त कह दिया । में कोई पत्रकारपरिषदमें नहीं बैठा हूँ ! यह शास्त्रार्थका विषय है अत: शास्त्रार्थके समय ही बताऊंगा ।

२२. गो. श्रीश्याममनोहरजी : विषय शास्त्रार्थका नहीं; पूछनेका प्रयोजन ये है कि आपका पक्ष क्या है यह स्पष्ट नहीं हो रहा है । न मैने उपपत्ति दी है न मैं मांग रहा हूँ, पर आपका पक्ष तो स्पष्ट शब्दोमें कहेंगे कि नहीं?

गो. श्रीहरिरायजी : पक्ष मैं ग्रहण कर रहा हूँ आंबेडकरस्मृतिको छोडकर

शास्त्रप्रमाणके अनुसार जो संकल्प होते हैं उनहें ही मान्य करना चाहिये । यदि कोई अज्ञानवश आंबेडकरस्मृतिके नियमोंको मान्य रखकर ऐसा संकल्प करता भी हो तब भी वो मिथ्या है क्योंकि प्राप्त ही नहीं ।

२३. गो. श्रीश्याममनोहरजी : मुझे लगता हे कि ऐसी स्थितिमें ''दाने हि न स्वविनियोग:'' निषेधका कहीं कोई अवकाश ही नहीं रह गया ।

गो. श्रीहरिरायजी : शास्त्रोक्त विधि, शास्त्रकी परिधिमें दान करने पर शास्त्रानुसारी संकल्प होते हैं वहाँ मनोव्यापार...

२४. गो. श्रीश्याममनोहरजी : हम देख गये कि देवलकवृत्ति निषिद्ध है अत: लाभपूजार्थ यदि कोई मांगता या लेता है तो वह शास्त्रनिषिद्ध है कि नहीं?

गो. श्रीहरिरायजी : निषिद्ध ही है ।

२५. गो. श्रीश्याममनोहरजी : ऐसी स्थितिमें वैष्णवोंसे मांगा या लिया द्रव्य दान लेना है या समर्पण ही है ? और यदि दान है तो अपने उपभोगमें लाया जा सकता है या नहीं ?

गो. श्रीहरिरायजी : यह तो मैं पहले ही स्वीकार चुका हूँ । ऐसा करना जघन्याधिकार है इसलिये यह प्रश्न ही नहीं उठता ।

२६. गो. श्रीश्याममनोहरजी : प्रश्न इसलिये उठता है कि दानमें उसका अवकाश अवरुद्ध किया जा रहा है । या नहीं ?

गो. श्रीहरिरायजी : नहीं ।

२७. गो. श्रीश्याममनोहरजी : ऐसी स्थितिमें कोई गुरु अपने शिष्यसे ठाकुरजी के लिये कुछभी मांगता हो तो वह शास्त्रनिषिद्ध होनेसे शास्त्रानुमोदित दान नहीं है; फिर संकल्प चाहे गुरुको या गुरुके ठाकुरजीको, किसीको भी देनेका हो, वह नियामक नहीं रह जाता । निषिद्ध होनेसे दान होनेसे देवद्रव्य होनेसे अनुपभोगार्ह ही होता है ।

गो. श्रीहरिरायजी : यह तो बिलकुल स्पष्ट है; इसमें ठाकुरजीका प्रश्न ही नहीं । लाभपूजार्थ यत्न करके कोई भी गुरु किसी भी शिष्यसे कुछ भी ग्रहण करेगा वह ऋणानुबन्धी दोषोत्पादक ही है । वहाँ तो ठाकुरजीके लिये लेनेका भी सवाल नहीं, अपने लिये भी लेना बन्धनकारी है ।

गो. श्रीश्याममनोहरजी : मुझे लगता है कि अब मेरी सभी शंका मिट गई । श्रीहरिरायजीने ५०० वर्ष बाद खतम होते संप्रदायको ५००० वर्ष तक खतम न हो ऐसी आयुष्य प्रदान की है ।

आचार्यवचनाशयनिर्धारणप्रकारोपसंहार :

(पक्षग्रहणकोटिक्रमसारांश)

१. गो. श्रीश्याममनोहरजी : क्या श्रीमहाप्रभु तथा श्रीप्रभुचरण के वचनोंके प्रामाण्यमें कोई तारतम्य होता है?

गो. श्रीहरिरायजी : प्रश्न ही नहीं उठता । सोच भी नहीं सकता ।

२. गो. श्रीश्याममनोहरजी : प्रमादवश या अज्ञानवश कोई विपरीतकथन या विवशतया विपरीताचरण की तो बात अलग है परंतु ज्ञानपूर्वक - इच्छापूर्वक यदि कोई महाप्रभु या प्रभुचरण के वचनोंसे विपरीतकथन या विपरीताचरण करता है, उदाहरणतया रूढि आदिका बहाना काढ़कर, तो वह सहज आसुरी जीव होता है; पुष्टिजीव नहीं ‘‘तस्माच्छ्रीवल्लभाख्य... केवलांधंतमोगाः’’ अतः आचार्यवचनोंका आशय कैसे निर्धारित किया जाय? केवल उसपर भाषण-प्रवचन करके नहीं परंतु निर्दिष्ट मार्गमें निष्ठा रखकर । वह निष्ठा भी स्वयंके बोधसे नहीं किन्तु तादृग्गुरूदित प्रकारसे । तादृग्गुरूदित वचनोंका अर्थ भी स्वतः नहीं, अनुवादतः । अनुवाद भी स्वबुद्धिसे नहीं, मूलक्रमागत परंपराके अनुसार करना चाहिये । इस रूपमें पुनः दृढ आचार्यश्रय होना जरूरी है इसमें तो संशय ही नहीं क्योंकि दृढ आचार्याश्रय जिसे नहीं

ऐसा कोई भी वाल्लभ, वंशज या अनुगामी, वाल्लभ ही नहीं हो सकता। संशय यह है कि श्रीमहाप्रभुसे परंपराका प्रारंभ करके हम जिस कड़ीपर स्थित है उससे एक कड़ी पहले तक लिये गये आशयके अनुसार श्रीमहाप्रभुकी वाणीका अर्थ स्वीकारना चाहिये कि नहीं? कोई भी आधुनिक गोस्वामी मूलक्रमागत अर्थको छोड़कर तद् विपरीत अर्थघटन करता हो तो उसका संग दुसंग है कि नहीं? यद्यपि इस विषयमें कथनीय नहीं है, फिर भी पक्षग्रहणकी विधिकी संपूर्तिके हेतु यह पूछना पड़ रहा है।

गो. श्रीहरिरायजी : कुछ कहनेका नहीं। ठीक ही है यह।

गो. श्रीश्याममनोहरजी : आपने पुष्टिमार्गको जीवनदान दिया है।

गो. श्रीहरिरायजी : अगर मैं मरकर भी जिवा सकूँ तो वह मुझे मंजूर है!

गो. श्रीश्याममनोहरजी : शतायुषान् पुत्रपौत्रान् वृणीष्व।

***

उपपत्तिविचार

सेवास्वरूप :

(चर्चाकोटिक्रमसारांश)

१. गो. श्रीश्याममनोहरजी : श्रीहरिरायजीको विनती है कि वे अपने पक्षकी उपपत्तिका प्रारंभ करें । साथहीसाथ यह भी विनती कि कितना समय लेंगे यह पूर्वनिर्धारित कर लें । यथाशक्य जितना समय कम लेंगे उतने अधिक विषयोंकी चर्चा और जितना अधिक समय एक एक विषयपरकी चर्चामें लेंगे उतने कम विषयोंकी चर्चा हो पायेगी । अत: कितना समय लेंगे इसका कृपया खुलासा करें तो तदनुसार में भी अपेक्षित समयका स्पष्टकरण दे दूँ ।

गो. श्रीहरिरायजी : जो आप मांगते गये वो मैं लिखाता गया था कि 'त्रैविध्यम्' । वही चलेगा न? तो उस पक्षकी स्पष्टता करदें तो लिंक बन जाये।

२. गो. श्रीश्याममनोहरजी : हाँ, वह मैं कह देता हूँ ।

श्रीमहाप्रभुके अनुसार ''चेतस्तत्प्रवणं सेवा'' अर्थात् चित्तका भगवानमें चोंट जाना सेवा है । वह मानसीकी कक्षा तक पहुँचनेपर 'परा फलरूपा' मानी जाती है । चेतस्तत्प्रवणात्मिका सेवा मानसीके रूपमें फलित हो एतदर्थ क्या तनुजा और वित्तजा, ऐसे एक ही सेवाके दो प्रकार हो सकते हैं या एक ही प्रकार तनुवित्तजा है । अर्थात् पक्षग्रहणके समय श्रीहरिरायजीने इसे ''द्वैविध्यं त्रैविध्यं वा?'' शब्दोमें कहा । यहाँ एक स्पष्टता कर देनी आवश्यक है कि सेवाका द्वैविध्य यानि मानसी और तनुवित्तजा । त्रैविध्य यानि मानसी, तनुजा और वित्तजा । मानसी जो फलरूपा है उस विषयमें कोई विवाद नहीं है । मानसीसेवा फलित हो एतदर्थ है 'तनुजा', यानि पराये धनको लेकर अपने तनसे की जाती सेवा और 'वित्तजा' यानि पराये व्यक्तिके तनसे की जाती सेवामें

आर्थिक सहयोग देना । अर्थात् तनुवित्तजाका ऐसा विभागीकरण सिद्धान्तः शक्य है या नहीं? उसमें श्रीहरिरायजीका त्रैविध्यका पक्ष है, अर्थात् १. फलरूपा मानसीसेवा २. तनुजासेवा और ३. वित्तजासेवा ।

इसके अलावा, कोई भूल न करता होऊं तो, चौथी एक तनुवित्तजा और होती है । इस तरह सेवाचातुर्विध्य होनेसे पक्षत्रैविध्य मुझे लगता है कि संशोधनार्ह है । मैं कुछ गलत तो नहीं कह रहा ? श्रीहरिरायजी अपना वास्तविक पक्ष और उपपत्ति प्रदान करें ।

गो. श्रीहरिरायजी : पक्षग्रहणके अवसरपर केवल संशयका उत्तर मांगा गया था । सेवा तीन प्रकारकी ही होती है; चार प्रकारकी नहीं । अब स्पष्टीकरण दे दूँ कि अधिकारभेदसे त्रैविध्य होता है ।

३. गो. श्रीश्याममनोहरजी : क्षमा करें ! अभीतक हम दोनोंके बीच समयबंध नहीं हुआ ।

गो. श्रीहरिरायजी : जो समयमर्यादा आप बाँध दें ।

४. गो. श्रीश्याममनोहरजी : नहीं; आप निश्चित करिये कि आपको अपनी बात कहेनेको कितने समयकी अपेक्षा है । मेरा इस विषयमें कोई आग्रह नहीं है । फिर भी कमसेकम चार पाँच मुदोंको देखते हुए बीसेक मिनिट यदि निर्धारित की जाय तो हरकत नहीं ।

गो. श्रीहरिरायजी : हाँ बस । तो (मूल पंक्तियाँ पढ़ते हुए) वह सेवा, यानि सेवास्वरूप जो बता दिया गया वह, दो प्रकारकी है; ‘‘फलरूपा साधनरूपा चास्ते’’, फलरूपा और साधनरूपा । यहाँ ‘फल’ और ‘साधन’ के साथ ‘रूप’पद जुड़ा हुआ है । घट और घटरूप में जो भेद होता है वही फल-फलरूप और साधन-साधनरूप में भी है । इसके बाद ‘‘उक्तसेवासाधने इतरे’’ में प्रभुचरणने ‘रूप’ पद हटा दिया है; अर्थात् साधनत्व स्वीकारा गया है । ‘इतरे’ अर्थात् ‘द्वे सेवे’ । अतः साधनत्वके विचारसे दो तरहकी सेवा होती है; क्योंकि ‘‘द्वन्द्वान्ते

श्रूयमाणत्वाद्...'' आगे मैं भूल गया हूँ (गो.श्याम : प्रत्येकम् अभिसम्बध्यते) हाँ, वह थोड़ा सा भूल गया । इससे यह सिद्ध होता है कि तनुजा-वित्तजा साधन हैं परंतु साधनरूप नहीं । आगे जो कहा गया है वह ठीक है पर उतना ध्यान देने लायक नहीं ।

अब ''एतादृश्यौ ते तत्साधिके न....'' अर्थात् जिनका साधनत्व स्वीकारा गया वे साधनरूपा नहीं हैं; अलगअलग की जाती दो सेवाए मानसीकी साधिका नहीं होती, साधन होनेपर भी । श्यामुदादाके लेखोंमें पढ़ा है कि यह (उक्तसेवासाधने इतरे) निषेध्यकोटिस्थ वाक्य है । श्रीप्रभुचरण 'तत्साधिके न' कहकर साधकत्वका निषेध कर रहे हैं, साधनत्वका नहीं । उदाहरणतया कर्ममार्गके जितने भी साधन हैं वे भक्तिमार्गमें साधक नहीं है । मायासे असंबद्ध शास्त्रद्वारा निर्धारित सभी कुछ साधन तो हैं ही । पर दोनोंको मिलाकर जो तनुवित्तजा है वह साधनरूपा = मानसीकी साधिका है ।

५. गो. श्रीश्याममनोहरजी : 'सेवासाधने इतरे' को स्त्रीलिंगमें खींचतानकर लिया गया है । 'साधन' शब्द नपुंसकलिंगमें प्रयुक्त है और 'तनुवित्ते' यह जब मिल ही रहा है तो 'तनुवित्तजे सेवे' लेनेकी कोई आवश्यकता समझमें नहीं आती कि 'तत्साधिके न' वचन द्वारा तनुजा-वित्तजा सेवाओंकी मानसीसाधकताका निषेध है, साधनताका नहीं । निष्फल साधन अजागलस्तन जैसी तनुजा और वित्तजा निष्फल होनेमात्रसे अकरणीय न भी होती हो परंतु हमें पता है कि श्रीहरिरायजीने यह बात कबूल की है कि सेवार्थ किसी दूसरेसे द्रव्य लेना सेवाकर्तामें देवलकता लाता है । अत: निष्फल तो है ही पर निषिद्ध और है; अनिषिद्धकोटिमें निष्फल नहीं है ।

श्रीपुरुषोत्तमजीकी व्याख्यापर भी ध्यान नहीं दिया गया है ''स्नेहेन क्रियामाणं तत् साधनम् । तत् चेत् वित्तं वेतनत्वेन दत्त्वा कार्यते तदा सा चित्तस्य राजसत्वं कुर्वन्ती चित्तस्य तत्प्रवणत्वं न करोति । यदि च वित्तं

वेतनत्वेन गृहीत्वा क्रियते तदा ऋत्विजो यागवत् स्वस्य तत्प्रवणत्वरूपं फलं न साधयति । न च यागी यजमानस्येव वित्तदातुः फलतीति शंक्यम् । तत्र ऋत्विग्दक्षिणावरणादिवद् अत्र तद्दानादेः भक्तिमार्गे भगवता अनुक्त्वात् । अतः तथा न कार्यं किन्तु भगवदुक्तरीत्यैव कार्यम् । तदैव साधनरूपा साध्यरूपां मानसीं जनयन्ती स्वयमपि पश्चात् फलरूपतया व्रजस्थानामिव पर्यवस्यति ।'' अतः सेवाकर्ता सेवाके लिये दूसरेसे जो द्रव्य लेता है तो पुरोहितोंको जैसे यज्ञयागका फल नहीं मिलता वैसे ही सेवाकर्ताको भी नहीं मिलता । कर्ममार्गमें शास्त्रविहित होनेसे पौरोहित्य अनुमत है, जबकि भक्तिमार्गमें भगवानने पौरोहित्यकी अनुमति दी नहीं है । अतः कर्ममार्गकी तरह यहाँ वित्तदाताका पौरोहित्य नहीं करना चाहिये, किन्तु भगवदुक्तरीतिसे ही सेवा करनी चाहिये । तभी सफल होगी । ''वचनात् प्रवृत्तिः वचनात् निवृत्तिः'' ही यहाँ नियामक है । आचार्यवचनाशयनिर्धारणप्रकारमें श्रीहरिरायजीने मूलक्रमागत अर्थानुसार अनुवाद करनेका उत्तरदायित्व स्वीकारा ही है । अतः गो. श्रीव्रजरत्नलालजी महाराज, गो. श्रीगोविन्दरायजी महाराज आदि वृद्धपुरुषोंने भी तनुजा – वित्तजाके विभक्तरूपोंको तो अस्वीकारा ही है (दृष्टव्य अमृतवचनावली पृ. ४२, ४३ तथा ४५) । अतः विभक्ततया तनुजा या वित्तजा सेवा नहीं करनी चाहिये; निष्फल तथा निषिद्ध होनेके कारण ।

गो. श्रीहरिरायजी : यह बात फल तक आ गई । यद्यपि पहले यह निश्चित हुआ था ✻ कि त्रैविध्यं द्वैविध्यं वा । मैने सिर्फ उसका उत्तर दिया है ।

(✻ गो.श्रीहरिरायजी द्वारा गृहीतपक्षत्याग : श्रीमहाप्रभुके अनुसार पुष्टिमार्गमें मानसी फलकी साधनभूता सेवा तनुवित्तजा होती है अथवा तनुजा या वित्तजा, यही चर्चासंदर्भ था, न कि व्याकरणके द्वंद्वके अनुसार द्वैविध्य अथवा त्रैविध्य मात्रकी चर्चा । अनसंधेय : २ । में

गो.श्याम.का वचन)

कोई बात नहीं । अब सवाल यह है । अलगअलग दो तरहकी तनुजा और वित्तजा होती है तब वह साधनमात्र होती है परंतु जब दोनों मिलती है तब मानसीकी साधक होती है । आपने भी अजागलस्तनकी तरह तनुजा – वित्तजाको साधन तो मान लिया और निषेध्यकोटिमें यह निषेध कहाँ व्याप्त हो रहा है यह हमें सोचना है ।

श्रीपुरुषोत्तमजीका 'न तथा कार्यम्' निषेध भी जिस उत्तमाधिकारीको फलरूपा मानसीसेवा सिद्ध होनी है उसकेलिये निषेध है । यदि ऐसा नहीं होता तो ''एतादृश्य अवान्तरफलं भवति इति आहु तत इति'' इसमें जो मानसी करता है उसे, परब्रह्मकी तरह अवांतर मिलते हैं । 'तत्साधिके न' वचनके कारण मानसीका अधिकारी नहीं है । परंतु मंदमध्यमाधिकारीद्वारा की गई तनुजा या वित्तजा भगवत्सेवा निष्फल जाय यह तो भगवच्छास्त्रमें दृष्टिगोचर नहीं होता । गीतामें भी अर्थार्थी भक्तको 'उदार' कहा गया । सुदुराचारी भी भक्तका नाश नहीं होता यह भी कहा गया है । यहीं श्रीपुरुषोत्तमजी ''यदाधुनिकैस्तादृशाधिकार-राहित्येपि मार्गप्रवर्तकाचार्योक्तप्रकारेण'' कह रहे हैं । अत: मार्गप्रवर्तकाचार्योक्तप्रकार 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वात्' हेतुके बलपर तनुजा वित्तजा प्रकार है । अत: अलगअलग करनेवाला भी निषिद्धप्रकारसे* कर रहा है ऐसा नहीं ।

(*श्रीपुरुषोत्तमजीने ''स्नेहेन क्रियमाणं तत्साधनम् । तत् चेद् वित्तं दत्वा... तथा न कार्यम्' अत: साधनको निषेध्यकोटिमें ही लिया है; न कि साधिकाको । इसी तरह 'भक्तिमार्गे भगवता अनुक्तत्वात् कहा है; 'उत्तमाधिकारिणे' नहीं कहा । अत: संपूर्ण भक्तिमार्गमें निषेध है, केवल उत्तमाधिकारीके लिये नहीं ।)

६. गो. श्रीश्याममनोहरजी : तनुजासेवा करनेवाला और देवलकके बीच प्रभेद क्या है यह समझायें । ''तथा न कार्य, भगवदुक्तरीत्यैव कार्यम्''

इस निषेधका अन्तर समझायें । मूलक्रमागत अर्थ आप मान्य कर रहे हैं या छोड़ रहे हैं ?

गो. श्रीहरिरायजी : मैं मूलक्रमागत अर्थको अमान्य नहीं कर रहा । पुरुषोत्तमजीने जो यहाँ जो लिखा है वो अगर मूलक्रमसे अलग हो तो बात अलग है !*

(*गो. श्रीहरिरायजी द्वारा परिगृहीत 'तनुजासेवा देवलकत्वसंपादक होती है' इस पक्षका त्याग । (दृष्टव्य गृहीतपक्षसूचिके अंतर्गत स्व.से.स्व.प्र.ग्र. २४ में गो. श्रीहरि.) देवलक और तनुजासेवाकर्ताके प्रभेदका स्पष्टीकरण भी नहीं दिया।)

७. गो. श्रीश्याममनोहरजी : मूलक्रमागत अर्थ आपके अनुसार कुछ और है और यहाँ आप पुरुषोत्तमजीने अर्थ किया उसकी व्याख्या कर रहे हैं?

गो. श्रीहरिरायजी : नहीं । मैं पुरुषोत्तमजीके अर्थको मूलक्रमागत अर्थसे भिन्न नहीं मानता ।

८. गो. श्रीश्याममनोहरजी : तो जो पू.पा.गो. श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्री तथा पू.पा. श्रीगोविन्दरायजी महाराजश्री के उद्धृत वचनोंकी क्या संगति ?

गो. श्रीहरिरायजी : नहीं नहीं; उनसे मुझे मतलब नहीं । न में आधुनिक बालकोंकी या पुरुषोत्तमजी या उससे आगे, मतलब बिल्कुल परवर्ती; जैसे वो एक अंश था 'लोकार्थी' वाला वो कहाँसे आया था वो पता नहीं, तो सविनय नमस्कार करके वहाँसे हट जाता हूँ । ये यहाँ जो है वह मुझे मान्य है ।

९. गो. श्रीश्याममनोहरजी : मूलक्रम कहाँ तक आप लेते हैं ये स्पष्ट नहीं हुआ ।

गो. श्रीहरिरायजी : नहीं ऐसा कुछ नहीं है । मतलब जिसका कहीं पता नहीं हो वह, माने किसका है यह मझे पता नहीं है । वह लोकार्थीवाला

किसका है?

१०. गो. श्रीश्याममनोहरजी : नहीं नहीं; मैं लोकार्थीकी चर्चा नहीं कर रहा हूँ। मूलक्रम आप कहाँ तक लेना चाहते हो? श्रीव्रजरत्नलालजी महाराज, श्रीगोविन्दरायजी के वे अर्थ मूलक्रमागत हैं और इसी तरह सौसे भी अधिक वर्ष पूर्व नरसिंहलालजी महाराजने भी यही बात कही है । और मेरे पास श्रीव्रजभूषणलालजी काकाजी (श्रीहरिरायजीके पितृचरण) का भी एक पत्र है जिसमें उन्होंने यह मान्य किया है । वह मैं प्रस्तुत करता हूँ ।

गो. श्रीहरिरायजी : देखो मैं आपसे एक बात...

११. गो. श्रीश्याममनोहरजी : तो वह मूलक्रमागत है कि नहीं ?

गो. श्रीहरिरायजी : मैं आपको निवेदन कर चुका हूँ । ये कहाँ दूसरी और जा रही है बात । पुरुषोत्तमजीका प्रमाण मैने दे दिया । अब मूलक्रमागतका प्रश्न उठना नहीं चाहिये ।

१२. गो. श्रीश्याममनोहरजी : आचार्यतात्पर्यानिर्धारणप्रकारमें आपने यह मान्य किया इसलिये उठा रहा हूँ । अन्यथा नहीं उठाता ।

गो. श्रीहरिरायजी : मान्य किया है लेकिन पुरुषोत्तमजीका प्रमाण देनेके बाद अब मूलक्रमागतकी शंका आपको रहनी नहीं चाहिये ।

१३. गो. श्रीश्याममनोहरजी : मूलक्रमागतकी व्याख्या तो मैं भी कर सकता हूँ और वो सारे वचन (श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजजी आदिके) श्रीपुरुषोत्तममजीके वचनसे संगत हो रहे हैं ।

गो. श्रीहरिरायजी : यह गलत ढंगसे फंसाया जा रहा है । (उद्घोषकको संबोधित करके) ध्यान दें !

१४. गो. श्रीश्याममनोहरजी : ये वचनतो मैं सबको विचारार्थ प्रस्तुत: कर दूँ?

गो. श्रीहरिरायजी : उससे मुझे कोई मतलब नहीं है ।

१५. गो. श्रीश्याममनोहरजी : (उद्घोषकको संबोधित करके) यह रेकोर्ड पर लिया जाय ।

गो. श्रीहरिरायजी : क्योंकि मुझे कुछ पता नहीं है ।

१६. गो. श्रीश्याममनोहरजी : ये वचन हैं नित्यलीलास्थ श्रीव्रजभूषणलालजी (श्रीहरिरायजीके पितृचरण) काकाजी के ।

उद्घोषक : मैं समझता हूँ श्रीहरिरायजीने अपना स्पष्टीकरण दिया कि पुरुषोत्तमजी आदि तक ही अपने व्याख्यानको सीमित रखना चाहते हैं ।

गो. श्रीहरिरायजी : आप ऐसी बात मत करो । ये वचन मुझे पहले से भेजे नहीं गये । यहाँ आनेपर मिले हैं; आप अपनी कारवाई देख लीजिये ऐसा अन्याय मत करिये ।

१७. गो. श्रीश्याममनोहरजी : तो फिर अन्य वचनोंसे भी उपपत्ति नहीं दी जा सकेगी । फिर तो वचनोवलीमें ही बंधना होगा । मूलक्रमागत वचन आचार्यनिर्धारणप्रकारमें हम दोनोंने मान्य किया था ।

गो. श्रीहरिरायजी : मूलक्रमागत वचनमें में श्रीहरिरायजी श्रीपुरुषोत्तमजीका मैं प्रमाण प्रस्तुत कर रहा हूँ, फिर ये प्रश्न क्यों उठाया जा रहा है कि व्रजरत्नलालजी महाराज ऐसा क्यों कह रहे हैं ।

१८. गो. श्रीश्याममनोहरजी : ‘‘श्रीव्रजरत्नलालजी महाराज ऐसा क्यों कह रहे है’’, नहीं पूछ रहा ! मैं पूछ रहा हूँ : उनके वचन आपको मान्य है कि नहीं ?

गो. श्रीहरिरायजी : मैं उसकी चर्चा करना नहीं चाहता ।

गो. श्रीश्याममनोहरजी : मूलक्रमागत अर्थ है कि नहीं ?

गो. श्रीहरिरायजी : मैं इसकी चर्चा अब यहाँ करना नहीं चाहता ।

व्यक्तिगत चर्चा नहीं ।

१९. गो. श्रीश्याममनोहरजी : व्यक्तिगत नहीं सिद्धान्तचर्चा है, सिद्धान्त जो नि.ली.श्रीव्रजभूषणलालजी काकाजीने मान्य किये हैं, इस (संयुक्तघोषणापत्रकी प्रति एवं नि.ली.श्रीव्रजभूषणलालजी द्वारा उसे मान्य घोषित करनेवाले पत्रकी प्रति देते हुए) में ।

गो. श्रीहरिरायजी : ऐसा कोर्टमें वह पेश करना है इस सन्दर्भमें वह मान्य की गई होगी । *वह कोई स्वतन्त्र...

(गो. हरिरायजी द्वारा गृहीत मूलक्रमागत अर्थानुसार अनुवाद करनेका पक्षत्याग : पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त कोर्टमें कुछ और होते हों, ग्रन्थोमें कुछ और होते हों और व्यवहारमें कुछ और ऐसा तो हो नहीं सकता है!)

गो. श्रीश्याममनोहरजी : तब अब मुझे और कुछ नहीं कहना है । जिसको जो कुछ पूछना हो पूछे ।

***

परिशिष्ट

शाखाचंक्रमणनिरसन :

इसके बादमें जो चर्चा हुई है वह स्वगृहीत पक्षोंका त्याग करके हुई होनेसे उसका विवरण विस्तृत रिपोर्टमें पढ लेना ही उचित होगा । फिर भी ''उक्तसेवासाधने इतरे'' वचनमें 'साधने इतरे' पदों द्वारा तनुजावित्तजा सेवाका द्वित्व विवक्षित है या तनुवित्तका द्वित्व विवक्षित है इस सन्दभर्भमें चर्चा हुई । प्रसक्तानुप्रसक्तिवश 'साधने' पद नपुंसकलिंगका होनेसे सेवाका विशेषण बन सकता है कि नहीं यह चर्चा भी चली । ''यल्लिंगं यद्वचनं या च विभक्तिर्विशेष्यस्य तल्लिगं तद्वचनं सैव च विभक्तिर्विशेणस्य'' नियमके अनुसार 'सेवा' पद स्त्रीलिंग होनेसे 'साधने' पदको विशेषण मानकर 'तनुवित्तजे' विशेष्य बन नहीं सकता । इसपर चि. हरिरायजीने श्रीविठ्ठलेशात्मज श्रीवल्लभकृतविवृतिटिप्पणी तथा श्रीरघुनाथात्मज-श्रीवृजनाथकृतविवृतिटिप्पणी - यों दो टीकाओंके आधारपर 'इतरे तनुवित्तजे' अंशपर ध्यान दिलाकर यहाँ सेवाके द्वित्वकी विवक्षापर भार दिया । मूलत: ग्रन्थसंपादकके अनुसार एक ही टीका दो नामोंसे प्रचलित हुई है, जो विषय यहाँ सन्दर्भोपात्त नहीं है । अत: प्रधानतया अनुसन्धेय इस विषयमें यही है कि इस टीकामें भी 'तनुजवित्तजे' न कहकर 'तनुवित्तजे' कहा है । अत: उसी ''द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते'' नियमके अनुसार यहाँ भी व्याकरणशास्त्रीय व्युत्पत्ति तनुजा-वित्तजा करनी पड़ेगी; जिसे ये दोनों टीकाकार ''उक्तसेवा मानसीसेवा, इतरे तनुवित्तजे'' कह कर मानसीसेवाका साधन मान रहे हैं । यहाँ चि. हरिरायजीकी क्लिष्टकल्पनाके अनुसार वे अवान्तरफलकी साधिका हैं और मानसीकी साधन हैं । ऐसा भी मान लिया जाय तब भी ''तथा च एककर्तृके एव ते तत्साधिके (अर्थात् तनुजा-वित्तजाके द्वित्व के बावजूद उन दोनोके एककर्तृका होने पर उन्हें मानसीकी साधिका कहा जा रहा है नकि अवान्तरफलकी. जबकि चि. हरिरायजीके पक्षके अनुसार (एकवचननिरूपित 'तनुवित्तजा' मानसिकी साधिका होती है तथा

द्विवचन निरूपित 'तनुवित्तजे' अवान्तर फलकी साधिका होती है) इति फलितार्थ: ननु एवम् एककर्तृका भगवदपेक्षितयावद्द्रव्यसमर्पणरुपसेवा शरीरजभगवद्यावत्सेवा च भगवदपेक्षितयावद्द्रव्याभावात् तादृशतनु-सामर्थ्याभावात् च असंभाविता इति चेत् तत्राहु: एतेनेति । एवं सेवाकथनेन फलाकांक्षारहितया-वत्स्वीयद्रव्यादिनिवेदनपूर्वकं कार्यान्तरविनियोगरहित-भगवदर्थस्वदेहविनियोगे जाते क्रमप्राप्ते प्रेम्णि जाते सा मानसीसेवा भवति... एतादृशस्य निवेदितस्वीयसर्वस्वस्य भगवत्सेवाविनियुक्तदेहस्य पुरुषस्य'' अंश द्वारा सेवागत द्वित्वका निरास ही इन टीकाकारोंको भी अभिप्रेत है । अत: तनुजा तथा वित्तजा द्वन्द्वसमासके विग्रहनियमके अनुसार दो पदों द्वारा निरूपणीय होनेपर भी इन दोनोंका कर्ता तो एक ही होना चाहिये । अत: अनुष्ठानत: पुन: एक ही सेवा होती है, पदत: दो होनेपर भी ।

यहां भी उत्तमाधिकारीकी चर्चा उठानेपर यह स्पष्ट करना पड़ेगा कि जघन्याधिकारीके जघन्याधिकारको लक्ष्य करके यहाँ तनुजा या वित्तजा सेवाका विधान किया जा रहा है? अथवा तनुजा या वित्तजा सेवा करनेवालेके लिये जघन्याधिकारी होनेका अभिधान किया जा रहा है? दोनों ही कल्पोंमें कंठोक्त तो एक भी कल्प नहीं है । किसी अन्यथानुपपत्तिसे कल्प्य माननेपर भी ''लाभपूजार्थयत्नस्य उपधर्मत्वदेवलकत्वादिसंपादकत्वात्'' श्रीपुरुषोत्तमोक्त हेतुके आधारपर निषिद्धकोटिका जघन्याधिकार ही उदिष्ट या अभिहित हो रहा है ऐसा स्वीकारना पड़ेगा । दोनों ही स्थितिमें ''भक्षितेपि लशुने न शान्तो व्याधि:'' चरितार्थ होता है । क्योंकि तब दर्शनार्थी वैष्णवोंके द्रव्यसे अपने सेव्यस्वरूपकी तनुजा सेवा करनेवाले गुरुको निषिद्धकोटिका जघन्याधिकारी माननेपर सेवोपदेशका अधिकार छिन जायेगा ! अधिकांश अनुगामी वैष्णव उनके घरोंमें तनुवित्तजा सेवा ही करते हैं सो उन्हें ही सेवोपदेशका उत्तम अधिकार प्राप्त हो जायेगा । अत: द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणपदका व्याकरण द्वन्द्वान्त ही सिद्ध हो जायगा ! इससे अधिक उटपटांग कुशकाशावलंबन और क्या हो सकता है !

अतएव श्रीमथुरानाथात्मज-श्रीद्वारकेशजीकृत टीकाकी ''तनुश्च वित्तं च तनुवित्ते, ताभ्यां जाता कृता प्रादुर्भूता वा तनुवित्तजा; द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वात् तनुजा वित्तजा च, तत्सिद्धौ । ते इति संसारानिवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम् । वस्तुस्वभावादिति मानसीपूर्वरूपवस्तुस्वभावत् । मानसीसेवासिद्ध्यै तनुवित्तजा सृष्टि: दैवी आसुरी च, 'पुष्टिं कायेने' ति वाक्यात् । दैवी तनुजा । वितं माया, तद्भूता आसुरी । उभे मानसीसेवार्थके । दैवी सेवा कर्त्री द्वितीया तद्रूपज्ञापिका पंक्ति, जिसे उद्धृत किये बिना चि. हरिरायजी पकड़कर चलते रहे हैं, वहाँ भी एककर्तृका त्रिविध सेवाओंके सूक्ष्म भेदोंको समझानेकी विवक्षा है; नकि भिन्नकर्तृका सेवाओंके त्रैविध्यको समझानेकी । 'तनुवित्तजात्व' अवच्छेदकसे या अंशितया सेवा मानसीफलसाधिका होती है । 'तनुजात्व' अंश या अवच्छेदकसे ब्रह्मबोधरूप अवान्तरफलसाधिका होती है । 'वित्तजात्व' अंश या अवच्छेदकसे संसारनिवृत्तिरूप अवान्तरफलसाधिका होती है । क्योंकि संसार मायाजन्य है इसलिये वित्त भी माया है । अत: वित्तजा सेवा 'आसुरी सेवा' है । जब हमारे साथ लगी दैवी तथा आसुरी, विषय-प्रपंच-रूपा तथा विषयता-संसार-रूपा, वास्तविक देहको तथा मिथ्या ममतास्पदीभूत द्रव्यको भगवत्सेवामें विनियुक्त करेंगे तभी मानसी सिद्ध होगी, अन्यथा नहीं ।

किसी भी स्थितिमें अनेककर्तृका तनुजा-वित्तजाका निषेध है । एककर्तृका तनुजा-वित्तजाको निषेध्यकोटिमें हम भी नहीं मानते । जैसे एक व्यक्तिके 'राधाकृष्णदास' नामका यह अर्थ तो किया जा सकता है कि वह राधादास भी है और कृष्णदास भी । परंतु राधादास वृन्दावनी कोई अलग है तथा कृष्णदास पुष्टिमार्गी कोई अलग है ऐसी खींचतान संभव नहीं ।

भूलना नहीं चाहिये कि श्रीमहाप्रभु ''तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजे'' भी आज्ञा कर सकते थे, परन्तु 'तनुवित्तजा' ही कहा है । मूलकारिकास्थ 'तनुवित्तजा' गत एकवचनकी व्याख्या श्रीप्रभुचरण ''वित्तं दत्वा....एतादृश्यौ ते (भिन्नकर्तृके तनुवित्तजे) तत्साधिके (मानसीसेवासाधिके) न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्तं (तनुवित्तजा) पदं'' कर रहे हैं । श्रीपुरुषोत्तमजीने भक्तिमार्गमें भिन्नकर्तृका

तनुजा–वित्तजा सेवाको अविहित होनेसे अकरणीय माना है । तनुजा करनेके लिये पराये व्यक्तिसे द्रव्य लेनेपर देवलकता आती है।

लाभका अर्थ पारिश्रमिक या वेतन कुछ भी हो सकता है । मूलमें ‘‘वित्तं दत्त्वा’’ उल्लेख किया गया है उसे ‘वेतन’ के अर्थमें सीमित पुरुषोत्तमजी नहीं करना चाहते किन्तु वित्तग्रहणकी व्याख्या वेतनके उपलक्षणके द्वारा देना चाहते हैं । अतएव लाभ (अर्थात् तनुजाके श्रमसे अधिक लेनेपर या तनुजारूप श्रमके अनुपातमें दर्शनार्थीके वित्तसे विनिमय मात्र कर) लेनेपर भी देवलकता तो आती ही है; यद्यपि वह देवद्रव्य तो नहीं होता फिर भी । यदि स्वयंके नामपर पराये पुरुषसे द्रव्य न स्वीकारें परन्तु अपने सेव्यस्वरूपके नामपर स्वीकारें तब तो वह देवद्रव्य ही हो जाता है । उससे अपना निर्वाह चलानेपर देवद्रव्योपभोगका अपराध भी लगता ही है, देवलकता न होने पर भी ।

उपपत्तिनिरूपणके दूसरे वाक्यमें चि. हरिरायजीका कहना है कि अधिकारभेदसे त्रैविध्य ही है, चातुर्विध्य नहीं । यहाँ यह अवधेय है कि यदि उत्तमाधिकारी तनुवित्तजा करता है तो मानसी और तनुवित्तजा का द्वैविध्य ही होता है । इस तनुवित्तजाके साथसाथ वह कथंचित तनुजा और वित्तजा भी कही करता है तो पुन: चातुर्विध्य हो जायेगा । अत: नितांत अनवगतस्वाभिप्रायक वचन है यह । चि. हरिरायजी यह भी नहीं कह सकते कि इस द्वैविध्य या त्रैविध्य के विकल्पमें मानसीकी परिगणना नहीं करनी चाहिये, अत: (१) तनुवित्तजा (२) तनुजा और (३) वित्तजा – ऐसे त्रैविध्य उपपन हो जायेगा, क्योंकि यह ‘त्रैविध्य कल्प’ द्वैविध्यके विकल्पतया स्वयं चि. हरिरायजी द्वारा प्रस्तावित है । अर्थात् उनके द्वारा मानसी–तनुवित्तजा–द्वैविध्यके विरोधमें त्रैविध्यकल्प परिगृहीत है । ऐसी स्थितिमें चि. हरिरायजी यह भी नहीं कह पायेंगे कि मेरा पक्ष द्वैविध्य है, क्योंकि तनुजा और वित्तजा रूप द्वैविध्य तो मेरा पक्ष कभी था नहीं, है नहीं और हो भी सकेगा नहीं ।

भगवत्सेवार्थ जनतासे रुपये ऐंठनें कि नहीं यही तो विवादका मुख्य मुद्दा

था और है । चि. हरिरायजीने रुपया ऐंठनेवाले गोस्वामियोंको अर्थार्थी या लोकार्थी मानकर अनिषिद्ध जघन्याधिकारी मानना चाहा तथा मैं इसे निषिद्ध जघन्याधिकारिता मानता हूँ । सेवार्थ आजीविकाके विचारके ९वें वाक्यमें चि. हरिरायजीको भी निषिद्धकोटिका जघन्याधिकारी मानना पड़ा था । इसी तरह स्वसेव्यस्वरूपप्रसादग्रहणके विचारमें १९वे वाक्यमें कबूल करके यद्यपि शाखाचंक्रमण कर गये थे परंतु २७वे वाक्यमें पुनः चि.हरिरायजीने तनुजासेवाको दोषरूप मान लिया था । बावजूद उसके उपपत्तिविचारमें चि. हरिरायजी शाखाचंक्रमण कर गये हैं । उसमें भी अवधेय एक और बात यह है कि आचार्यवचनाशयनिर्धारणप्रकारोपसंहारके अंतमें मेरे ‘‘आपने पुष्टिमार्गको जीवनदान दिया है!’’ कहनेपर चि.हरिरायजीने ‘‘अगर मैं मरकर भी जिवा सकूँ तो वह मुझे मंजूर है’’ कहकर मूलक्रमागत अर्थको छोड़ने तैयार हो गये हैं उपपत्तिमें । इसे निष्ठाहीनताका नग्नताण्डव नहीं तो और क्या समझना चाहिये!

यहाँ उपपत्तिचर्चामें चि. हरिरायजी फल-फलरूपा साधन-साधनरूपा के चातुर्विध्यका निरूपण स्वयं कर रहे हैं । ऐसी स्थितिमें (१) व्रजभक्तोंकी फलात्मिका सेवा (२) आधुनिक उत्तमाधिकारिओंकी फलरूपा मानसीसेवा (३) निजगृहमें सेवापरायण आधुनिक वैष्णव अनुगामिओंकी साधनरूपा तनुवित्तजासेवा (४) जघन्याधिकारी सार्वजनिक मंदिरवादी देवलक आधुनिक गोस्वामिओंकी वैष्णवपुरोहित-साधनात्मिका तनुजासेवा तथा (५) जघन्याधिकारी मंदिरवादी दर्शन-प्रसादकी शौखिन आधुनिक वैष्णव जनताकी साधनात्मिका वित्तजासेवा - ऐसे पाँच सेवा होने जा रही है ! यह ‘द्वन्द्वान्ते श्रूयमाण’ पदविग्रहहका ही माहात्म्य नहीं तो और क्या हो सकता है?!

प्रतीत होता है कि सिद्धान्तके तथा विवादास्पद विषयके गांभीर्यके किसी भी तरह आकलन किये बिना ही चि. हरिरायजी चर्चार्थ उत्कंठित हैं । अत एव निरंतर शाखाचंक्रमण इनकी विचारशैलीकी एक महती विलक्षणता है!

अन्य विषयोंपर यद्यपि उपपत्तिक्रम तक विचार पहुँच नहीं पाया परंतु पक्षग्रहणके क्रमसे विचारश्रृंखलाको आगे बढ़ाने के लिये कुछ अनुपपत्तियाँ या उपपत्तियाँ अब मेरी ओरसे प्रस्तावित की जा सकती है ।

सेवाप्रदर्शन :

चि. हरिरायजीने श्रीनाथजीकी सेवाके अंतर्गत मंदिरसेवा तथा दर्शनसेवा का प्रवधान स्वीकारा है । मूलत: यह निरूपण वार्तासाहित्यको प्रमाण माने बिना शक्य नहीं है, क्योंकि सिद्धान्तग्रंथोमें इसका निरूपण कमसेकम मेरी दृष्टिमें नहीं आया । श्रीगोपीनाथजीविरचित साधनदीपिकामें स्पष्टतया ''स्वीयान् भक्तान प्रदर्शयेत्'' सिद्धान्त घोषित किया गया है; अर्थात् भक्त हों परंतु स्वीय न हों अथवा स्वीय हो परंतु भक्त न हो उन्हें दर्शन नहीं कराने चाहिये । इसकी पुष्टि श्रीहरिरायचरणने भी की है । (दृष्टव्य सि.वचनावली ३ । ख–ग)

मुझे साग्रह यह सूचित किया गया था कि सोनेकी कटोरी गिरवी रखनेवाला प्रसंग; जहाँ देवद्रव्य खानेवालेको 'महापतित' कहा गया है, प्रमाणतया उद्धृत न करुं ! परंतु यदि वार्ताको प्रमाण मानना ही है तो श्रीमहाप्रभुद्वारा स्थापित देवालयमें श्रीनाथजीकी सेवाके प्रकारमें गैरब्रह्मसंबंधी बंगालियोंको भी सेवाधिकार था । सो अब पुन: यदि वृन्दावनके चैतन्यसंप्रदायवाले या हरेकृष्णवाले अमरिकी श्रीनाथजीकी सेवामें नहाना चाहें तो तथाकथित आमजनताके इस मंदिरमें चि. हरिरायजी उसे भी स्वीकृति देने तैयार हैं? क्या इस तरहकी अनर्गल विचारशैली प्रस्तुत करनेके कारण ही गोस्वामि तिलकायित श्रीगोविन्दलालजी महाराज तथा संप्रदायके वयोवृद्ध आचार्य पू.पा.गो. श्रीव्रजरत्नलालजीने इन्हें 'पुष्टिसिद्धान्तसंरक्षणशिरोमणि' की उपाधिसे विभूषित किया है? तो क्या उन्हें भी चि. हरिरायजीके इस पक्षका फलितार्थ मान्य है? सारे के सारे पुष्टिमार्गियोंको अब गंभीरतया यह विचार करना ही पड़ेगा, क्योंकि सुप्रीमकोर्ट भी श्रीनाथजीके मंदिरको आम हिन्दुजनताके लिये, आम हिन्दुजनताका पुष्टिमार्गियों द्वारा संचालित देवालय

मानती है । क्यां हम भी इसे सिद्धान्ततया स्वीकारने जा रहे हैं?

सेवाप्रयोजन :

सेवाप्रयोजनविचारके अंतर्गत भक्तिप्रवर्धनके अलावा भी लौकिकालोकिक प्रयोजन पुष्टिसिद्धान्तमें अधिकारी भेदसे संभव है – यह चि. हरिरायजीने स्वीकारा है । पुन: उत्तमाधिकारी तो सेवा भक्तिप्रवर्धनार्थ ही करेगा परंतु जघन्याधिकारी तो आजीविकार्थ या वित्तोपार्जनार्थ भी गीतोक्त अर्थार्थितया करता ही है – यही बात दोहरानी पड़ेगी; जिसका फलितार्थ केवल ये ही होगा कि अधिकांश गोस्वामी जघन्याधिकारी सिद्ध हो जायेंगे तथा अधिकांश निजगृहसेवापरायण वैष्णवजनता उत्तमाधिकारी सिद्ध होगी ! फलत: ब्रह्मसंबंधदीक्षा प्रदान करनेका अधिकार गोस्वामियोंका खंडित हो जायेगा तथा निजगृहमें सेवापरायण वैष्णवोंका सिद्ध होगा, क्योंकि वे ही उत्तमाधिकारी हैं । गो.तिलकायतद्वारा 'पुष्टिसिद्धान्तसंरक्षणशिरोमणि' पदवीसे इस तथ्यका भी समर्थन होगा ही – यह सभी पुष्टिमार्गियोंको मुक्तहृदयसे स्वीकार लेना चाहिये !

सेवास्थल :

सेवास्थलमें तो बचकानी आखमींचोली खेलनेके बावजूद चि. हरिरायजी अंतमें कबूल कर ही गये हैं कि सेवाकर्ताकी मालिकीवाले घरके भीतर जो भगवन्मंदिर हो उसमें सेवा करनेका सिद्धान्त है । ऐसी स्थितिमें गोस्वामि बालकोंके मंदिरोंमें; जहाँ सिद्धान्तत: उत्तमप्रकारकी तनुवित्तजासेवा ही स्वयं गोस्वामियोंको करनी चाहिये परंतु अपसिद्धान्तत: प्रचलित मुखिया–भीतरिया आदिकी बटालियनसे तनुजासेवा, दर्शनार्थी जनताकी भीड़से वित्तजासेवा तथा खुले टेरेमें आरती करनेकी नामजासेवाका क्रूर विभाजन चल रहा हो, वहाँ तनुजासेवा और वित्तजासेवा को सिद्धानताभिमत प्रकारवाली सेवा माननेपर मुखिया–भीतरिया आदिकी तथा दर्शनार्थी जनताकी मालिकी घरमें माननी पड़ेगी, कि जिससे सेवाकर्ताकी मालिकीवाले घरके भीतर आये

भगवन्मंदिरमें ही सेवा करनेका सिद्धान्त खंडित न हो । इस पक्षको ‘पुष्टिसिद्धान्तसंरक्षण कहा तो जा सकता है परंतु ऐसी स्थितिमें नाथद्वारस्थित मोतीमहल तथा सुरतवाली मोटीहवेली पर भी मुखिया-भीतरिया तथा दर्शनार्थी वैष्णवजनताका भी मालिकी हक स्वीकारना पड़ेगा !

सेव्यस्वरूप :

सेव्यस्वरूपके विचारमें चि. हरिरायजी द्वारा परिगृहीत पक्षके अनुसार वैष्णवोंकेलिये पुष्ट किये गये स्वरुप स्वार्थ होते हैं । क्योंकि श्रीमहाप्रभु-श्रीप्रभुचरण प्रभृति पूर्वाचार्योद्वारा ८४-२५२ वेष्णवोंकेलिये पुष्ट किये गये स्वरूप स्वार्थ ही पुष्ट हुए सिद्ध होते हैं अत: श्रीमहाप्रभुजी आदिके अनेक निधिस्वरूप, जो प्राय: संप्रति गोस्वामियोंके माथे बिराजते हैं, वे स्वार्थ ही पुष्ट हुए होनेसे उनकी सेवाके लिये दूसरोंसे द्रव्य लेना देवलकत्वमें या देवद्रव्योपभोगमें ही पर्यवसित होगा । वैष्णवोंके घरोंमेसे लौटकर जब ये निधिस्वरूप पुन: आचार्यवंशजोंके यहाँ पधारे तबसे उन्हें स्वपरोभयार्थ माननेकी बात कही जाय जब तो उनको श्रीमहाप्रभु-श्रीप्रभुचरणके निधि माननेके बजाय जिस आचार्यवंशजके माथे पुन: पधारें उनके निधिस्वरूप मानना पड़ेगा; अन्यथा आचार्यचरणोंने तो उन्हें स्वार्थ ही पुष्ट किया था; उस भावका विलोपन पुष्टिपुरुषोत्तमत्वविलोपनके बिना शक्य ही नहीं !

ऐसी स्थितिमें श्रीमहाप्रभुके निधिस्वरूपोमेंसे कामवनस्थ श्रीमदनमोहनजी, गोकुलस्थ श्रीगोकुलनाथजी, नाथद्वारास्थ श्रीविठ्ठलनाथजी तथा प्रभुचरणके निधिस्वरूपोंमेंसे सुरतस्थ श्रीबालकृष्णलालजी, अमदावादस्थ श्रीनटवरलालजी को छोड़कर सभी स्वरूप स्वार्थ प्रतिष्ठापित सिद्ध होते हैं । अत: इन स्वरूपोंको छोड़कर अन्यत्र वैष्णवोंसे सेवार्थ द्रव्य लिया ही नहीं जा सकता । इन उल्लिखित स्वरूपोंकी; क्योंकि श्रीमहाप्रभु-प्रभुचरणने सिद्धान्तत: तो स्वार्थ ही भावप्रतिष्ठा की थी, फिर भी चि. हरिरायजीकी उटपटांग सिद्धान्तकल्पनाके अनुसार भी देखें तो, स्वपरोभयार्थ भावप्रतिष्ठा है। अत: सभीके स्वत्वमूलक निवेदनका तथा निवेदितको समर्पण करनेका भी

अधिकार मान्य किया जा सकता है । फलत: प्रसादग्रहण भी सिद्धान्ताभिमत हो सकता है । अन्यत्र श्रीमहाप्रभु आदिके स्वार्थप्रतिष्ठापित निधिस्वरूपोंमें वह शक्य नहीं है । इसका अपवाद न जामनगरस्थ स्वरूप हो सकते हैं और न चाँपासनीस्थ ही ।

वैसे उल्लेखनीय तो यह भी है ही कि यह मत स्पष्टतम होनेपर भी है केवल चि.हरिरायजीका ही; प्राचीन किसी भी ग्रन्थमें इस तरह वैष्णवसेव्य-गोस्वामिसेव्य बनानेकी भावप्रतिष्ठाविधिमें भेद वर्णित नहीं हुआ है । श्रीमदाचार्यचरणविरचित सर्वनिर्णयकारिकाप्रकाश २२७-८, उसका श्रीपुरुषोत्तमजीविरचित आवरणभंग, श्रीप्रभुचरणविरचित श्रीपुरुषोत्तम-प्रतिष्ठाप्रकार अथवा श्रीहरिरायचरणविरचित स्वमार्गीयस्वरूपस्थापनप्रकार में इस तरहकी भिन्न भिन्न विधि दिखलाई नहीं गई है; उपदेशक या अनुयायी उभयके लिये समान विधि ही उपदिष्ट हुई है । अत: मूलत: चि. हरिरायजीकी यह कल्पना ही निर्मूल है ।

भूलना नहीं चाहिये कि चि. हरिरायजीने गोस्वामिवर्ग एवं वैष्णववर्ग के सेव्यस्वरूपोंमें पुरुषोत्तमत्वमें तारतम्य भी स्वीकारा नहीं है । ऐसी स्थितिमें वैष्णवोंके स्वार्थ और गोस्वामियोंके स्वपरोभयार्थ-किस वचनके बलपर सिद्ध होंगे, सिवाय कि अधिकांश आधुनिक गोस्वामिओने देवलकवृत्तिकी रूढ़िको अपनाये रखना पसंद किया है !

इसके अलावा यहाँ चि. हरिरायजीने यह जो भारपूर्वक स्पष्टीकरण दिया है कि सेव्यस्वरूपपर स्वामित्व (स्वत्व) केवल गोस्वामिओंका है परंतु स्वयं सेव्यस्वरूप स्वपरोभयार्थ (अर्थात् अर्थार्थी गोस्वामी एवं दर्शनार्थी जनता - दोनोंके लिये पुष्ट हुए) हैं । वह सार्वजनिक मंदिरवादी गोस्वामिओंकी ट्रस्टी ही सिद्ध करता है । कोई भी वस्तु, जो परार्थ होनेपर भी अपने स्वत्वमें हो वह न्यास ही कहलाती है; न केवल आधुनिक आंबेड़करस्मृतिके अनुसार अपितु प्राचीन शास्त्रोंके अनुसार भी । अत एव भरतजीके लिये वचन आते हैं - ‘‘राज्यं न्यासमिवाभुनक् ।’’ अर्थात् श्रीरामचन्द्रजीके लिये भरतजीने राज्यपर

स्वामित्व किया न्यास मानकर !

क्या यह पुष्टिसिद्धान्तसंरक्षण है? यह सभी गोस्वामिओंको सोचना पडेगा ! विशेषत: उन्हें जो महाजनप्रदत्त इस उपाधिसे चि. हरिरायजीको स्वयं भी विभूषित करना चाहते हैं ।

स्वसेव्यस्वरूपप्रसादग्रहण :

इस चर्चामें शाखाचंक्रमण पराकाष्ठामें किया गया है । अंतमें किंतु आंबेड़करस्मृतिको प्रमाण मानकर जिन वैष्णवों और गोस्वामिओं के बीच भगवत्सेवार्थ द्रव्यकी लेन-देन होती है; जिसमें रसीद ले-कर अपनी प्राक्तनकर्मजन्य मनोवृत्ति या संकल्प भी स्पष्ट कर दिया जाता है, वही दान होना स्वीकारा है । इतने हास्यास्पद शाखाचंक्रमणके बावजूद इस प्रकारमें देवलकत्व तो स्वीकार ही लिया ! अत: कोई विशेष बचाव देवलकवृत्तिका नहीं हो पाया ।

वैसे क्या कारण है कि प्राक्तनकर्मवश गोस्वामी ही वैष्णवोंसे भगवत्सेवार्थ द्रव्य लेते हैं, वैष्णवोंको द्रव्य देते क्यों नहीं? जवाब एक ही लगता है - वैष्णव देवलकवृत्ति नहीं करते, जब कि गोस्वामि वर्ग खुलेआम करना चाहता है । प्राचीन वार्ताओंके आधारपर भेट-प्रसादकी लेन-देनको प्रमाणिक सिद्ध करना चाहते हैं और उन्हीं वार्ताओंमेसे एक सोनाकी कटोरीसे धरी सामग्रीकी वार्ता, जिसमें प्रसाद नहीं लिया गया और लेनेवालेको महापतित कहा गया, स्वीकारते नहीं है ! दूसरे वैष्णवोंसे लेकर भोग धरी हुई सामग्री श्रीठाकुरजी आरोगते ही नहीं है - यह सिद्ध करनेवाली किशोरीबाईकी वार्ताको प्रमाणित मानकर ऐसी सामग्रीको अनप्रसादी क्यों नहीं मानी जाती?

कुछ लोग कहते हैं - ''अपने आत्मीय निष्ठावान वैष्णवों द्वारा जो सामग्री इत्यादि देनेमें आती है वह भगवत्सेवाका पारिश्रमिक या वेतन नहीं है; वह तो केवल प्रणालिकाके निर्वाहार्थ चला आता व्यवहार है, इसके अलावा भी क्योंकि गोस्वामिओंको तो गुरुके रूपमें वैष्णव चरणभेंट करते ही हैं । अत:

गोस्वामिओंके सेव्यस्वरूपोंकी सेवार्थ दी या मांगी जाती भेटसामग्री गोस्वामिओंकी आजीविका या वृत्ति नहीं है । ‘‘भल्लाजीकी वार्तामें श्रीनाथजीके यहाँ प्रसाद न लेनेपर आचार्यचरण रुष्ट हुए थे’’ इत्यादि ।

परंतु जिन वार्ताओंके प्रामाण्यपर यह सब सिद्ध करना चाहते हैं उन्हीं वार्ताओंके आधारपर ‘‘सो देवालयकी रीति यहाँ राखनी उचित है’’ वचनका फलितार्थ विचारना नहीं चाहते कि श्रीनाथजीकी सेवाका प्रकार पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तोंपर नहीं घड़ा गया था किंतु अनुल्लंघ्य भगवदाज्ञाके अनुसार ‘‘बाधनं वा हरीच्छया’’ कल्पका अनुसरण था । यदि वह प्रकार सिद्धान्त होता तो सेवाधिकारसंपादिका ब्रह्मसंबंध दीक्षारहित बंगालियोंको सेवा क्यों सोंपी जाती? भगवदिच्छया सिद्धान्तविपरीत वह परार्थप्रतिष्ठा थी; अत एव भल्लाका वहाँ प्रसाद न लेना अहंकार माना गया । अतएव श्रीमहाप्रभुने भल्लाके ‘‘देवअंस कैसे लेहुँ?’’ का उत्तर यह नहीं दिया कि देवअंस ले लो, अपना तो शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद है ! वस्तुत: तो परार्थप्रतिष्ठामें दानतया प्रदत्त ही देवअंश होता है; समर्पणतया विनियुक्त तो मर्यादामार्गीय मंदिरोमें भी देवअंश नहीं होता । अत एव जगदीश आदि मंदिरोमें प्रसादग्रहण अनुमोदित रहा है । भल्लाजी इस सूक्ष्मताको समझने तैयार न थे, केवल अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करना चाहते थे । अत एव श्रीमहाप्रभु अप्रसन्न हुए ।

अन्यथा संतदासकी वार्तामें ‘‘तेरो सगरो द्रव्य नास होईगो । जो द्रव्य श्रीठाकुरजीमें लगावेगो सो रहेगो । परंतु श्रीठाकुरजीको वैभव बढ़ाये (पाछे) जब द्रव्य न होय तब वामेंते खानपान करे सो बहिर्मुख होई’’ में स्पष्टतया समर्पण तथा दान का ही प्रभेद वर्णित हुआ है । संतदासके स्वयंके स्वामित्वका समर्पणीय द्रव्य खतम हुआ था, स्वयं संतदासद्वारा स्वयंके सेव्यस्वरूपको दानतया प्रदत्त द्रव्य खतम नहीं हुआ था । उसमेंसे सेवाका सांगोपांग अनुष्ठान चलता ही था – ‘‘जब संतदासको सगरो द्रव्य गयो तब श्रीठाकुरजीकी सेवामें मंडान श्रीठाकुरजीके द्रव्यसों राखें...जो मेरी सत्ताको भोग न धर्यो ।’’ अत: समर्पणके अभावमें प्रसाद नहीं लेना चाहिये वह ‘‘दाने

हि न स्वविनियोगः न तु निवेदने'' वचनका ही उदाहरण है । परंतु इसपर दुर्लक्ष्य करनेका एकमात्र कारण देवलकवृत्तिका आग्रह ही है ।

क्या कारण था कि ''कृष्णदासकी देह छूटी और अधिकारी बिना चलेगो नाहीं सो हम कौनको बिगार करें ! तब श्रीगोवर्धननाथजी कहे जो हमहू कौन जीवको बिगार करें ! जो कोई अधिकार लेयगो ताको बिगार होयगो !'' कृष्णदासकी वार्तामें केवल श्रीनाथजीके देवद्रव्यके अधिकारके बारेमें कहा गया ! क्यों इतने सारे श्रीमहाप्रभु-प्रभुचरणके अन्य निधिस्वरूपोंकी सेवाके अधिकारसे बिगार होनेकी बात नहीं कही गई ? क्यों पुष्टिमार्ग आज श्रीमहाप्रभुद्वारा देवालयमें प्रतिष्ठा, जो अक्षयतृतीयाके दिन की गई थी । उसे पाटोत्सवके रूपमें न मनाकर श्रीप्रभुचरणके गृहमें फागुन वद सप्तमीके दिन जो पाट बिराजे उसे पाटोत्सवके रूपमें मनाते हैं? इसका जवाब मंदिरवादी क्यों नहीं देते ? कारण देवलकवृत्तिका आग्रह नहीं तो और क्या हो सकता है ?

आचार्यवचनाशयनिर्धारणप्रकारोपसंहार :

यद्यपि मूलक्रमागत अर्थमें चि. हरिरायजीने मूल श्रीमदाचार्यचरण-श्रीगोपीनाथजी-श्रीविठ्ठलनाथजीके बाद सप्तात्मज, पौत्र, प्रपौत्रादि क्रमसे अपनेसे एक पीढ़ी उपर तक जो अर्थ अविच्छिन्नतया किया जाता हो उसे मान्य न करनेवालेको अंधंतम नरकगामी आसुरीजीव होना मंजूर किया था । इसमें लक्ष्यमें रखनेकी बात ये ही है - अपने किसी पूर्वजने भी अपने वचन या कृतिमें मूलक्रमागत अर्थका त्याग या विरुद्धाचरण किया हो वह अपने आपमें प्रमाण नहीं हो सकता; मूलाचार्यवचनविरुद्ध होनेसे । परंतु अविच्छिन्नतया जो अर्थ मुलक्रमागत हो उसे तो छोड़ा जा नहीं सकता । फिर भी चि. हरिरायजी अपने पितृचरण नि.ली.श्रीव्रजभूषणलालजीके वचनोंका भी प्रामाण्य स्वीकारनेसे कतरा गये ! यह तो गजबका शाखाचंक्रमण हो गया !!

इसी दिनकी रात्रिको मेरेपास आकर चि. हरिरायजीने कहा था कि में अब इस चर्चामें गुलाँट खाना चाहता हूँ । और बादमें मुझे पुर्वनियोजित संवाद

समझाने लगे कि सभामें अपन दोनों ऐसे ऐसे बोलेंगे और फिर अपन समझौता कर लेंगे । सौराष्ट्रके वैष्णव इस चर्चाके परिणामकी प्रतिक्षा कर रहे हैं; अत: अनुचित परिणाम निकलेंगे । ऐसे भी कहने लगे कि मुझे फँसा दिया गया है । तब मैने सुझाव दिया कि समयाभावसे चर्चा समाप्त घोषित करवाई जा सकती है । चि. हरिरायजीने कहा कि इसका अर्थ कोइ चि. हरिरायजी हार गये – ऐसा न लें ले । मैंने कहा कि मैं घोषित कर दूंगा कि सोपपत्तिक स्वस्वपक्षनिरूपण ही चर्चासभाका प्रयोजन था; उसके संपूर्ण हो जानेपर हारजीतका कोई प्रश्न है ही नहीं । अत: आप चिंता मत करो ।

अगले दिन इसी तरह मैने घोषित कर दिया । बावजूद इसके, चि. हरिरायजीने ‘पुष्टिसिद्धान्तसंरक्षणशिरोमणि’ उपाधि गो. तिलकायित महाराजसे तथा पू.पा.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्रीसे स्वीकार ली ।

गुलाँट खानेकी बात चि. हरिरायजीने संवाद्स्थापकमंडलके सदस्योंकी उपस्थितिमें की थी । तदनुसार संवादस्थापकमंडलने भी चर्चासमाप्तिकी घोषणा कर दी थी । अत: ‘पुष्टिसिद्धान्तसंरक्षणशिरोमणि’ अभिनंदनपत्रकी बचकानी हरकतसे क्षुब्ध तथा रुष्ट होकर संवादस्थापकमंडल पुन: चि.हरिरायजीको मेरेपास लाये । तब चि. हरिरायजी बोले कि बड़ोने सूचित किये बिना ही अकस्मात् यह सन्मानपत्र मुझे दे दिया है ! तब लिखितरूपमें उक्त सन्मानपत्रकी अप्रामाणिकताका प्रलेख चि. हरिरायजीके, संवादस्थापकमंडलके सदस्योंके तथा मेरे हस्ताक्षरोंके सहित तैयार किया गया।

अब ‘संदेश’, राजकोट दि. १९-२-९२ के अंकके अनुसार इस उपाधि पानेका सन्मानपत्र लेनेके विस्मयजनक समाचार प्रकाशित हुए हैं ! फलत: अब उक्तप्रलेख भी यहाँ प्रकाशित कर देनेमें कोई आपत्ति नहीं रही । इस छलप्रपंचका कारण क्या ? उत्तर केवल एक : देवलकवृत्तिका दुराग्रह ! इति शम् ।

संलग्न : प्रलेखकी प्रतिलिपि ।

॥ श्रीमदनमोहनप्रभुर्विजयते ॥

दिनाङ्क १०, ११, १२, १३ जनवरी ९२ को विश्वधर्मालय पार्ले बम्बई में आयोजित पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा में सिद्धान्त-परिसंवाद में हम दोनों ने भाग लिया। प्रस्तुत चर्चा निर्धारित समय में पूरी नहीं हो पाई। 'सिद्धान्तवचनावली' में प्रस्तुत तेरह शीर्षकों के अन्तर्गत ~~१~~ २, ३, ४, ५, ६, ८, ११, एवं १३ विषयवाक्य जो संशय की पूर्वोत्तरकोटि के उपस्थापकतया ही केवल प्रस्तुत हुए थे, इन वाक्यों के आधार पर उठे संशयों में स्वस्वपक्षों के ग्रहण तक की ही चर्चा हो पाई थी, केवल द्वितीय शीर्षकान्तर्गत वचन को छोड़कर द्वितीय शीर्षकान्तर्गत विषयवाक्यों के ऊपर भी केवल स्वस्वउपपत्तिनिरूपण ही हो पाया था, किसी भी तरह के निष्कर्ष तक परिसंवाद पहुँच नहीं पाया। ऐसी स्थिति में समादरणीय गोस्वामी तिलकायत श्री गोविन्दलालजी एवं समादरणीय ~~श्र~~ गो. श्री ~~क~~ व्रजरत्नलालजी महाराज द्वारा प्रदत्त शुभाभिनन्दन किसी भी तरह की निर्णायकता का प्रमाण बन नहीं सकता, ~~न~~ तथापि इसे जब तक जनता में सम्बद्ध किसी भी महानुभाव द्वारा प्रकाशित नहीं करवाया जाता, तब तक हम दोनों भी इसे गुप्त ही रखेंगे, पर यदि किसी भी तरह से यह प्रकाशित किया जाता है तो अपने अपने अभिप्रेत फलितार्थ के निरूपण को प्रकट करने को हम दोनों ही स्वतन्त्र रहेंगे। एतदर्थ ही स्वयं अभिनन्दन प्राप्तकर्ता गो. श्री हरिरायजी द्वारा अभिनन्दन की प्रामाणिक जेरोक्स प्रति गो. श्री श्याममनोहरजी को प्रदान की गई है। उपर्युक्त लेख में हम दोनों अपनी-अपनी सम्मति एतद्द्वारा प्रदान करते हैं।

गो. [illegible]
१५ जनवरी ९२
गो. नरेन्द्रकुमार,
गो. भूषण १५/१/९२
गो. शरद
गो. पंकज

गो. हरिराय:
15-1-92.
गो. व्रजेश
गो. [illegible]

!! SREE HARI !!

बम्बई.

दि. ४ - अगस्त -१९७९

H. H. PRATHAMESH

१००७।८।७९

KOTA
Phone : 3526
Bada Mathuradhis Mandir,
Patan Pole-KOTA (Raj.)

BOMBAY
Phone : 310039 - 313299
Gram : Prathamesh
25/31, Dr. A. Merchant Rd.,
"LALMANI" Bhuleshwar,
BOMBAY 400 002.

JATIPURA
"Giridhar Niwas"
Giriraj Baug,
JATIPURA-Govardhan,
Dist. MATHURA (U. P.)

CALCUTTA
Gram : "PRATHAMESH"
Phone : 482879
35/11, Paddupukhar Rd.,
Bhavanipur,
CALCUTTA - 20.

BHAVNAGAR
Dauji Haveli, Khargate,
Bhavnagar.

KHAMBHALIA :
Junihaveli, Jam Khambhalia.

JODHPUR
Balkrishnaji Mandir,
Juni Mandi, Jodhpur.

UJJAIN
Madan Mohanji Haveli,
Sarafa, Ujjain.

श्रद्धेय आचार्यश्री
सादर यथोचितम्.

सेवामे निवेदन है कि आज वल्लभ संप्रदाय एवं आचार्यों की स्थिति परिस्थिति अत्यन्त शोचनीय है.इस विषय मे कुछ मुझे भी व्यक्तिगत चर्चा करनी आवश्यक है.क्यों कि मेरे संस्थान कोटा के एवं अन्यत्र के स्वरुप को देखते हुए क्या आचार्यसंस्थान किसी राज्य या ट्रस्ट के आधीन रखना ठीक होगा यह प्रश्न तत्काल विचारणीय है.यह संभव नहीं कि गोस्वामी समाज से समवेत होकर अपनी समस्या का समाधान करे ऐसी स्थिति मे क्या निर्णय करना यह परामर्श अपेक्षित है.मेरा यह मत है कि ऐसे स्थानोंपर आचार्य - पीठ एवं आचार्य परंपरा सुरक्षित नहीं है.यह बाला जी के महन्त के ही- ही दृष्टान्त एवं नाथद्वारा के विवरण से स्पष्ट होरहा है.अतः आपश्री एवं परिषद् के अध्यक्ष महोदय तथा हितैच्छु आचार्य बालक एकत्र होकर मुझे शीघ्रमार्गदर्शन करने का कष्ट करें.यह मेरा व्यक्तिगत अत्यन्त आवश्यक अनुरोध है.जिसे निश्चित करके मैं कोटा जाना या नहीं एवं मेरे स्थानों की मार्ग - के अनुसार व्यवस्था करने का निर्णय करसकूं.भिन्न भिन्न निर्णयों से अब यह स्पष्ट होगया है कि ऐसे निर्णय चारों ओर होने से विरोधाभासवाले एवं परम्परा के लिये घातकसिद्ध होरहे हैं.और इसीका परिणाम है शनैः शनैः आचार्य बालक उखड़ते आरहे हैं.और प्रतिकूल स्थिति आने पर अयोग्य या राजनिति द्वारा अन्य प्रकार से हटाने की संभावना है.आशा है आप मुझे शीघ्र मंतव्य प्रदान करने का कष्ट करेंगे.क्यों कि मै कल अपनी दुकानदारी मे व्यस्त रहाऔर आगामि कल भी व्यावसायिक व्यस्तता होने की संभावना है.साथ ही मै इस प्रवंचना से दूर जाना चाहता हूं.अतः आतुर होकर यह प्रतिवेदन किया है. शेष भगवत्कृपा.

भवदीय
गो. रणछोड़ाचार्य

पू.श्रीकृष्णजीवन जी महाराज
पू.श्रीश्याममनोहर जी महाराज
श्रीअध्यक्ष जी.अ.भा.पु.वै.परिषद्.

इस विषय मे अन्य से भी आपपरामर्श करें यह वांछनीय है.

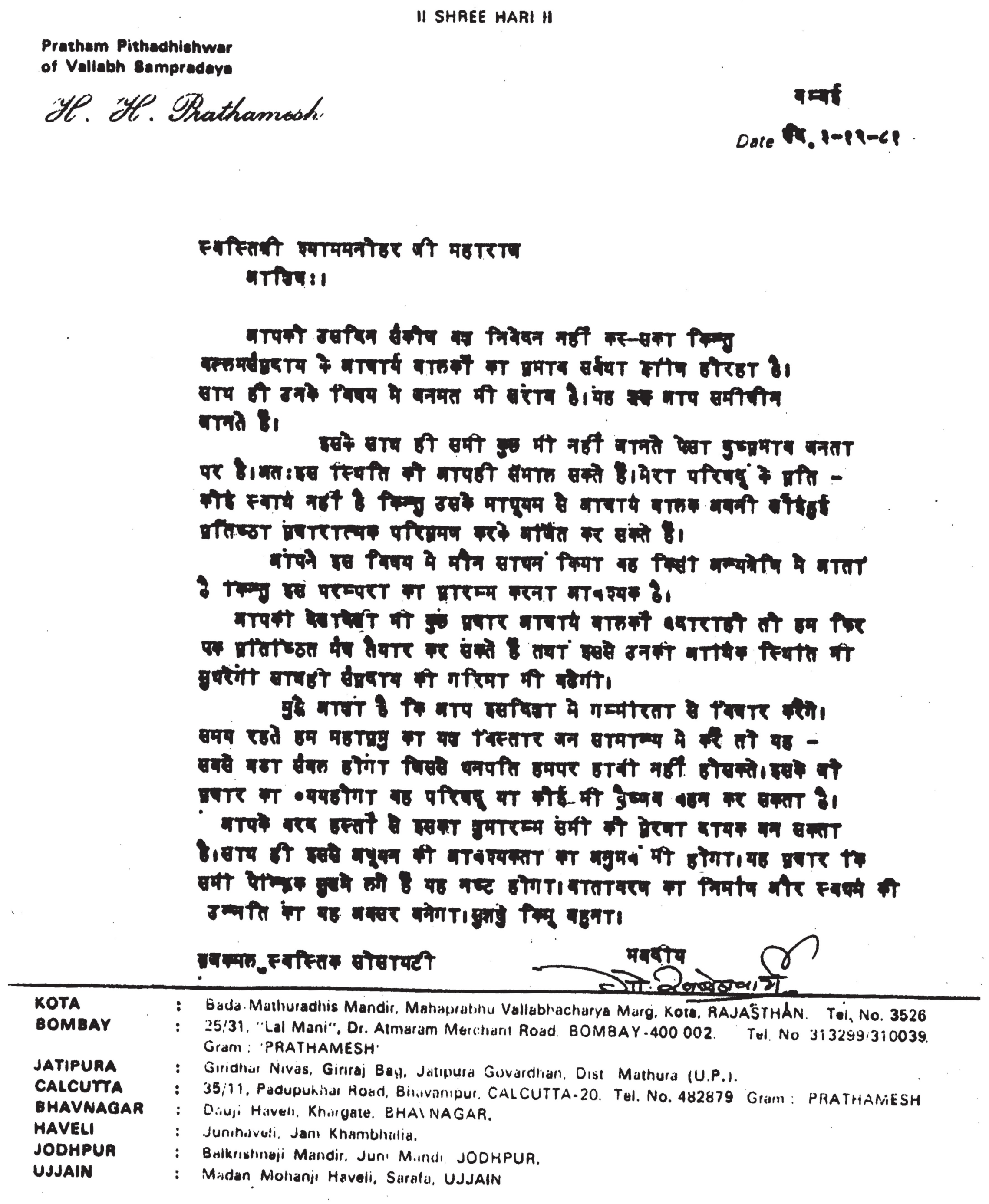

॥ SHREE HARI ॥

Pratham Pithadhishwar
of Vallabh Sampradaya

H. H. Prathamesh

बम्बई
Date दि. १-१२-८१

स्वस्तिश्री श्याममनोहर जी महाराज
आशिषः।

आपको उसदिन संकोच वश निवेदन नहीं कर-सका किन्तु वल्लभसंप्रदाय के आचार्य बालकों का प्रभाव सर्वथा क्षीण होरहा है। साथ ही उनके विषय मे जनमत भी खराब है। यह सब आप समीचीन जानते है।

इसके साथ ही सभी कुछ भी नहीं जानते ऐसा दुष्प्रभाव जनता पर है। अतः इस स्थिति को आपही संभाल सकते है। मेरा परिषद् के प्रति - कोई स्वार्थ नहीं है किन्तु उसके माध्यम से आचार्य बालक अपनी खोईहुई प्रतिष्ठा प्रचारात्मक परिश्रम करके अर्जित कर सकते है।

आपने इस विषय मे मौन साधन किया वह किसी अन्यपेक्षि मे आता है किन्तु इस परम्परा का प्रारम्भ करना आवश्यक है।

आपकी देखादेखी भी कुछ प्रचार आचार्य बालकों अपनाराही तो हम फिर एक प्रतिष्ठित मंच तैयार कर सकते है तथा इससे उनकी आर्थिक स्थिति भी सुधरेगी साथही संप्रदाय की गरिमा भी बढेगी।

मुझे आशा है कि आप इसदिशा मे गम्भीरता से विचार करेंगे। समय रहते हम महाप्रभु का यश विस्तार जन सामान्य मे करें तो यह - सबसे बडा संबल होगा जिससे धनपति हमपर हावी नहीं होसकते। इसके जो प्रचार का व्ययहोगा वह परिषद् या कोई भी वैष्णव वहन कर सकता है।

आपके वरद हस्तों से इसका शुभारम्भ सभी को प्रेरणा दायक बन सकता है। साथ ही इससे अध्ययन की आवश्यकता का अनुभव भी होगा। यह प्रचार कि सभी [illegible] इसमे लगे है यह नष्ट होगा। वातावरण का निर्माण और स्वधर्म की उन्नति का यह अवसर बनेगा। अलं किम् बहुना।

शुभस्थल_स्वस्तिक सोसायटी

भवदीय
गो.

KOTA : Bada Mathuradhis Mandir, Mahaprabhu Vallabhacharya Marg, Kota, RAJASTHAN. Tel, No. 3526
BOMBAY : 25/31, "Lal Mani", Dr. Atmaram Merchant Road. BOMBAY-400 002. Tel. No 313299/310039.
Gram : 'PRATHAMESH'
JATIPURA : Giridhar Nivas, Giriraj Bag, Jatipura Govardhan, Dist Mathura (U.P.).
CALCUTTA : 35/11, Padupukhar Road, Bhavanipur, CALCUTTA-20. Tel. No. 482879 Gram : PRATHAMESH
BHAVNAGAR : Dauji Haveli, Khargate, BHAVNAGAR.
HAVELI : Junihaveli, Jam Khambhalia.
JODHPUR : Balkrishnaji Mandir, Juni Mandi, JODHPUR.
UJJAIN : Madan Mohanji Haveli, Sarafa, UJJAIN

|| SHREE HARI ||

Pratham Pithadhishwar
of Vallabh Sampradaya

H. H. Prathamesh

व्यक्तिगत एवं गोपनीय

बम्बई.

Date. ५-१२-१९८१

चिरंजीवी

श्रीमत् श्याममनोहरजी महाराज ,

आशीर्वाद।

आज वल्लभसंप्रदाय के आचार्यों की प्रतिष्ठा गिरगई है और उनके चरित्र आदि के विषयमें लोग शंकित हैं जिसका प्रभाव गुजरात पर भी हो रहा है। इसका दबा हुवा षड्यंत्र भी चलरहा है कि आचार्यों को निरस्त करके अन्य परम्परा स्वीकार की जाय। श्री शास्त्री और श्री डोंगरे इसका पुरा लाभ लेरहे हैं।

आप विद्वान् हैं और समझदार हैं अतः यह अनुरोध कररहा हूं कि परिषद् के प्रचार दौरेपर पधारने से यह छाप मिट सकती है। इसमें मोटर तथा अन्य प्रबन्ध किया जासकता है किन्तु यह कार्यक्रम श्रीमान् ही तैयार करासकते हैं और गोस्वामी बालकों को भी यह आन्तरिक निवेदन कियाजाना चाहिए।

मुझे इस बात से महान् दुख होता है और यह संवेदन शीलता के कारण ही आग्रह कररहा हूं। अगर विद्वान् बालक आगे अपनी प्रतिष्ठा नहीं जमावेंगे तो फिर भविष्य खराब होजायगा। पुजारी या अन्य बनकर भी नहीं रह पायेंगे। अभी अन्य साधन ऐसा नहीं है कि जिसके द्वारा हम फिर से संगठन के द्वारा उनको प्रतिष्ठित कर सकते हैं।

मैं यह नहीं कहता कि किसी को बाध्य कियाजाय किन्तु यह स्वेच्छा से हो यह उचित है। अन्यथा संस्था बिना साधन जुटाना संभव नहीं है। दूसरों का जो प्रच्छन्न आक्रमण है वह संगठित है। साथ ही आचार्य बालकके साथ स्टाफ भी होना चाहिए अन्यथा प्रचार नहीं होगा। न यहाँ शिष्य ही सही हैं। सभी के मन मे मैंने शंकाकुलता देखी है। यह मेरा अनुभव है। मेरा जीवन तो समाप्ति की ओर है किन्तु आज गोकुलनाथ जी या देवकीनन्दन जी जैसे आचार्य आगे उपलब्ध नहीं हैं न अभी ऐसा प्रभाव है। शिष्य वर्ग बिखरगया है और अविश्वास से भरा है।

KOTA : Mathuradhis Mandir, Mahaprabhu Vallabhacharya Marg, Kota RAJASTHAN Tel. No. 3520
BOMBAY : Dr. Atmaram Merchant Road BOMBAY 400 002 Tel. No. 31 03
PRATHAMESH
JATIPURA : Niwas, Giriraj, Jatipura, Govardhan, Dist. Mathura (U.P.)
CALCUTTA : Bhawanipur CALCUTTA Tel. No. 462679 PRATHAMESH
BHAVNAGAR : Haveli, Khargate, BHAVNAGAR.
HAVELI : Jam Khambhalia.
JODHPUR : Mandir, Juni Mandi, JODHPUR.
UJJAIN : Mohanji Haveli, Sarafa, UJJAIN

किसी के पतन पर प्रसन्न होना अपना ही पतन करना है यह कोई नहीं समझता और आप इसको समझ सके हैं। क्यों कि मैंने अपने व्यक्तिगत - अनुभव से यह बात आपमे देखी है।

साथ ही यह निवेदन करना चाहता हूँ कि श्रद्धेय दादा भाई श्रीदीक्षित जी द्वारा चालित चिकित्सालय की कार बन्द पडी है यदि उसी नाम से हमे चलाने को दी जाय तो झाबुवा और अन्य ग्रामीण क्षेत्रों मे इसका उपयोग किया - जासकता है। बम्बई मे भी व्यवस्था की जासकती है। साथ मे साहित्य भी होनेपर क्रिश्चनिटि रुकेगी और संप्रदाय तथा महाराजश्री का यश बढेगा। यदि आप उचित समझें तो इस विषय पर मुझपर विश्वास कर सकते हैं। कामवन वाले बाबा और अन्यजन तैयार होतो प्रचार कार्यक्रम बनाया जासकता है। सेवा भी - जासकती है। आज भील क्षेत्र मे यह काम होना चाहिये कि हम उनको क्रिश्चियन बनने से रोकें। श्री दीक्षितजी ने जो इनके विरुद्ध साहित्य इंगलिश मे छपाया था उसकी प्रति भेजने का कष्ट करें। तथा आपके पास स्ववृत्तिवाद होतो मैं जेरोक्स करके उसको पुनः भेजदूंगा। साधनदीपिका तथा प्रथमस्कंध अभी श्री सूरतवालों ने निवेदन करने पर भी नहीं भेजे हैं। रुपया भी देने को तैयार था। कुछ आपके निर्देशानुसार कोटा से ग्रन्थ लाया हूँ उसकी प्रति जेरोक्स आपको निवेदन कर दूंगा। विशेष क्या लिखूँ। आशा है आप सानन्द हैं। शेष भगवत्कृपा।

भवदीय

गो. रणछोड़ाचार्य

व्रजकमल
स्वस्तिक सोसायटी
पार्ले जुहु स्कीम बम्बई.

|| SHREE HARI ||

H. H. Prathamesh
Pratham Pithadhishwar of Vallabh Sampradaya

25/31, "Lal Mani", Bhuleshwar,
Dr. Atmaram Merchant Road,
Bombay 400002, Maharashtra, India

મુમ્બઈ.૧૫-૧-૧૯ ૮૩

સ્વસ્તિશ્રી ચિ.શ્રીશ્યામમનોહરજી મહારાજ

આશીર્વાદ.સભી બાલકન કૂં ઔર અ.સૌ.બહૂકૂં.

કિશનગઢ કે લિયે યહૉ અધિકારી જી કાગદ લેકે આયે ઔર આપશ્રી બાહર પધારે.સાથ હી સભી કાગદ રાખે હૈ.કહા કરનો ઔર કૈસે કરનો યે બાત બતાયવે પે મૈ અપને મન્દિર કે વિષય મે વૈસે હી લિખાપઢી કરૂં.ઔર કછુ લિખવે સૂં આપકો કેસ કહીં બિગડ ન જાય યે વિચાર કરનો આવશ્યક હૈ.આપ બાહર પધારે,તો સૂચના મિલે તો કામ હોય.

વહૉ આદમી ભેજનો પડેગો.અભી તો તાર કર્યો હૈ.દેવસ્થાન કૂં વહૉ કી હવેલી પાછી મિલ સકે હૈ.અપને યહૉ મહારાજન કે આચાર્યત્વેન અધિકારન કો ઉલ્લેખ તથા સંગ્રહ હોનો ચહિયે જાસુ કેસ મે પરસ્પર વિરોધાભાસ ન હોય.જુનાગઢ સુ પત્ર છપે આયે હૈ.ઐસે આક્ષેપ શોભનીય નહીં હૈ.

સાથ હી ઔર મુકદમાન મે પરસ્પર વિરોધાભાસ હોય હૈ તો એક આચાર પરમ્પરા વ્યાપક રુપ મે લિખકે રાખની ચહિયે.મોકૂં ઐસો લગે હૈ કે વૈષ્ણવન કો કોઈદલ અથવા અન્યજને જો બાલકન કે વિપરીત હૈ વો સભી મિલકે આચાર્ય સંસ્થાન કૂં સમાપ્ત કરવે કો ઔર મિટાયવે કો ષડયન્ત્ર કરૈ હૈ.કોટા મે ભી મૈ પ્રથમપીઠ કી વ્યવસ્થા કરાય વે કો પ્રબન્ધ કરવે કી ચેષ્ટા હાઈકોર્ટ સૂં અથવા નીચે કી કોર્ટ કરદે તો નીચે સૂં કરાય સકૂં હૂં.આચાર્ય બાલક પુજારી હી બનવે કી બાત કરૈ હૈ.ઈન્દોર સુ વૈષ્ણવ સમાજ ને પત્ર નિકાર્યો હૈ.સો આપકૂં મિલ્યો હોયગો.યા વિષય મે ધ્યાન ભીતર સૂં રાખનો ઉચિત હૈ.ઔર તો કહા કરનો? વિવાદમે સાર નહીં હૈ.

બાલકન મે આત્મબલ જાગ્રત કરૈ ભલે મોકૂંગારી પડે વૈસે ભી કાનુન અધિક હૈ. તિલકાય કે અધિકાર ભી સુરક્ષિત નહીં હૈ.ચેયર મૈન ઔર આચાર્ય મે અન્તર હૈ. વિશ્વનાથ કો મન્દિર સરકારને લેલિયો હૈ.આપ સબન કૂં વિચારવે કી કહો. આપ સાનન્દ બિરાજતે હોયેંગે.શેષ ભગવત્કૃપા.

ભવદીય

KOTA : Bada Mathuradhis Mandir, Mahaprabhu Vallabhacharya Marg, Kota, RAJASTHAN. Tel. No. 3526
BOMBAY : 25/31, "Lal Mani", Dr. Atmaram Merchant Road, BOMBAY-400 002. Tel. No. 313298/310039 Gram : PRATHAMESH'
JATIPURA : Girdhar Nivas, Giriraj Bag, Jatipura Govardhan, Dist. Mathura (U.P.)
CALCUTTA : 35/11, Padupukhar Road, Bhavanipur, CALCUTTA-20. Tel. No. 482879 Gram : 'PRATHAMESH'
BHAVNAGAR : Dauji Haveli, Khargate, BHAVNAGAR.
HAVELI : Junihaveli, Jam Khambhalia.
JODHPUR : Balkrishnaji Mandir, Juni Mandi, JODHPUR.
UJJAIN : Madan Mohanji Haveli, Sarafa, UJJAIN

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।।

शुद्धाद्वैत – पुष्टिभक्ति–संप्रदाय–प्रवर्तक–महाप्रभु

श्रीमद्–वल्लभाचार्य–वंशज–गोस्वामिओंका–

संयुक्त घोषणापत्र

विविध धार्मिक संप्रदायोंके अनुयायीओंकी स्वधर्मपालनकी स्वतंत्रताको अपने देशने जनतांत्रिक संविधान द्वारा मौलिक अधिकार होनेकी गरिमासे मंडित किया है । फिरभी हालमें देशके उच्चतम न्यायालयमें दो जजोंकी बेंचने (न्यायाधीशोंकी पीठने) जूनागढस्थित पुष्टिमार्गीय हवेलीके श्रीबहूजी महाराजके विरुद्ध दिये गये गुजरात न्यायालयके निर्णयको (चरणभेंटके व्यक्तिगत घोषित किये जानेके एक अपवादको छोड कर), यथावत् मान्य कर लिया है । सन् १९६३ में, क्योंकि, उच्चतम न्यायालयके पांच न्यायाधीशोंकी पीठने पुष्टिमार्गीय हवेलियोंके निजी होनेकी किसी तरहकी सैद्धान्तिक अनिवार्यता स्वीकारी नहीं थी, अतः पांच न्यायाधीशोंके उक्त निर्णयको दो न्यायाधीशोंने अपनेपर बन्धनकारी मानकर पुष्टिमार्गीय सिद्धांतके विमर्शार्थ अनावश्यक मान लिया है ।

यद्यपि सन् १९६३ के उच्चततम न्यायालयके निर्णयमें यह स्वीकारा गया था कि ‘‘इस संप्रदायके कुछ मंदिर भूतकालमें निजी रहे होंगे, कुछ वर्तमानकालमें भी निजी हो सकते हैं, कोई मंदिर सार्वजनिक है या नहीं इस बातका निर्णय उस मंदिरसे जुडे तथ्योंपर अवलंबित होना चाहिये । ऐसा कोई भी सामान्य नियम नहीं है वाल्लभ संप्रदायमें सार्वजनिक मंदिर निषिद्ध हो और अतएव नाथद्वारा–मंदिरको सार्वजनिक न माना जाये’’ (अनुच्छेद २२ एस.सी.आर. ४३१/१९६८ तिलकायत श्रीगोविनदलालजी महाराज विरु. राजस्थान सरकार) । इसी न्याय निर्णयमें यह भी कहा गया था कि ‘‘यदि मंदिर निजी होता और मंदिरकी संपत्ति तिलकायत की होती तो बात दूसरी थी परन्तु एक बार यह स्वीकार लेनेपर कि यह मंदिर सार्वजनिक है, यह तर्क

दुर्बोध हो जाता है कि संपत्तिकी व्यवस्था तिलकायत द्वारा होनी वाल्लभ संप्रदायके सिद्धान्तके अनुसार एक धार्मिक विषय है । वस्तुत: ऐसा कोई भी सिद्धान्त हमारे समक्ष प्रस्तुत ही नहीं किया गया'' (अनुच्छेद ६९) नाथद्वारा मंदिरका अत: सिद्धान्तके आधार पर नहीं किन्तु सन् १९३८ में उदयपूरके महाराणा द्वारा जारी किय गये फरमानके आधारपर श्रीनाथजीके मंदिरको, पूर्वकालीन तिलकायतोंकी अन्य भी निजी संपत्तिके साथ, सार्वजनिक मंदिर एवं सार्वजनिक धर्मार्थ न्यासकी संपत्ति घोषित किया गया था (अनुच्छेद ३० तथा ३१) ।

यहाँ एक अतीव महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय तथ्य यह हैकि सन् १९३८ के बहुत बाद सन् १९४१ में भी उदयपूरके महाराणाने (आदेश संख्य १०९९८ दिनांक २-९-४१ में) वर्तमान तिलकायत श्रीगोविन्दलालजी महाराजको संपूर्ण नाथद्वाराकी जागीरका मालिक माना था । इस आदेश की प्रतिलिपि उच्चतम न्यायालयमें प्रस्तुत पेपरबुककी पृष्ठसंख्या २११ पर एनेक्स्वर संख्या १० के रूपमें अंकित है । सन् १९३४ में जारी किये फरमानके अपवादको छोड कर पुराने तो अनेक फरमानोंमें उदयपुरके तत्कालीन महाराणाओंने तत्कालीन सभी तिलकायतोंको नाथद्वारा-जागीर तथा श्रीनाथजीके मंदिर और उससे जुड़ी हुई तमाम संपत्तिका एकमात्र मालिक माना था । इन फरमानोंकी प्रति भी उक्त पेपरबुकमें मुद्रित है । साथ ही साथ यह भी अवधेय है कि श्रीदामोदरलालजीको पदच्युत करनेका मूल आदेश उदयपुरके महाराणाका स्वयंका नहीं किन्तु श्रीदामोदरलालजीके पिता तिलकायत गोस्वामी श्रीगोवर्धनलालजी महाराजने स्वयं ही दिया था । इस तथ्यकी पुष्टिके हेतु गोस्वामी श्रीगोवर्धनलालजी तिलकायतद्वारा महाराणाको दिनांक सन् ४-९-३२ को लिखा गया पत्र, जो प्रस्तुत पेपरबुक की पृष्ण संख्या १९४-५ पर एनेक्स्वर नं. ५/६ के रूपमें प्रस्तुत हुआ था, अवलोकनीय है । इससे सिद्ध होता है कि महाराणाने तो अपने धर्मगुरुके आदेशका केवल पालन ही किया था । वैसे भी वाल्लभ संप्रदायकी प्रधानपीठपर किसीको तिलकायित या नियुक्त करनेका अथवा पदच्युत करनेका अधिकार न तो महाराणामें निहित

था और न बलात् वैसी अनधिकारचेष्टाको हमारे संप्रदायने कभी मान्यता ही प्रदान की थी । क्योंकि हमारे धर्मसंप्रदायकी स्थापना न तो किसी राज्यके राजाकी आज्ञावश हुई थी और न वह किसी एक राज्यकी सीमासे घिरा राज्यधर्म ही था, है या बन पायेगा । अतएव सन् १८५७ के स्वातंत्र्यसंग्रामके अन्यतम सेनानी श्रीतात्या टोपेको तत्कालीन ति. गोस्वामी श्रीगिरधरलालजी महाराजने जो तीन दिन नाथद्वारामें आश्रय दिया था और जिससे पैदा हुए मनमुटावके कारण उदयपुर स्थित ब्रिटिश रेजीडेंटने उदयपुर महाराणाकी नाबालिगीका फायदा उठाकर महाराजा सज्जनसिंहके नामपर श्रीगिरधरलालजी महाराजको पदच्युत करके देशनिष्कासनका आदेश दे दिया था । परन्तु उसके आधारपर न तो संप्रदायने और न अन्य ही तत्कालीन कोटा तथा हैद्राबाद आदि राज्योंने गोस्वामी श्रीगिरधरलालजी महाराजको तिलकायतके रूपमें अमान्य किया था ।

यह तो तथ्य है कि वाल्लभ संप्रदायके प्रधानपीठाधीशकी पदवीके अलावा उस पीठसे जुडे विशेषतया तत्कालीन उदयपुर राज्यकी सीमाके अन्तर्गत तथा महाराणाओंद्वारा गुरुभाव एवं श्रद्धासे प्रदत्त जो जागीर थी उसे तिलकायतके पास रहने देना या पुन: छीन लेना का अधिकार अवश्य ही महाराणामें तत्कालीन उदयपुर राज्यके सार्वभौम प्रशासक होनेकी हैसीयतमें निहित था । क्योंकि वह जागीरदारी उदयपुर राज्य द्वारा प्रदत्त थी, अत: उसे छीन लेनेका राज्यका अधिकार भी स्वीकारा जा सकता है ।

इस तरह तिलकायतकी पदवीसे जुड़े एक धर्माचार्य होनेके तथा दूसरे उदयपुर राज्यके एक ठिकानेके मालिक होनेके पक्षोंका भलिभांति विश्लेषण हो नहीं पाया । परिणामस्वरूप जागीरकी मालिकीसे पदच्युत करनेके उदयपुर राज्यके अधिकारोंका तिलकायतके धर्माचार्य होनेके पक्ष पर भी प्रभावशाली मानकर उदयपुरके महाराणाओंके स्थानापन्न आधुनिक राजस्थान-प्रशासनमें भी वह अधिकार स्वीकार लिया गया है । वाल्लभ संप्रदायकी प्रधानपीठको वाल्लभ संप्रदायके सिद्धान्त एवं परंपराके विपरीत सार्वजनिक मंदिर बना दिया

गया है ।

हमारे यहाँ घरमें मंदिर होता है मंदिरमें घर नहीं अतएव इस संदर्भमें यह उल्लेखनीय है कि श्रीनवनीतप्रियाजीका स्वरूप ज्येष्ठपुत्र क्रमाधिकारके नियमानुसार प्रभुचरण गोस्वामी श्रीविठ्ठलनाथजीके ज्येष्ठपुत्र श्रीगिरधरजीको प्रभुचरणके पश्चात् उत्तराधिकारमें प्राप्त हुआ सेव्यस्वरूप था । श्रीमथुराधीश आदि सात स्वरूपोंके सात पुत्रोंमें बंटवारेके समय श्रीनाथजीका स्वरूप किसीभी एक पुत्रके एकाधिकारमें दिये बिना इस अंशमें अविभक्त परिवारके कर्ताके रूपमें ज्येष्ठ पुत्रको सौंपा गया था । अत: न केवल स्वरूप ही किन्तु श्रीनाथजीका मन्दिरभी पारिवारिक निजी था । पहले जब जतिपुरामें वह स्थित था तब और बादमें नाथद्वारामें जब विस्थापित हुआ तब भी, इन दोनों गाँवोपर तिलकायतके पूर्वजोंका स्वामित्व नि:संदेह सारे संप्रदायके अनुयायीओंको, तिलकायतके परिवारबन्धु सभी गोस्वामिओंको तथा उदयपुरके महाराणाओंको भी मान्य ही था । अत: श्रीनवनीतप्रियाजीका मंदिर व्यक्तिगत निजी घरमें स्थित मंदिर था तो श्रीनाथजीका मंदिर भी वल्लभकुलके गोस्वामिओंमें ज्येष्ठ भ्राताके स्वामित्वके गांवमें स्थित परिवारगत निजी मंदिर था ।

उच्चतम न्यायालयमें प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत भी सभी प्रमाणोंका निष्कर्ष तथा संप्रदायकी परंपरागत धारणाका स्वरूप भी यही है ।

जहाँ तक सैद्धान्तिक विवेचनाका प्रश्न है वह हालमें जूनागढके विवादमें उच्चतम न्यायालयके दो न्यायाधीशोंकी पीठके समक्ष महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके मूलवचनोंको आधार बनाकर, उनकी संप्रदायमान्य व्याख्याओंके साथ प्रस्तुतकी गयी है । इनके आधारपर यह नि:संदेहतया सिद्ध हो जाता है कि पुष्टिमार्गीय हवेलियोंका निजी होना एक सैद्धान्तिक अनिवार्यता है ।

इसी तरह पुष्टिमार्गीय हवेलियोंमे दर्शनार्थ आती वाल्लभ संप्रदायके सिद्धान्तों एवं परंपराओंमें आस्थाशील वैष्णव जनताकी आस्थाके द्योतक समग्र देशकी तिरासी नगरियोंमें से ग्यारह हजारसे भी अधिक शपथपत्र उक्त

सिद्धान्तके समर्थनार्थ प्रस्तुत किये गये हैं ।

फिर भी इन सिद्धान्त वचनों तथा शपथपत्रोंको पढने-विचारनेसे उच्चतम न्यायालयने इन्कार कर दिया है (जूनागढ निर्णय अनुच्छेद १९) ।

जूनागढ हवेलीके बारेमें गुजरात न्यायालयके निर्णयमें ऐसी कई बातें हैं जो कहनेको तो केवल जूनागढ हवेलीसे जुड़े तथ्य है, परन्तु एक समान पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त एवं परंपरा पर आधारित होनेके कारण वास्तवमें तो सामान्यतया सभी हवेलियोंमें पाये जा सकते हैं; और अतएव उन तथ्योंके बारेमें दिये गये निर्णय वाल्लभ संप्रदायकी अन्य भी सभी हवेलियोंपर भविष्यमें अन्ततः निश्चिततया एवं सामान्यतया लागू होने ही वाले हैं ।

यह अतीव विस्मयजनक है कि नाथद्वारानिर्णयमें यह कहा गया था कि वह निर्णय केवल नाथद्वारामंदिरके बारेमें ही है, फिर भी गुजरात न्यायालयके इस विधानका कि ‘‘नाथद्वारा स्थित वाल्लभ संप्रदायका प्रधानमंदिर जब सार्वजनिक हो सकता है तो जूनागढस्थित मंदिरके सार्वजनिक होनेमें क्या आपत्ति होनी चाहिये’’ (गुजरात न्यायालयका निर्णय पृष्ठ संख्या ११५), उच्चतम न्यायालयने कुछ भी स्पष्टीकरण देना आवश्यक नहीं समझा । इससे सिद्ध होता है कि नाथद्वारा विवादके विशेष निर्णयको अब सामान्य नियम बनानेकी प्रक्रिया शुरु हो गई है, क्योंकि पहले यह कहा गया था कि पुष्टिमार्गीय हवेली निजी ही होनी चाहिये ऐसा कोई नियम नहीं है, अब किन्तु यह कहा जा रहा है कि मंदिरका सार्वजनिक होना तो एक सामान्य नियम है, नाथद्वाराके निर्णयमें कहा गया था कि उस मुकदमेमें ऐसा कोई सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं किया गया किन्तु अब यह कहा जा रहा है कि ऐसे सिद्धान्तके विमर्शकी कोई आवश्यकता नहीं है । तब दस्तावेजी तथ्यके आधारपर नाथद्वारा-मंदिरको सार्वजनिक मंदिर घोषित किया गया था । परन्तु अब गुजरात न्यायालयने उसे सामान्य नियम मानकर जूनागढ-हवेलीको सार्वजनिक मंदिर घोषित कर दिया है । फिरभी इस विषयमें उच्चतम न्यायालय द्वारा रखा गया मौनव्रत भीषण भविष्यकी पूर्वसूचना है ।

एक नहीं अनेकों मुद्दें इस विवादमें ऐसे उलझे हुए है, जिन्हें ''जूनागढ हवेलीसे जुड़े तथ्य'' मानकर हम अपने-आपको फुसलाना चाहे तो और बात है, अन्यथा भविष्यमें उच्चतम न्यायालयद्वारा समर्थित जूनागढ हवेलीके निर्णयमे दिये गये विधान सामान्य नियम मान लिये जायेंगे । वाल्लभ संप्रदायके जीवन-मरणके जैसे गंभीर प्रश्नोंका उत्तर दिये बिना संप्रदायके सिद्धान्त एवं जनभावनाके विमर्शको अनावश्यक मान लेना वाल्लभ संप्रदायके धार्मिक स्वातंत्र्यका क्रूर अपहरण है । हमारे सिद्धान्तपर कानूनी प्रतिबन्ध लगाये जाने जैसी यह बात है (द्रष्टव्य जूनागढ हवेलीके बारेमें उच्चतम न्यायालयका निर्णय अनुच्छेद ११-१२) ।

इससे ऐसी विषम स्थिति पैदा होगी कि कोई निचली अदालते भी अब पुष्टि मार्गीय हवेलियोंकी सार्वजनिकताके विरुद्ध पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त वचनोंको या तर्कोंको सुनना-विचारना पसंद नहीं करेगी । जनतामेंसे कोई आवेदन करे या न करे चेरीटी कमिश्नर स्वयं ही सभी जगह स्वत: जांच पड़ताल शुरु कर सभी हवेलियोंको सार्वजनिक घोषित करेंगे और ऐसे निर्णयके विरुद्ध की गई अपील निचली अदालतोंसे लेकर उच्चतम न्यायालयके दो न्यायाधीशोंकी पीठ तक खारिज होती रहेंगी । जब तक सात न्यायाधीशोंकी पीठ उच्चतम न्यायालयके नाथद्वारा मंदिरके निर्णयमें दिये विधानोंको असंगत घोषित नहीं करती, तब तक हमारे सिद्धान्तोंपर कानूनी प्रतिबन्ध लगा दिया गया है, यह मान कर हमें अब चलना पडेगा यों जनतांत्रिक देशकी न्यायप्रणालीने अकारण ही वाल्लभ संप्रदायकी अनुगामी जनताकी धार्मिक भावना तथा स्वातंत्रको क्रूरतासे कुचल दिया है ।

भाण्डारकर द्वारा लिखित ''शैविजम एंड वैष्णविज़म'' नामक ग्रन्थके आधारपर सन् १९६३ में उच्चतम न्यायालयने सिद्धान्तसे सर्वथा विपरीत एवं परंपरासे असंगत जो धारणा वाल्लभ संप्रदायके सिद्धान्तकी मान ली थी बस वही व्याख्या आज हमसे हठात मनवायी जा रही है । सिद्धान्त हमारा कुछ भी क्यों न हो सब कुछ भूल भाल कर हमें अपने घरोंमें बिराजमान सेव्यस्वरूपका

ट्रस्टीपूजारी मान कर तथा शनैः शनैः भविष्यमें इसी प्रक्रियामें हमें हठात फंसाकर साधारण जनताको भी सौंप देनेको बाधित किया जा रहा है । वेरावलकी पुष्टिमार्गीय हवेलीमें इस प्रक्रियाके अन्तर्गत उसे हिन्दु–मुस्लीम–सिख–इसाई आदि सभी धर्मविलंबिओंके आराधनाधिकारवाले सार्वजनिक मंदिरके रूपमें घोषित कर दिया गया है । जबकी श्रीहरिरायजीने स्पष्ट विधान किया है कि असांप्रदायिक व्यक्तिको अपने सेव्यस्वरूपके दर्शन करानेपर संपूर्ण वर्षकी सेवा विफल हो जाती है तथा स्वरूपको पुनः पंचामृत स्नानद्वारा शुद्ध करना आवश्यक हो जाता है ।

यह एक वास्तविकता है कि भाण्डारकर द्वारा लिखित ग्रन्थ उस समय न्यायालयके समक्ष विवादग्रस्त विषयके सभी मुद्दों या सिद्धान्तके समग्र स्वरूपको समझानेके लिये रखा ही नहीं गया था । उस विवादमें सांप्रदायिक सिद्धान्त एवं परंपरा के अलावा अन्य भी असांप्रदायिक विद्वान लेखकोंके अनुसार ‘‘पुष्टिमार्गीय हवेली निजी ही होती है’’, बस इसी बातको दिखलानेके लिये वह ग्रन्थ प्रस्तुत किया गया था । अतएव विल्सन, मणिलाल सी. पारेख तथा एन.ए. थूथीके ग्रन्थोंमें से भी उक्त आशयके वचन उद्धृत किये गये थे । पुष्टिमार्गीय हवेली निजी ही होती है, सार्वजनिक नहीं इस विषयमें इन सभी असांप्रदायिक् विद्वानोंकी एक राय दिखलाई गई थी । खेदके साथ, किन्तु, कहना पडता है कि नाथद्वारा विवादमें संमान्य न्यायाधीश श्रीगजेन्द्र गडकरने वाल्लभ सिद्धान्त एवं मान्यता की दृष्टिसे सर्वथा महत्वहीन उस ‘‘शैविजम एंड वैष्णविजम’’ के एक छोटेसे परिच्छेदपर अनावश्यकतया निर्भर होकर यह विधान कर दिया कि वाल्लभ संप्रदायमें आराधनार्थ प्रयुक्त स्थल एवं संपत्ति के निजी होनेका कोई भी प्रमाण हमें इस ग्रन्थमें या दासगुप्ता अथवा सर्वपल्ली राधाकृष्णन के ग्रन्थोंमें भी मिला नहीं हैं (अनुच्छेद १६, १७, १८, १९, २० तथा २१) ।

यहाँ यह उल्लेखनीय हो जाता है कि दास गुप्ता तथा राधाकृष्णन के लेखों का मुख्य विषय वाल्लभ दर्शन है धार्मिक आराधना नहीं भाण्डारकरने

यद्यपि आराधनाप्रणाली तथा हवेली का निजी होना स्वीकारा है, फिर भी वह वाल्लभ संप्रदायकी धार्मिक आराधना प्राणालीके सिद्धान्तों की कोई सांगोपांग विवेचना तो नहीं थी । सबसे महत्वपूर्ण तथ्य तो यह है कि वह संक्षिप्त लेख भी महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य द्वारा विरचित मूलग्रन्थोंके अवलोकन किये बिना ही लिखा गया था । इस तथ्य की पुष्टि ''शैविजम् एंड वैष्णविजम'' के अन्तमें प्रकाशित आधारभूत ग्रन्थोंकी सूचीके अवलोकन द्वारा सरलतया हो सकती है। प्रसिद्ध भारतविद् विद्वान लेखक प्रो. श्रीहेल्मूथ वॉन ग्लासनेपने भी अपने ग्रन्थ ''डॉकट्रीन ऑफ वल्लभाचार्य'' में भाण्डारकरके लेखनकी इस न्यूनताकी ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है । जूनागढ हवेलीके मुकदमेमे उच्चतम न्यायालयके समक्ष यह तथ्य भी (सिविल मिसिल पिटिशन संख्या १९८०९/१९८६ द्वारा) प्रस्तुत किया गया था । इसपर भी उच्चतम न्यायालयने कोई ध्यान नहीं दिया है ।

ऐसी स्थितिमें उक्त भाण्डारकरके ग्रन्थगत विधानोंपर बांधी गई वाल्लभ सिद्धान्तकी निर्मूल धारणाओंपर अवलंबित निर्णय वाल्लभ संप्रदायको कितना न्याय दे पायेगा यह स्वत: ही समझमें आनेवाली बात हैं । इस तथ्यपर सावधानतया गंभीर विमर्श सभी न्यायाधीशोंको करना चाहिये था, तिलकायतके केस (सन् १९६३) में तथा उसपर आधारित नडियाद (सन् १९७०) एवं जूनागढ (सन् १९८६) के निर्णयोंमें भी ।

श्रीतिलकायत महाराजके समर्थनमें उस समय वाल्लभ संप्रदायके धर्मगुरुओं तथा अनुयायिओं ने जो बातें कही थी उन्हें भी तब उच्चतम न्यायालयने यह कह कर ठुकरा दिया था कि उक्त नाथद्वारा स्थित मंदिरकी संपत्तिकी व्यवस्था सम्हालनेका अधिकार तिलकायतके हस्तगत रहे या अन्यके यह विचारनेका पहले कभी कोई अवसर ही उपस्थित नहीं हुआ होनेसे संप्रदायकी ऐसी धारणा बंध गई होगी । परन्तु संप्रदायकी यह धारणा एतावता संविधानकी धारा तथा २६(बी) द्वारा प्रदत्त तिलकायतके मौलिक अधिकारोंका प्रमाण नहीं मानी जा सकती है (अनुच्छेद ६९) ।

प्रस्तुत विवादग्रस्त विषयके बारेमें जहाँ तक सिद्धान्तके निश्चित स्वरूप या व्याख्या का प्रश्न है, हम सभी धर्माचार्य, हमारे संप्रदाय के प्रवर्तक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य तथा परवर्ती अन्य भी मान्य सभी व्याख्याकारोंके सन्देहरहित विधानोंके आधारपर, यह स्पष्टतम शब्दोंमें घोषित करते हैं कि हमारे धार्मिक सिद्धान्त एवं परंपराओं के अनुसार भगवत्सेवा–सेवास्थल–सेवोपयोगिसंपत्ति–सेवाकर्ता (उपदेशक या अनुयायी)–एवं सेव्य भगवत्स्वरूप –का निजी अथवा पारिवारिक होना एक अनुल्लंघ्य धार्मिक अनिवार्यता है । अत: इनमें से किसीको भी सार्वजनिक बनाना सर्वथा धर्मविरुद्ध होनेसे एक घोर धार्मिक अपराध है ।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि न्यासकी विश्वमान्य धारणाके विपरीत जाकर भी अर्थात् एक ओर हमें हमारे ही घरमें मालिक के बजाय केवल व्यवस्थापक न्यासी घोषित किया जाता है तथा दूसरी ओर उस सार्वजनिक न्यासकी संपत्तिसे हमारे और हमारे परिवारके निर्वाहकी वंशानुगत छूट भी दी जाती है । ये तीनों अधिकार–(१) व्यवस्थापकीय अधिकार (२) निर्वाहलाभ के अधिकार (३) वंशानुगत उत्तराधिकारिता के अधिकारों के बावजूद हमें हमारे घरोंमें मालिक नहीं माना जाता यह कहां का न्याय है?

वाल्लभ संप्रदायके सिद्धान्तके अनुसार घरमें मंदिर होता है मंदिरमें घर नहीं हमारे घरको सार्वजनिक मंदिर घोषित करके हमारे सिद्धान्त, परंपरा एवं धार्मिक भावनाओंके विरुद्ध हमें मंदिरमें घर बसानेको बाधित किया जा रहा है। जब तक सभी भारतीय नागरिकोंके घरोंको सार्वजीनक मान लेनेका संविधानमें परिवर्तन नहीं लाया जाता, तब तक केवल हमें ही खुद हमारे घरोंमे मालिक माननेके बजाय न्यासी बना देना कहांका न्याय है?

सबसे अधिक खेदजनक बात तो यह है कि वाल्लभ संप्रदायमें हमारे लिये पुजारी बनना सर्वथा वर्जित है, फिर भी इन न्याय निर्णयोंमें हमें हठात् पुजारी बनाया जा रहा है । धर्मगुरु तथा पुजारी न तो एक कोटीके पद हैं और न इनसे जुड़े कार्यकलाप ही एक तरहके माने जाते हैं । भारतीय संस्कृतिसे

लेशमात्र परिचय रखनेवालेको भी इस अन्तरका भान तो रहता ही है । आश्चर्यकी बात तो यह है कि करसंबन्धी विवादमें कराधानके कानूनोंके आधारपर निर्णय दिया जाता है – औद्योगिक विवादोंमें औद्योगिक कानूनके आधारपर निर्णय लिया जाता है – परन्तु धार्मिक संस्था या संप्रदायके बारेमें उठे विवादका निर्णय धार्मिक सिद्धान्त एवं परंपरा का भलीभांति विमर्श किये बिना ही दे दिया जाता है । धर्मगुरुको पुजारी बना दिया जाता है । यदि किसी न्यायालयमें न्यायाधीशको प्रस्तोता (रजिस्ट्रार) या आशुलिपिक (स्टेनो) कहा जा सकता हो तो धर्मगुरुको पुजारी कहा जा सकता है । जैसे न्यायाधीशके लिये वैसे शब्दोंका प्रयोग संमान्य न्यायव्यवस्थाका अनादर है, वैसे ही धर्माचार्यके लिये ‘‘पुजारी’’ पदका प्रयोग समादरणीय धर्माव्यवस्थाका अनादर है।

इस तथ्यकी पुष्टिके हेतु ही हजारों अनुयायीओंने शपथपत्र द्वारा अपनी भावनाको स्पष्टतम शब्दोंमें न्यायालयके समक्ष प्रस्तुत किया था, परन्तु उनकी भावनाका लेशमात्रभी विमर्श किया नहीं गया । यह उस स्थितिमें विशेष क्षोभजनक बात बन जाती है जब हमारे घरोंको जनहितकी दुहाई देकर सार्वजनिक तो घोषित कर दिया जाता है परन्तु स्वयं जनताकी धार्मिक भावनाका विमर्श आवश्यक नहीं माना जाता ।

कोई स्थान या संपत्ति निज है या सार्वजनिक यह कानूनी मुद्दा हो सकता है । परन्तु आराधना कैसे करनी चाहिये अर्थात किसी संप्रदायके अनुसार आराधनाका वास्तविक स्वरूप क्या है, यह न तो विधानसभा, न प्रशासन और न ही न्यायालयके निर्णय द्वारा ही निर्धारित हो सकता है । चर्चमें आराधना प्रार्थना आदिके रूपमें की जाती है । मस्जिदमें आराधना नमाज पढनेके रूपमें की जाती है । दरगाहमें आराधना फूलकी चादर चढाकर या कव्वाली गाकर की जाती है । अन्य हिन्दु मंदिरोमें आराधना धूप-दीप-नैवेद्य पत्र-पुष्प आदि चढाकर की जाती है । वाल्लभ संप्रदायके सिद्धान्तके अनुसार निजघरमें निजधनको तथा निज परिवारजनोंको भगवत्स्वरूपकी सेवामें

उपयोगमें लाना ही आराधनाका वास्तविक स्वरूप है । ऐसी स्थितिमें उन्हें निजी न मान कर सार्वजनिक बना देना वाल्लभ संप्रदायके अनुयायिओंके धार्मिक स्वातंत्र्यका अकारण ही क्रूर अपहरण है । जनता तो सामाजिक तथा राजनैतिक नेताओं के घरपर भी आती है तथा थेली तथा चुनाव चन्दा भी देती ही है, परन्तु उनके घरोंकी सार्वजनिक नहीं बना दिया जाता और धर्मगुरुओंके घरोंमें जनताका निर्बाध आना या भेंट आदि चढाना धर्मगुरुके घरके सार्वजनिक संपत्ति होनेका अकाटय प्रमाण मान लिया जाता है । कानूनकी निगाहमें जबकि सभी समान होने चाहिये । दूसरे शब्दोंमें कहें तो यह हमारे धार्मिक स्वातंत्र्यपर अकारण ही प्रतिबंध लगाया जा रहा है ।

अत: निजघरमें निजधनके विनियोग द्वारा तथा निजपरिवारके जनोंके सहयोग बिना की जाती आराधना, वाल्लभ संप्रदायकी आराधनाकी परिभाषा के अनुसार, आराधना ही नहीं है । ऐसी स्थितिमें हमारे घरोंमें आती जनताद्वारा हमारे सेव्य भगवत्स्वरूपके दर्शन करना या भेंट चढाना आदि आचरण आराधनाके अन्तर्गत मान्य क्रियाकलाप नहीं है । अत: ऐसे निर्बाध आचरणके कारण आराधनाके अधिकारकी कल्पना भी शक्य नहीं है । जनता हमारे घरोंमें आकर सिद्धान्तोंपदिष्ट आराधना करती होती तो, उसका आराधनाका अधिकार माना भी जा सकता था, पर जैसा आचरण है वह आराधना ही नहीं हो तो अधिकार कैसा ? कानूनन ऐसे आचरणको जनताके अधिकारका प्रमाण, कानूनी उदेश्यकी पूर्तिके लिये मानना ही पड़ता हो, तब भी ऐसे कानूनमें पुष्टिमार्गीय हवेलियोंको अपवाद मानना चाहिये । क्योंकि यह कानून मौलिक अधिकारोंकी सूचीमें संनिविष्ट नहीं है, जबकि धार्मिक स्वातंत्र्य मौलिक अधिकारोंमें परिगणित है । जनताका हमारी हवेलियोंमें निर्बाध आना दर्शन करना अथवा भेंट धरना आराधना ही नहीं है, परिभाषाके सुनिश्चित होनेके कारण, अत: वह जनताका मौलिक अधिकार नहीं माना जा सकता है।

इसलिये देशकी किसी भी प्रान्तीय विधानसभा, प्रशासन अथवा न्यायालय द्वारा ऐसे कानून बनाना, उन्हें लागू करना या ऐसे न्याय निर्णय देना

कि कोई पुष्टिमार्गीय हवेली जनताके निर्बाध आगमन आदि हेतुके कारण सार्वजनिक धार्मिक आराधना स्थल है, हमारे धार्मिक स्वातन्त्र्यका घोर अन्यायपूर्ण अपहरण है । अत: इस संयुक्त घोषणापत्र द्वारा हम सभी धर्माचार्य अत्यन्त गंभीर शब्दोंमें यह अनुरोध करते है कि हमारे संप्रदायके साथ किया जाता यह अन्याय एवं अत्याचार शीघ्र ही समाप्त किया जाये ।

वर्तमानकालमें अपने देशमें अनेकानेक समस्याए बिनसुलझी सामने पड़ी हुई है । ऐसी स्थितिमें वाल्लभ संप्रदायको माननेवालोंके हृदयमें व्यर्थ ही धार्मिक क्षोभ उत्पन्न करनेसे देशको कौनसा लाभ होगा? किसी भी वर्ग या संप्रदाय के मौलिक अधिकारोंको अकारण ही खण्डित नहीं करना चाहिये । देशकी प्रगतिशील तथा सृजनशील शक्तियोंको समुचित अवसर प्रदान करने के लिये देशमें जनतांत्रिक सौमनस्य तथा सद्भावके वातावरणकी अतिशय आवश्यकता है ।

साथ ही साथ इस प्रसंगपर हम सभी धर्माचार्य एकमत होकर यह भी घोषित करते हैं कि व्यक्तिगत रागद्वेष एवं प्रतिस्पर्धा की निम्नस्तरीय मनोवृत्तिके वशीभूत होकर जिन दो तथाकथित वैष्णवोंने यह मुकदमा लड़कर संप्रदायके सिद्धान्त एवं परंपरा पर निन्दनीय आघात किया है, उनके इस कृत्यसे संप्रदायमें आस्थाशील किसी भी व्यक्तिको धबराने या निराश होने की आवश्यकता नहीं है । औरंगजेबके कालमें भी जब मंदिरो तथा हिन्दुधर्म को तलवारके जोरपर खतम करनेका प्रयास किया गया था तब भी यह धर्म जीवित रहा था और उसका एकमात्र कारण थी हमारे हृदयमें हमारे दिव्य धर्म तथा सिद्धान्तोंके प्रति कभीभी न बहकनेवाली आस्था, जो भगवत्कृपासे हमारे पूर्वजोंके हृदयमें दृढ थी । हमें उसी भगवत्कृपालब्ध आस्थाके उपर विश्वास रखते हुए इन धर्मद्वेषियोंके दुष्प्रयासोंका सामना करते रहना पड़ेगा । जो सिद्धान्त सनातन होता है उसकी सुरक्षाके हेतु सनातन जागरुकता एवं निष्ठा भी अपेक्षित होती है । क्योंकि ‘‘धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षित:।’’

संप्रदायके मूल ग्रन्थोंके आधारपर तथा हजारों वैष्णवोंकी वास्तविक

आस्थाके द्योतक हजारों शपथपत्रोंके आधारपर भी जूनागढके विवादमें उच्चतम न्यायालयमें इंटरवेंशन द्वारा जो सिद्धान्त एवं परंपरा का प्रस्तुतीकरण हुआ उसपर हम सभी अपना सन्तोष तथा सहमति प्रकट करते हैं ।

फिरभी इस विवादग्रस्त विषयमें सर्वदा दृष्टिगत रखने लायक हमारे मूलग्रन्थोंमें से अधोलिखित सैद्धान्तिक विधानोंको अविस्मृतिके हेतु हमारे धार्मिक निष्कर्षके साथ यहाँ संकलित कर रहे हैं ।

(१) सिद्धान्ताभिमत सेवाका स्वरूप

मूल :

कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परामता ।
चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा ।।

(श्रीमहाप्रभु विरचित सि.मु.१-२)

व्याख्या : वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारिता एका, एतादृशेन पुंसा च कृता अपरा । एतादृश्यौ ते ततसाधिके न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम् । एतेन भगवदर्थं निरूपधि स्वसर्वस्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव स्वदेह विनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवति इति भाव: । (श्रीमत्प्रभुचरण कृत व्याख्या)

व्याख्या : तत् चेद वित्तं वेतनत्वेन दत्वा कार्यते तदा सा चित्तस्य रासत्वं कुर्वनती चित्तस्य तत्प्रवणत्वं न करोति । यदि च वित्तं वेतनत्वेन गृहीत्वा क्रियते तदा ऋत्विजो यागवत् स्वस्य तत्प्रवणत्वरूपं फलं न साधयति ...अत: तथा न कार्यं किन्तु भगवदुक्तरीत्यैव कार्यम् ।

(श्रीपुरुषोत्तमजी कृत व्याख्या)

निष्कर्ष : इससे सिद्ध होता है कि हमारे घरोंमे केवल दर्शनार्थ निबधि आना अथवा केवल भेट चढाना, स्वीकृत परिभाषाके अन्तर्गत, सेवा नहीं है । अत: जनताके ऐसे आचरणसे जनताको सेवाके अधिकार मिल जानेकी बात सिद्ध नहीं होती । यहाँ यह उल्लेखनीय है कि हमारी हवेलियोंमें हमारी

आड़ीके बिना किसी भी तरहकी सेवा करनेका वैष्णव जनताका कोई भी अधिकार नहीं है । यह गुजरात न्यायालयमें भी स्वीकारा गया है । परन्तु अपने खुदके घरमें कोई भी वैष्णव हमारी आड़ीके बिना भी सेवा कर सकता है । ''आडी'' का अर्थ गुजरात न्यायालयने जो भी धर्मद्वेषियोंने कहा सो, स्वीकार लिया है । जबकि उसका वास्तविक अर्थ वह नहीं है । क्योंकि हमारी आराधना प्रणालीके मुख्यतम सिद्धान्त ''तनुवित्तजासेवा'' को वहां तोडा गया है । दरअसल वह तूटे नहीं तथा वैष्णवोंको अपने पारिवारिक सदस्योपम मान कर ही हम गोस्वामिओंने हमारे प्रतनिधिके रूपमें हमारे निजी सेव्य स्वरूपके केवल बहिरंग सेवाकी थोडी बहुत छूट वैष्णवजनताको दी थी । अन्तरंग सेवामें तो कभी किसी वैष्णवको घुसने देनेकी बात तो दूर, दर्शनके अधिकार भी नहीं दिये गये । इसका मतलब यह नहीं कि कोई वैष्णव स्वयं उसके घरमें बिराजते भगवत्स्वरूपकी अन्तरंग सेवा करनेका अधिकारी न माना जाता हो । ऐसी स्थितिमें हमं ही हमारे घरमें आराधक वैष्णव जनसमुदायका प्रतिनिधि मान लेना सेवाके सिद्धान्तका असह्य उल्लंघन है ।

(२) सिद्धान्तभिमत सेवास्थलका स्वरूप

मूल :

बीजदाढ्र्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मत: ।
अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णम् पूजया श्रवणादिभि: ।।

(श्रीमहाप्रभु विरचित भ.व.२)

व्याख्या : ''तु'' शब्देन एतदतिरिक्त–प्रकारान्तर–व्युदास: उक्त: । स्वमार्गीय–भगवद्भजनं तु गृहस्थित्यभावे न संभवती पूर्वं गृहस्थितिमेव आहु:।

(श्रीगोकुलनाथजीकृत व्याख्या)

निष्कर्ष : इससे सिद्ध होता है कि यदि निज घरमें न किया जाता हो तो ऐसे भगवद्भजनको पुष्टिमार्गीय परिभाषामें भगवद्भजन ही नहीं कहा जा सकता है । पुष्टिमार्गमें निजघरमें रहकर भगवद्भजन करनेके प्रकारके अलावा

अन्य कोई प्रकार भगवद्भजनका है ही नहीं । अत: हमारे आराधनाके स्थलको सार्वजनिक बनाना हमारे भगवद्भजनके प्रकारपर कानूनी प्रतिबंध लगाने जैसा अत्याचार है ।

(३) सिद्धान्ताभिमत सेवोपयोगिसंपत्तिका स्वरूप :

मूल :

> **असमर्पितवस्तूनां तस्माद् वर्जनमाचरेद् ।**
> **निवेदिभि: समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थिति: ।।**

(श्रीमहाप्रभु विरचित सि.र.४-५)

व्याख्या : स्वात्मसर्पणावसरे भगवते निवेदितै: दारादिभि: चेतनै: गृहवित्तादिभि: अचेतनै: च यत् कुर्यात् तत् सर्वं भगवते तेषां यथोचितविनियोगरूपं समर्पणं विधायैव कुर्यात् । शास्त्रे निवेदनं दानं समर्पणं त्रिविधं स्मृतम्, निवेदनं समुदिश्य द्रव्यस्य ज्ञापनं मतम् । दानं स्वकीयतात्याग: परस्वापादनं विधे: अर्पणं स्वामिभोग्यस्य स्वामिने ज्ञापनं मतम् । तथाच चेतनान् भगवत्सेवायां विनियुंजन् अचेतनान् गृहवित्तादीन् उपयोजयन, अन्नादीन् नैवेद्यरूपेण वस्त्रालंकारादीन् च उचितविनियोगे नियोजयन् ...तदत्तप्रसादत्वेन तत्तद् उपयुंजीत इति स्थिति: -

(श्रीपुरुषोत्तमजी कृत व्याख्या)

व्याख्या : अपरंच दाने हि न स्वविनियोगो नतु निवेदने । अन्यथा निवेदितान्नादे: भोजनं न स्यात्, अनिवेदितस्य निषद्धत्वात् निवेदितानाम् अर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तदत्तप्रसादत्वेन स्वोपभोगकृति: उचिततरा ।

(श्रीप्रभुचरणकृत नवरत्न व्याख्यां)

निष्कर्ष : इससे सिद्ध होता है कि जैसे अनिवेदित-असमर्पित वस्तुको उपभोग, सिद्धान्तत: वर्जित है, वैसे ही भगवत्स्वरूपको दानरूपेण अर्थात (भैंट धरी हुई) वस्तुका उपभोग भी वर्जित है । अत: गृह-धन-अन्न-वस्त्र-

अलंकार आदि गृहस्थीमें उपभोगकी सभी वस्तुओंको भगवानकी सेवामें निवेदित-समर्पित बना कर ही परिवारजनोंके साथ सेवाकर्ता स्वयंके उपभोगार्थ ग्रहण कर सकता है । ऐसी स्थितिमें सेवोपयोगिसंपत्तिकी व्यवस्था का अधिकार (मेनेजरीयल राईट) तथा लाभग्राहिताके अधिकार (बेनीफिशयरी राईट) भी सेवाकर्ता व्यक्ति या परिवार के वैयक्तिक या पारवारिक ही हो सकते हैं, सार्वजनिक नहीं । असमर्पितके उपभोगका निषेध होनेके कारण ही हम अपने उपभोगमें लानेसे पहले घर-धन-अन्न-वस्त्र आदि गृहस्थीमें काम आती सभी वस्तुओंको भगवान्‌को समर्पित करते हैं, न कि दानरुपेण भेट धरते हैं । अन्यथा ऐसे भेंट धरे हुए घरमे रहना या भेंट धरे हुए धनसे भोग धरी हुई सामग्रीका प्रसादत्वेन ग्रहण हमारे यहाँ सर्वथा वर्जित है ।

(४) सिद्धान्ताभिमत सेवाकर्ताका स्वरूप :

मूल :

अतो भक्तानां जीवन्मुक्त्यपेक्षया भगवत्कृपासहित गृहाश्रम एव विशिष्यते । (श्रीमहाप्रभुकृत निबंध १/५९)

मूल :

भार्यादिरनुकूलश्चेत् कारयेद् भगवत्क्रियाम् उदासीने स्वयं कुर्यात् प्रतिकूले गृहं त्यजेत् ।। (श्रीमहाप्रभुकृत निबंध २/२३१)

मूल :

लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा ।

(श्रीमहाप्रभुकृत सि.मु.१६)

व्याख्या : ननु कश्चिज्जीविकाद्यर्थमपि भजते तस्य का गति:? इत्यत: आहु: लोकार्थीति, ''लोक'' पदेन लौकिको अर्थ: उच्चते तदर्थी चेत् कृष्णं भजेत् तदा व्यापारवद् अर्थे सिद्धे तस्यापि अनर्थरूपत्वेन तत्कृतभजनस्य भक्तित्वाभावात् तत्कृतं सर्वं क्लेशरूपमेव । (श्रीप्रभुचरणकृत व्याख्या)

मूल :

सर्वथा चेद् हरिकृपा न भविष्यति यस्य हि
तस्य सर्वमशक्यं स्यान्मार्गेऽस्मिन् सुतरामपि ।
कृपायुक्तस्य तु यथा सिध्येत् कारणमुच्यते ।।
कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दंभादिरहितं नरम्
श्रीभागवततत्वज्ञं भजेद् जिज्ञासुरादरात् ।।
तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित्
परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्रच स्थितम् ।।

व्याख्या : अतः स्नेह एव तत्प्राप्तिहेतुः अतो युक्त्यापि भगवन्मार्गस्य प्रमाण्यं साधितम् इति अर्थः । परम् अत्र न सर्वेषां फलमुखाधिकारः किन्तु येषु भगवत्कृपा । कृपापरिज्ञानं च मार्गरुच्या निश्चीयते । तत्र आदितः साधनानि आह कृष्णसेवापरम् इति । यो हि गुरुः सेवाम् उपदेक्ष्यति स स्वयं चेत् ताम् उत्तमां जानीयात् तदा कथं स्वयं न कुर्यादिति सेवापर एव गुरुः – तत्रापि निमित्तानि वारयति दंभादिरहितम् इति । सेवा च प्रमाणमूलैव पुरुषार्थपर्यवसायिनी अन्यथा मनसि अनयद विधाय अन्यथा करणे न फलसिद्धिः इति अभिप्रायेण आह श्रीभागवततत्त्वज्ञम् इति । जिज्ञासुः न तु कौतुकाद्याविष्टः भजनं सर्वभावेन तदा तदुकाप्रकारेण भगवत्सेवा कर्तव्या सच दुर्लभः इति तेनापि वक्तव्यं प्रकारम् आह तदभावे इति । क्वचिद् देशविशेषे सत्परिपन्थिनाम् अभावयुक्ते । हरेः मूर्तिं कृत्वा भजेत् । अयमेव अस्य मार्गस्य प्रकारः उत्तमः । (श्रीमहाप्रभु कृत व्याख्या)

व्याख्या : ननु अत्र मूलएव कुठारपात इति आकांक्षायां कलेः बलिष्ठत्वेन अग्रिमेषु गुरुलक्षणाभावम् आलोच्य स्वस्मिन्नेव एतन्मार्गीय गुरुत्वं नियच्छन्त आहुः सचेत्यादि ''तदभावे'' इति आज्ञापनाद इदं ज्ञात्वा करणे, ''यस्त्विच्छया कृतः पुम्भिराभासो ह्याश्रमात् पृथक्'' इति आभासत्वाभावः, सेवायाः तृतीयस्कन्धोक्तमौढ्याभावश्च सेवाकर्तुः साधितः स्वयमेव सेवाकरणेपि प्रकारविशेषसन्देहे तादृशा यदि मिलन्ति तदा प्रकारांशे प्रष्टव्याः

इत्यपि सूचितम् । (श्रीपुरुषोत्तमजीकृत व्याख्या)

मूल :

महात्म्यज्ञानपूर्वस्त सुदृढ सर्वतोधिकः ।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्नचान्यथा ।
माहत्म्यज्ञापनायैव श्रवणं गुणकर्मणाम् ।
शास्त्राणामुपयोगोऽत्र तत्राकांक्षा गुरोः भवेत् ।।
कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दंभादिरहितं नरम् ।
श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेज्जिज्ञासुरादरात् ।।
देहद्रोण्या यियासूना परं पारं भवाम्बुधेः ।
गुरुणा कर्णधारेण ह्युत्तार्या स्वोपदेशतः ।।

(श्रीगोपीनाथजी कृत सा.दी.८-११)

मूल :

ब्रह्मसंबन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः ।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि (श्रीमहाप्रभुकृत सि.र.२)

व्याख्या : ब्रह्मसंबन्धकरणं नाम एतन्मार्गीयाचार्यद्वारा भगवन्निवेदनम् तेनैव सर्वेषां देहानां सर्वेषां जीवानां च सेवाप्रतिबन्धकसर्वदोषनिवृत्तिः भवति ।

(श्रीगोकुलनाथजीकृत व्याख्या)

मूल :

तेन गुरुत्वमेव वृत्तित्वेन फलति युक्तं चैतद् अनुपकृत्य परस्वग्रहणे ऋणित्वेन बन्धस्य प्रसंजनात, किंच ऋतोत्तरम् अमृताख्यायाः अयाचितवृत्तेः उक्तत्वात् तस्यामपि शिष्यस्यैव ग्राह्यं न इतरस्यतु एवं संकोचे तस्याम् अपि प्रशस्तत्वसिद्धिः । (श्रीपुरुषोत्तमजीकृत स्वावृत्तिवाद)

मूल :

चितिं च चितिकाष्ठं च पूयं चण्डालमेव च ।

स्पृष्ट्वा देवलकं चैव सवासा जलमाविशेद् ।।
देवपूजापरो यस्तु वित्तार्थी वत्सरत्रयम् ।
सवै देवलको नाम हव्यकव्येषु गर्हित: ।।

(श्रीपुरुत्तोमजीकृत द्रव्यशुद्धि)

मूल :

तब आप कहे जो कटोरी गिरवी धरिके सामग्री आई सो तो भोग श्रीठाकुरजी आपुनके द्रव्यको आरोगे सो तो आप ही को भयो जो श्रीठाकुरजीको द्रव्य खायेगो सो मेरो नाहि और मेरो सेवक भगवदीय होयगो सो देवद्रव्य कबहू न खायगो । जो खायगो सों महापतित होयगो । ताते वा प्रसादमें ते भोजन करवेको अपनो अधिकार न हतो । वाके लिये गोआनको खवायो और श्रीयमुनाजीमें पधरायो । (निजवार्ता–घरुवार्ता)

निष्कर्ष : इससे सिद्ध होता है कि अपने परिवारजनों अथवा परिवारोपम इष्ट जनों के साथ गृहस्थ हो वा ब्रह्मचारी अपने घरमें अपने स्वधर्मके रूपमें ही भगवत्सेवा करनी चाहिये । सार्वजनिक मंदिरमें दर्शनार्थी जनसमुदायके प्रतिनिधिके रूपमें सेवा करनेकी प्रक्रियाको न तो वाल्लभ संप्रदायमें अवकाश है और न वैसा आचरण सिद्धान्तत: प्रशंसनीय ही है । भगवत्सेवाका अनुष्ठान न तो नौकरी और न धंधा के रूपमें ही किया जा सकता है ।

वाल्लभ संप्रदायमें गोस्वामी महाराजोंको उनकी गुरुकी हैसीयतमें वाल्लभ संप्रदायकी अनुगामी जनता द्वारा चरणभेंट, गोलखभेंट, पधरामणी भेंट या सेवा प्रदेश भेंट आदि रूपमें जो चल अथवा अचल संपत्ति अयाचिततया भेंट आती है, उसे स्वीकारनेका अधिकार है । क्योंकि वह उनकी आजीविका है । परन्तु भगवत्सेवाके एवजमें या पुजारीकी हैसीयतमें कुछ भी भेंट स्वीकारना न केवल वर्जित है अपितु अधर्म तथा अयोग्यतासंपादक है ।

किसी वैष्णव अनुयायीको किसी हवेलीके अधिष्ठाता–मालिक गोस्वामीमहाराजमें श्रद्धा न होतो वह उस हवेलीमें न जाये । उसे ब्रह्मसंबन्ध लिये बिना भी उसके खुदके घरमें बिराजते स्वरूपकी, ऐसी विषम परिस्थिति

में, सेवा करनेकी छूट तो है ही । यह बात और है कि ब्रह्मसंबंध दीक्षाके बिना सेवाप्रतिबंधक सर्वदोषोंकी निवृत्ति हो नहीं पाती यह ‘‘अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथंचन’’ (सि.र.४) वचनके आधारपर है और ब्रह्मसंबंध दीक्षाके दानका अधिकार संप्रदायमें पुष्टिमार्गीय आचार्यो का ही है अन्य किसीका नहीं।

स्वमार्गीयदीक्षादाता तथा स्वधर्मोपदेशक धर्माचार्य या गुरु की हैसीयत में, अतः गोस्वामी महाराजोंको वाल्लभ संप्रदायके अनुयायीकी हैसीयतमें वैष्णव जनता द्वारा जो भेंट धरी जाती है उसे स्वीकारनेका अधिकार सिद्धान्तानुमोदित है । एक चिकित्सकको चिकित्सार्थी द्वारा, या एक अध्यापकको विद्यार्थी द्वारा अथवा एक वकीलको अपने न्यायर्थी मुवक्किल द्वारा दिये जाते धनको स्वीकारने तथा उसे निजी आय माननेकी छूट है, तब केवल धर्मगुरुओंको उसके अनुयायिओं द्वारा दिये जाते धनको निजी आय माननेमें क्या आपत्ति होनी चाहिये? केवल धर्मगुरुकी संचित संपत्तिको ही क्यों सार्वजनिक मान लिया जाता है? क्या धर्मनिरपेक्षताका अर्थ धार्मिक संप्रदायोंपर शनैः शनैः प्रतिबन्ध लाना है? पूर्वकालमें जूनागढकी हवेलीके इतिहाससे सिद्ध होता है कि बिना मांगे जूनागढके नवाब तथा वैष्णवों द्वारा जो जागीर या चलाचल संपत्ति गो.श्रीमाधवरायजीको भेंटके रूपमें आईथी उसे स्वीकार कर उन्होंने हवेली बांधी थी तथा अपने सेव्यस्वरूपके साथ स्वयं वहाँ रहना शुरु किया था । क्या नवाबको व्यक्तिगत जागीर देनेका हक नहीं था? फिर व्यर्थ ही श्रीमाधवरावजीको क्यों ट्रस्टी पूजारी मान लिया गया है? एक धर्मगुरु जो निजघरमें निजी आयके स्रोतोंपर अवलंबित होकर स्वधर्मतया भगवत्सेवा करता हो उसे धार्मिक सिद्धान्त तथा भावना के विपरीत हठात पुजारी घोषित कर देना कैसा न्याय है ।

फिरभी हम सभी धर्माचार्य एतद् द्वारा यह घोषित करते हैं कि ऐसी गलत व्याख्याओंका अवकाश मिले ऐसा कोई भी आचरण किसी भी पुष्टिमार्गीयको करना नहीं चाहिये ।

श्रीमहाप्रभु सभी पुष्टिमार्गीयोंको सैद्धान्तिक निष्ठा स्वधर्मानुसरणका सामर्थ्य तथा पारस्परिक सौमनस्य प्रदान करें ! हमारी धार्मिक स्वतंत्रता अखंडित रहे ! तथा सभी पुष्टिमार्गीयके निजघरोंमें बिराजमान सेव्य स्वरूप सर्वदा निजी ही रहें - कभी सार्वजनिक न बन जायें ! ''बुद्धिप्रेरक कृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु ।''

हस्ताक्षर कर्ता :

शरद गोस्वामी (हालोल-मांडवी)
किशोर चन्द्र गोस्वामी (पारला-मांडवी)
गोस्वामी अजयकुमार (पूना-मद्रास)
गोस्वामी मनमोहन (बम्बई)
गोस्वामी त्रिभंगीराय (बोरीवली)
गोस्वामी हरिराय (बम्बई)
गोस्वामी कृष्णचन्द्र (बम्बई)
गोस्वामी वल्लभलाल (कडी)
हरिराय गोस्वामी (पोरबंदर)
गो. श्याम मनोहर (किशनगढ-पारला)
गो. व्रजाधीश (बम्बई)
गो. व्रजेशकुमार (कडी)
गो. कृष्णकुमार (कामवन)
गो. राजेशकुमार (कडी)
गो. विजयकुमार (कडी)
गो. योगेश्वर (सुरत)
रघुनाथ गो. (पारला-गोकुल)
गोस्वामी देवकीनन्दनाचार्य (गोकुल)
गोस्वामी नवनीतलाल (कामां-भावनगर)
गोस्वामी मुरली मनोहर (बम्बई)
गोस्वामी माधवराय (नासिक-बम्बई)
गोस्वामी रमेश (बम्बई-मुलुंड)
गोस्वामी कल्याणराय (कन्हैयाबावा) (वीरमगांव)
गोस्वामी योगेश कुमार (पारला-बम्बई)
व्र.मु.गोस्वामी (बोरीवली)
गो. नीरज माधवराय (नाशिक-बम्बई)
गो. शरदकुमार (पोरबंदर)
गो. चन्द्र गोपाल (पोरबंदर)
गो. नृत्यगोपाल (बम्बई)

**

संयुक्त घोषणापत्रपर मूल हस्ताक्षरोंकी फोटो कोपी

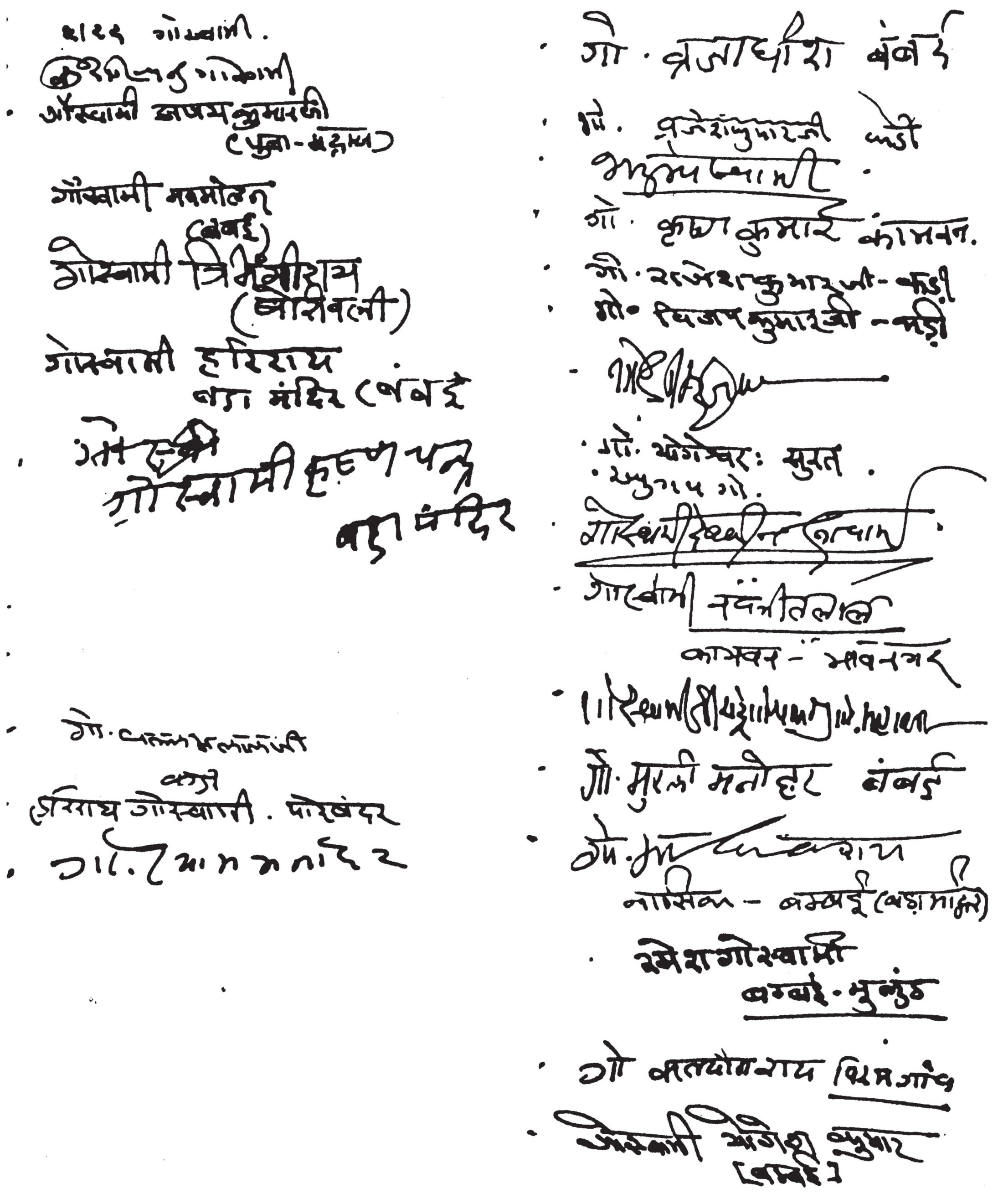

शरद गोस्वामी.
[illegible] गोस्वामी
गोस्वामी श्यामकुमारजी
(पूना-मद्रास)

गोस्वामी मदनमोहन
(बंबई)
गोस्वामी त्रिभुवनराय
(बोरीवली)
गोस्वामी हरिराय
बड़ा मंदिर (बंबई
गो. श्री
गोस्वामी कृष्णचन्द्र
बड़ा मंदिर

गो. [illegible]
[illegible]
हरिराय गोस्वामी. पोरबंदर
गो. [illegible]

गो. व्रजाधीश बंबई
गो. व्रजेशकुमारजी कडी
अनुपमस्वामी
गो. कृष्णकुमार कामवन.
गो. राजेशकुमारजी - कडी
गो. विजयकुमारजी - कड़ी
गो. योगेश्वर: सुरत.
रघुनाथ गो.
गोस्वामी [illegible]
गोस्वामी नवनीतलाल
कामवन - भावनगर
गोस्वामी [illegible]
गो. मुरली मनोहर बंबई
गो. [illegible]राय
नासिक - बम्बई (बड़ा मंदिर)
रमेशगोस्वामी
बम्बई - मुलुंड
गो. वल्लभराय विरमगांव
गोस्वामी [illegible] कुमार
[बम्बई]

पत्रद्वारा प्राप्त सहमतिके हस्ताक्षरोंमें इन्हें ओर गिन लेना चाहिए :
गोस्वामी श्रीमथुरेशजी–श्रीव्रजेशजी (वीरमगाम)

શ્રીહરિ :

ગોસ્વામી શ્રી બાલકૃષ્ણલાલજી
૧૦-૧૩૧ ભાગાતળાવ,
મોટાં મંદિર, સુરત.

સંવત ૨૦૪૨
આસો વદ ૪, બુધવાર
તા. ૨૨-૧૦-૮૬

ગોસ્વામી શ્રી શ્યામમનોહરજી મહારાજ,
નમસ્કાર.

જૂનાગઢ કેસ અંગે સર્વોચ્ચન્યાયાલયમાં આપણી વતી સંસ્થા (શ્રી ગોવિંદપ્રભુ ટ્રસ્ટ, શ્રી કૃપાનિધિ ટ્રસ્ટ અને આં.રા.પુ.વૈ.પરિષદ) દ્વારા રજૂ થયેલ અગિયાર હજાર એફીડેવીટસ તથા નિયુક્ત એડવોકેટસ દ્વારા ઇન્ટરવીનર તરીકે થયેલી રજૂઆતને અદાલતે યોગ્ય દાદ આપી નથી. પરંતુ આપની મૌખિક રજૂઆત ને કારણે ગુજરાત હાઇકોર્ટના ચૂકાદામાં આંશિક ફેરફાર કરી ગુરુભેટ અને શરણભેટ ને ગુરુની અંગત આવક ગણાવી છે.

આથી એક વિશ્વાસ દૃઢ થયો છે કે, માર્ગીય રજૂઆત લાર્જર બેંચ સામે બરાબર કરવામાં આવે તો સર્વોચ્ચન્યાયાલય ને પોતાનો નિર્ણય માર્ગીયસિદ્ધાંત તરફી બનાવવો પડે. આ વિષય ઉપર વિગતે વિચાર કરવા માટે તા. ૬-૧૦-૮૬ ના રોજ મુંબઇ શ્રીયદુનાથજીના મંદિરના માળ પર બપોરે 3-30 કલાકે માત્ર ગોસ્વામી બાળકોની બંધબારણે સભા થઇ. સભામાં ૨૯ ગો. બાળકો હાજર રહયા અને સૌએ સર્વાનુમતે ઠરાવ્યું કે :-

(૧) સર્વોચ્ચન્યાયાલયમાં લાર્જર બેંચ માટે રીવ્યુ પીટીશન કરવી.

(૨) આ કાર્ય માટે આઠ સભાસદોની કાર્યકારીણી સમિતિ બનાવવામાં આવી.

(૩) આ કામ માટે પ્રત્યેક ગોસ્વામિ ૭ બાળક કે જેમણે અનુમતી આપી છે તેઓ (વ્યક્તિદીઠ) વિત્તસેવા રૂ. ૧૦,૦૦૦)- આપે.

(૪) આપે તૈયાર કરેલ ૨૫ પાનનું નિવેદન સર્વેની સંમતિ સૂચક સહી લઇ તૈયાર રાખવું અને ઉચ્ચન્યાયાલયનો લાર્જર બેંચનો ચુકાદો પણ જો તરફેણમાં ન આવે તો તે નિવેદન જાહેર કરવું અને વૈષ્ણવ સૃષ્ટિનું વિશાળ પાયે સમર્થન મેળવવા તેનો ઉપયોગ કરવો. ન્યાયાલયનો ચૂકાદો ન આવે ત્યાં સુધી તે પ્રસિદ્ધ ન કરવું. વિરૂદ્ધ ચુકાદો સ્વધર્માચરણમાં કેટલો બાધારૂપ છે તેની સમજ આપવા માટે આ નિવેદનનો ઉપયોગ કરવો.

આમ ઉપર પ્રમાણે સર્વાનુમતે લેવાયેલ આ ચાર નિર્ણયોમાંથી પ્રથમ ત્રણ નિર્ણયો માટે મારી ત્યારે સંમતિ હતી. આજે છે. અને આવતી કાલે ન હોવાનું કોઇ કારણ નથી.

ચોથા નિર્ણયમાં જે નિવેદનનો નિર્દેશ કર્યો છે તે નિવેદનની નકલો જોઇતા પ્રમાણમાં સભામાં હાજર ન હોવાથી સંમતિ અપાયા છતાં તેનો ઊંડો અભ્યાસ-ચર્ચા વિ. થઇ શક્યા નથી. ફક્ત નિવેદનના પાન ૨૩ ઉપર લીટી ૨૧ થી ૨૨ માં જણાવાયું છે કે,

"બિના બ્રહ્મસંબન્ધ દિયે ભી અપને ઘરમેં ભગવત્સેવા કી છૂટ તરે હે હી." આ વાક્ય ન રહે તો સારૂ એવો આશય છે. તેથી માત્ર આ એક વાક્ય પુરતી મારી સંમતિ નથી. આ સિવાય બધુંજ લખાણ યોગ્ય છે.

ઉક્ત નિવેદન ઉપર સહી કરનાર તમામ ગો.બાળકો તેમજ નિયૂક્ત થયેલી કાર્યકારીણી સમિતિ પુનઃ વિચારણા કરે અને આખા નિવેદનમાંથી માત્ર આ એક વાક્ય રદ થાય તેવો નિર્ણય કરે તેવી અપેક્ષા છે. પ્રથમ ત્રણ નિર્ણયો સાથે પૂર્ણ સંમત છું તેવી આ તકે સ્પષ્ટતા કરું છું.

લડતને અંતઃકરણપૂર્વકનો મારો ટેકો હોવાનું પુનઃ સ્પષ્ટ કરું છું.

ગો. બાળકૃષ્ણલાલજી

ગો. બાલકૃષ્ણલાલજી સુરત.

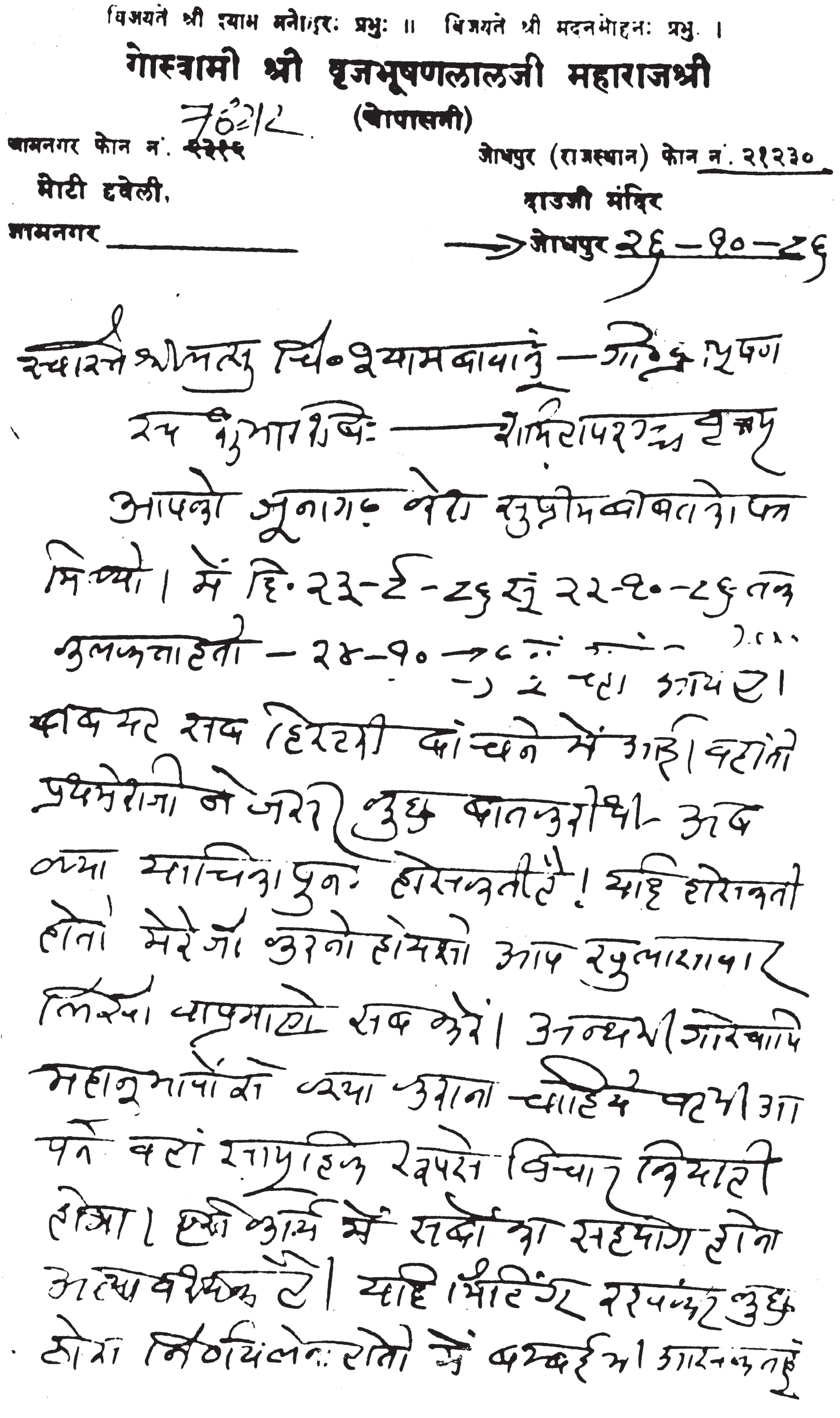

विजयते श्री श्याम मनोहरः प्रभुः ॥ विजयते श्री मदनमोहनः प्रभुः ।

गोस्वामी श्री वृजभूषणलालजी महाराजश्री

70312 (चोपासनी)

जामनगर फोन नं. ~~२२१६~~
मोटी हवेली,
जामनगर

जोधपुर (राजस्थान) फोन नं. २१२३०
दाउजी मंदिर
जोधपुर २६-१०-८६

स्वस्ति श्रीमस्तु चि॰ श्यामबाबाने — गो॰ वृजभूषण
स्य कृ॰ आशी॰ बि॰: — शमिहापरञ्च वृत्तम्

आपको जूनागढ़ भेजा सुप्रीमबाबतको पत्र मिल्यो। मैं दि॰ २३-९-८६ सूं २२-१०-८६ तक कलकत्ता हतो — २४-१०-८६ को यहां आयो हूं। बाद में सब हिस्ट्री बांचने में आई। वहां तो प्रथमेशजी ने जरूर कुछ बात करी थी — अब क्या याचिका पुनः हो सकती है! यदि हो सकती हो तो मेरे जो करनो होय सो आप सुविधानुसार लिखो यथासमय सब करें। अन्य भी गोस्वामि महानुभावों का क्या करना चाहिये यह भी आपने वहां सामूहिक रूपसे विचार कियाही होगा। इस कार्य में सबका सहयोग होना अत्यावश्यक है। यदि मीटिंग रखकर कुछ ठोस निर्णय लेना होतो मैं बम्बई भी आ सकता हूं

कृपया विवरणा भेजें सब बातों से अवगत
करावें। मुझे दिल्ली में दाउजी मं. के अधि
कारी बच्चूभाई ने आपके परिश्रम की बात
कही — अति धन्यवाद है कि जो आपने
इतनी मेहनत करके संप्रदाय के सिध्धान्तनकूं
कोर्ट में समझाये। और सब कुशलता है।
प्रत्युत्तर जोधपुर ही लिखें और भाई फोन
में बात करना हो तो नंबर ~~कृप~~ भेजदें तो
जैसा उचित समझें। चरण भेट करावें
फैसला आपने भेजे सो ही कु कोर्ट का न?

चि. हरेरायजी
सिवाय सब बालक
सबी कूं नमस्कार।

शाषीत
गो. कृ. [illegible]

॥ श्रीमद्वल्लभप्रभु विजयते ॥

गौस्वामी अनिरूद्धलालजी

ठे. मोटी हवेली.
मांडवी-कच्छ
३७० ४६५ (गुजरात)
दिनांक :

२०, किरण सोसायटी,
दि.२५-१०-८६ हालोल. (पंचमहाल जिला)
३८९ ३५० (गुजरात)
फोन : पी. पी. ३११

समादरणीय गोस्वामि
श्रीश्याममनोहरजी श्रीरघुनाथलालजी श्री किशोरचन्द्रजी

आपका पत्र दि. २२ अक्टूबर १९८६ को लिखा (रजिस्टर्ड) प्राप्त हुवा। साथमें भेजी—

१ हिन्दू पिटिशन की नकल
२ संयुक्त घोषणा पत्र का प्रारुप
३ गो.श्रीगोविंदरायजी (पोरबंदर) तथा गो.श्रीबालकृष्णजी का पत्र प्राप्त हुवे।

बंबई में दि. ६ अक्टूबर १९८६ को हुई गोस्वामि महानुभावों की मिटिंगमें मैं उपस्थित नहीं हो सका था अतः इस पत्र के द्वारा_ शुध्दाद्वैत-पुष्टि भक्ति-सम्प्रदाय प्रवर्तक-महाप्रभु-श्रीमद् वल्लभाचार्य-वंशज - गोस्वामिओं के- संयुक्त-घोषणा-पत्र का स्वागत करताहूं एवं मेरी स्वीकृति प्रदान करता हुं।

श्रीमहाप्रभु आपको इस महान सत्कार्य के लिये सामर्थ्य एवं सफलता प्रदान करें

भवदीय
गो. अनिरुद्ध

गो.श्रीबालकृष्णजी का पत्र दि. २२-१०-८६ [illegible] प्राप्त हुवा है। वे लिखते हैं की - "उक्त निवेदन ना (४) मां पाना १८ उपर लीटी २१-२२ मां जणाववानु छे के - विवादग्रस्त सांप्रदायिक...... [illegible] आ एक वाक्य सिवाय मारी संमति नथी आ सिवाय आखुं लखाण योग्य छे. (१)(२)(३) निर्णयो साथे पूर्ण सहमत छुं [illegible] टेको आपवा [illegible] छुं. — ये मात्र जानकारी के लिये लिखा है।

Shri Madanmohan Mandir Trust Fund
15, EKAMBARESHWAR AGRAHARAM,
MADRAS-600 003

PHONE : 37578

BOARD OF TRUSTEES

Office Bearers :

President :
SRI MADHUSUDAN GOSWAMI

Secretary :
L. B. PUROHIT

Treasurer :
N. H. SHAH

Members :
Sri. J. Vittal Doss
Mrs. Padma Goswami
Sri. Ramesh Sayani

Ref :

Date 30/10/1986.

पु. श्रीश्यामू काका,

प्रणाम,

अत्र कुशलम् तत्रास्तु। जूनागढ़ हवेली के केस के कागज प्राप्त हुए। छः अक्तूबर की मीटिंग में उपस्थित न होने की क्षमा चाहता हूं। उच्चतम न्यायालय में की जाने वाली कार्यवाही में मै आपके साथ हूं। जो भी खर्च वगैरह आयेगा उसमें भी मै आपका सहयोगी रहूंगा। आप जब भी मुझे इस सन्दर्भ में लिखेंगे मै आपकी हिदायत के अनुसार राशि भेज दूंगा। संयुक्त घोषण पत्र की सर्व बातों में मेरी स्वीकृति है।

शेष कुशल।

आपका

गो. मधुसूदन
30/10/86

॥ श्री गोकुलेन्दुर्जयति ॥

गोस्वामी गिरधर
“शुद्धाद्वैत पञ्चमपीठ”
पोस्ट-कामां ३२१ ०२२
(जिला-भरतपुर-राजस्थान)

दूरभाष : ३८
तार : पञ्चमपीठ

७/११/८६

श्रद्धेय दादा,

सादर नमः। आप द्वारा प्रेषित Re-Petition और घोषणापत्र का प्रारूप प्राप्त हुआ। उस सम्बन्ध में मेरी सम्पूर्ण सहमति है - (श्री गोविन्दरायजी एवं श्री बालकृष्णलालजी की सहमति भी यही है)। अन्य क्या कार्यवाही हुई है - कृपया अवगत करावें। यदि कुछ काम हो तो अवश्य लिखें।

मेरा इस सम्बन्ध में M.M. Tiwari, Jaipur से भी बात विस्तार से [illegible] है - आपकी इस बारे में क्या राय है - लिखेंगे।

श्री भाभी को प्रणाम एवं बच्चों को

स्नेहाशीः।

— शेष भगवत्कृपा

[illegible]

विजयंते श्री श्याम मनोहरः प्रभुः ॥ विजयंते श्री मदनमोहनः प्रभुः ।

गोस्वामी श्री वृजभूषणलालजी महाराजश्री

(चोपासनी)

जामनगर फोन नं. २३१२ जोधपुर (राजस्थान) फोन नं. २१२३०

मोटी हवेली,
जामनगर

दाउजी मंदिर
जोधपुर

→ १-११-८६

स्वस्ति श्रीमत्सु आदरणीय चि. श्याममनोहरजी
महोदयेषु गो. व्रजभूषणस्य शुभाशिषः व। मिहा
परञ्च इत्यादि।

आपका पत्र दिनांक २३-१०-८६ को लिखा- मिला। तथा सुप्रीममें दीजानीवाली याचिका भी दिल्ली श्रीमत्पाद वंशज संयुक्त घोषणपत्र प्राप्त हुआ। दि. २६-१० -को मैंने पत्र लिखा था आपको मिला होगा हमारा इसमें पूरा सहयोग होगा। तनमनधन से जो भी आपको आवश्यक हो वह सुखेन लिखें हम अभी चोपासनी में ही हैं। सुप्रीममें याचिका कब होगी सात जजोंकी बेन्चमें कौनकौन थी हुआ होगा कृपया विवरणात्मक पत्र लिखें ताकि सभी- पोइन्ट स्पष्ट हो सकें। हमारे सभी चि. बालक इसकार्य में सहयोग करनेको तैयार हैं। और सब कुशलता है। प्रत्युत्तर शीघ्र लिखें।

आशीष गो. व्रजभूषणलाल

॥ श्री गोपाललालो जयति ॥ ॥ श्री महाप्रभुर्जयति ॥

गोस्वामी श्री गोविंदलालजी महाराज

पत्र व्यवहारका पता:—

श्री गोपाललालजीका मन्दिर
श्रीमद् वल्लभाचार्य मार्ग,
कडी (उत्तर गुजरात) पीन 382715
☎ नं. ३१९

श्री यमुनासदन
34/3114
बीडनपुरा, करोलबाग न्यु दिल्ही नं. ५
☎ 576451 पीन 110005

श्री महाप्रभुजीका बड़ा मन्दिर
पाटनपोळ, कोटा (राजस्थान)
पीन 324006

16.11.1986

समादरणीय श्री श्याम मनोहर जी,

आपका दिनांक अक्तूबर २३, १९८६ का साइक्लोस्टाइल्ड पत्र ग्रन्थ विवरणों के साथ प्राप्त हुआ। आपको विदित ही है कि हमारा स्वास्थ्य जरा नरम रहता है। इस कारण से हमारे बाबा आपके पास उपस्थित हुए थे तथा आपकी विचारधारा से हमारी ओर से एवं अपनी उनकी ओर से सहमत हुए थे।

फिर भी इस पत्र द्वारा हम अपनी ओर से आपके सम्प्रदाय विषयक इस कार्य की प्रशंसा करते हैं तथा सहमति प्रदान करते हैं।

इस कार्य की प्रगति आप हमें सूचित करते रहेंगे ऐसी आशा है।

ગો. ગોવિન્દલાલ

શ્રીહરિ:

પ્રેષક -
ગો. મથુરેશ્વરજી (સુરત-વડોદરા)

વડોદરા
૨૬ - ૯ - ૮૬

ગો. શ્રીશ્યામમનોહરજી,

સપ્રેમ નમસ્કાર.

અપરંચ : આપના દ્વારા પ્રેષિત ટાઈપ કરાવેલ તા. ૧૬-૯-૮૬નો પત્ર પર ગુજરાત હાઈકોર્ટના ફેંસલા-ચુકાદા અંગેની પ્રશ્નાવલી ગઈકાલે પાછા ઘરે આવી જતાં પત્ર પ્રાપ્ત થયો. વાંચી વિગત જાણી છે.

આપની અને આપશ્રીઓની ખૂબજ મહેનતથી કોર્ટ અંગેનો ચુકાદો અનુકુળ આવ્યો અને આ માટે આપ લોકો ખૂબજ ધન્યવાદાર્હ છો; અને સાથે કોર્ટે, મંદિર અંગે જુનાગઢના ચુકાદાને માન્ય રાખી સંપ્રદાય અને ગો. બાળકો પર કુઠારાઘાત કર્યો છે. તે ખૂબજ ખેદજનક છે. આ અંગે આપના [illegible] પાક્ષિકપત્રમાંની ચેતવણી ઘણીજ સામયિક છે. જરૂર વિચારણીય છે. તો આ અંગે આપ લોકો મુંબઈમાં દશેરા પછી મિટીંગ બોલાવી રહ્યા છો તે આવકારદાયક છે. અમો તેમાં ઉપસ્થિત રહીશું. તો અગાઉથી તારીખ સ્થળ વિ. ની સૂચના પાઠવશો.

વળી આ અંગે હવે અમારે પોતે શું કરવાનું જણાય છે તે જણાવશો. હાલ મારો મુકામ અહીંયાજ છે.

ભવદીય:

चर्चासभा की समापनघोषणा के लिये विमर्श करते हुये गोस्वामी हरिरायजी

गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते
समानो मंत्र: समिति: समानी समान मन: सह चित्तमेषाम
समानं मंत्रमभि मंत्रये व समानेन वो हविषा जुहोमि
समानी व आकूति: समाना हृदयानि व:
समानमस्तु वो मनो यथा व सुसहासति
। ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति ।

: संवाद स्थापक मंडल :
(बायेंसे दायें) गो. मनोज, गो. पियूष, गो. वल्लभ, गो. पंकज, गो. शरद

संवाद स्थापक मंडल द्वारा मंचत्याग तथा अन्य अभ्यागत महानुभाव

अभ्यागत महानुभाव गो. मथुरेशजी, गो. रसिकरायजी,
गो. बालकृष्णजी, तथा गो. कल्याणरायजी

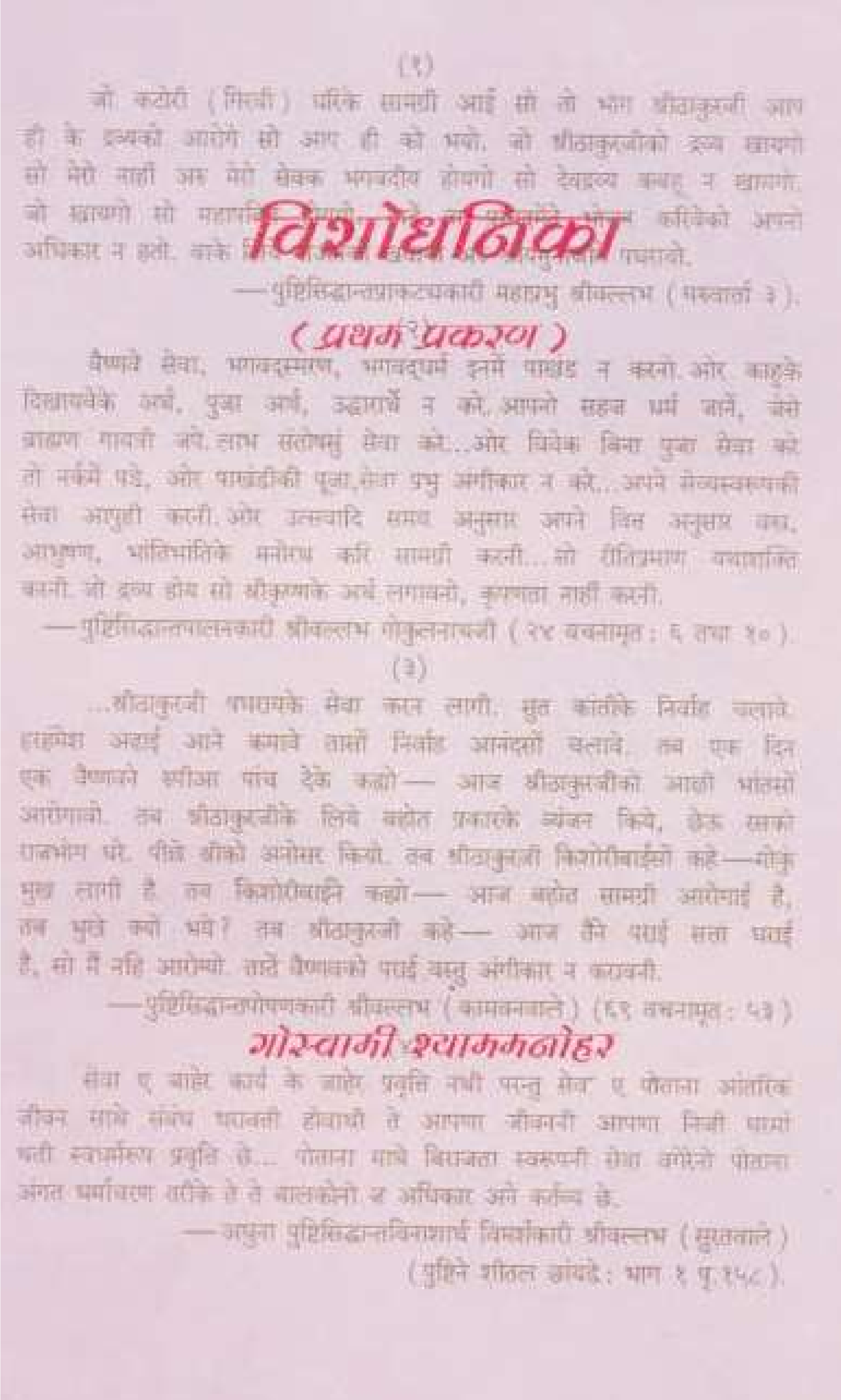

(१)

जो कटोरी (मिश्री) धरिके सामग्री आई सो तो भोग श्रीठाकुरजी आप ही के द्रव्यकी आरोगे सो आप ही को भयो. जो श्रीठाकुरजीको द्रव्य खायगो सो मेरो नाहीं अरु मेरो सेवक भगवदीय होयगो सो देवद्रव्य कबहू न खायगो. जो खायगो सो महा[illegible] करिवेको अपनो अधिकार न हतो. याके [illegible] पधराये.

—पुष्टिसिद्धान्तप्राकट्यकारी महाप्रभु श्रीवल्लभ (घरुवार्ता ३).

विशोधनिका

(प्रथम प्रकरण)

(२)

वैष्णवे सेवा, भगवद्स्मरण, भगवद्धर्म इनमें पाखंड न करनो. और काहूके दिखायवेके अर्थ, पूजा अर्थ, उद्धारार्थे न करे. आपनो सहज धर्म जाने, जैसे ब्राह्मण गायत्री जपे. लाभ संतोषसुं सेवा करे...और विवेक बिना पूजा सेवा करे तो नर्कमें पड़े, और पाखंडीकी पूजा, सेवा प्रभु अंगीकार न करे... अपने सेव्यस्वरूपकी सेवा आपुही करनी. और उत्सवादि समय अनुसार अपने वित्त अनुसार वस्त्र, आभूषण, भांतिभांतिके मनोरथ करि सामग्री करनी...सो रीतिप्रमाण यथाशक्ति करनी. जो द्रव्य होय सो श्रीकृष्णके अर्थ लगावनो, कृपणता नाहीं करनी.

—पुष्टिसिद्धान्तपालनकारी श्रीवल्लभ गोकुलनाथजी (२४ वचनामृत : ६ तथा १०).

(३)

...श्रीठाकुरजी पधरायके सेवा करन लागी. सुत कांतिके निर्वाह चलावे. हमेश अढाई आने कमावे तामें निर्वाह आनंदसों चलावे. तब एक दिन एक वैष्णवने रुपीआ पांच देके कह्यो— आज श्रीठाकुरजीको आछी भांतसों आरोगावो. तब श्रीठाकुरजीके लिये बहोत प्रकारके व्यंजन किये, छेऊ सबको राजभोग धरे. पीछे श्रीको अनोसर कियो. तब श्रीठाकुरजी किशोरीबाईसों कहे—मोकुं भूख लागी है. तब किशोरीबाईने कह्यो— आज बहोत सामग्री आरोगाई है, तब भूखे क्यों भये? तब श्रीठाकुरजी कहे— आज तैंने पराई सत्ता धराई है, सो मैं नहि आरोग्यो. तातें वैष्णवको पराई वस्तु अंगीकार न करावनी.

—पुष्टिसिद्धान्तपोषणकारी श्रीवल्लभ (कामवनवाले) (६१ वचनामृत : ५३)

गोस्वामी श्याममनोहर

सेवा ए बाहेर कार्य के जाहेर प्रवृत्ति नथी परन्तु सेवा ए पोताना आंतरिक जीवन साथे संबंध धरावती होवाथी ते आपणा जीवननी आपणा निजी धर्मनी एवी स्वधर्मरूप प्रवृत्ति छे... पोताना माथे बिराजता स्वरूपनी सेवा वगेरेनो पोताना अंगत धर्माचरण तरीके ते ते बालकोनो ज अधिकार अने कर्तव्य छे.

—अधुना पुष्टिसिद्धान्तविनाशार्थ विमर्शकारी श्रीवल्लभ (सूरतवाले)
(पुष्टिने शीतल छांयडे : भाग १ पृ.१५८).

प्रकाशक-प्राप्तिस्थल :
गोस्वामी श्याममनोहर
६३, स्वस्तिक सोसायटी,
४था रास्ता, जुहु स्कीम,
पारले, मुंबई-४०००५६.

प्रति : ५०००

प्रकाशनवर्ष : वि.सं.२०४९

श्री पी.कुंभनानीभाईके आर्थिक सहयोगसे
तथा
चि. असित, चि.विपुल तथा चि.मनीष के मुद्रणोपयोगी सहयोगसे

निःशुल्कवितरणार्थ

मेरे दादाजी (नित्यलीलास्थित गोस्वामी श्रीदीक्षितजी महाराज)के मुखसे
मैंने प्रमेयरत्नार्णव, सव्याख्य षोडशग्रन्थ, अवतारवादावलीके प्राय: सभी
वाद तथा अंशत: निबन्ध-भाष्यादि ग्रन्थोंका अक्षरश: पांक्तालापनकी
प्रक्रियासे श्रवण-मनन किया था. वह मेरे प्रति उनकी सहज कर्तव्य-
बुद्धिप्रेरित वात्सल्याभिव्यक्ति थी. ऐसी कि उसके बारेमें मुखरित
होना भी अनावश्यक ही है. फिर भी वक्तृत्व-पाण्डित्य-
निरुपधि-भगवद्भजन-भगवत्कथा-रूप आचार्योचितधर्मके
अक्षुण्ण निर्वाहक प्रात:स्मरणीय नित्यलीलास्थित
श्रीगोविन्दरायजी (सुरत) फूफाजीके यादृच्छिक
सान्निध्यमें मैंने श्रुताधीत सिद्धान्तोंके दर्शन-
निदिध्यासनका दुर्लभ लाभ यदा-कदा प्राप्त
किया था. आज उन्हीं दोनों गुरुचरणोंको
मैं मेरा यह ग्रन्थ समर्पित करता हूं,
साभिवन्दन!

*

विनीत

गोस्वामी श्याममनोहर

अनुक्रमणिका

आमुखदर्पण २६३-२८५

इसके अन्तर्गत आलोच्य 'विमर्श'ग्रन्थके लेखकोंकी पूर्वधारणा, पूर्वस्वीकृतिओं तथा पूर्वाचरणों की पृष्ठभूमिमें अधुना प्रकटित ग्रन्थकी एकवाक्यताकी परीक्षा की गई है.

सेवाप्रकरण २८६-३५८

(अ) पुष्टिमार्गीय भगवत्सेवाका प्रामाणिक स्वरूप : श्रीमहाप्रभुविरचित सिद्धान्तमुक्तावलीस्थ वचनके आधारपर 'विमर्श'की विशोधनिका

(यय) सिद्धान्तमुक्तावलीकारिकाओंके अष्टधा विभागपूर्वक श्रीप्रभुचरणविरचित विवृत्तिका आधार लेकर 'विमर्शो'क्त अपसिद्धान्तपूर्ण विवृति-व्याख्याकी विशोधनिका. इसी तरह वित्तदान तथा वित्तपरिग्रह के अनेकविध शास्त्रीय स्वरूपोंकी विवेचनाके सन्दर्भमें सेवार्थ वित्तदान तथा सेवार्थ वित्तपरिग्रह के 'विमर्शो'क्त अपसिद्धान्तोंी विशोधनिका

(ययय) उल्लिखित अष्टधा विभागोंपर प्रभुचरणोत्तरकालीन विभिन्न व्याख्याकार, नामतः, श्रीगोकुलनाथजी, श्रीकल्याणरायजी, श्रीपुरुषोत्तमजी, श्रीवल्लभजी, श्रीव्रजनाथजी, श्रीलालुभट्टजी, श्रीद्वारकेशजी, श्रीविट्ठलरायजी, तथा श्रीनरसिंहलालजी द्वारा की गई व्याख्याओंके आधारपर 'विमर्शो'क्त अपसिद्धान्तोंकी विशोधनिका

(IIII) उपसंहार

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।।

आमुख–दर्पण

स्वेषु पुष्टिकरं कारादैत्यबुद्धितमस्करम् ।
नमस्करोमि तं श्यामं सुन्दरं मत्प्रियंकरम् ।।

(१) सेवोपदेशदीक्षा (२) सेवास्वरूप (३) सेवाप्रदर्शन (४) सेवाप्रयोजन (५) सेवास्थल (६) सेव्यस्वरूप (७) सेवार्थ आजीविका (८) सेवाकर्ता–सेवापरिचारक (९) सेवापदेष्टा (१०) भागवतकथा (११) स्वसेव्यस्वरूप–प्रसादग्रहण (१२) तीर्थपर्यटन (१३) आचार्यवचनाशय–निर्धारणप्रकार.

ये वे मुद्दे हैं जिनपर दि. १०–१३ जनवरी ९२ विश्वकर्मा बाग पार्ले, मुंबई में आयोजित पुष्टिसिद्धान्त–चर्चासभामें परिचर्चा होनी थी. एतदर्थ स्वमार्गीय मूलग्रन्थोंमें से सभावानुवाद 'सिद्धान्तवचनावली' विचारार्थ प्रस्तुत की गई थी. प्रदत्त भावानुवादके समर्थनमें मूलाचार्यवचनसे प्रारम्भ कर प्राचीन ग्रन्थकारों तथा अर्वाचीन गोस्वामिमहानुभावों के भी विधानोंको 'अमृतवचनावली' नामसे संकलित किया गया था. आचार्यवचनाशय–निर्धारणप्रकारके अन्तर्गत प्रमाण्यव्यवस्था सुनिर्धारित थी की सर्वमूल श्रीमहाप्रभुसे प्रारम्भ कर अपनेसे एक पीढी ऊपर स्थित पूर्वजतक जिस अर्थमें एकवाक्यता मिलती हो उससे विपरीत अर्थोंके ऊहको प्रमाणिक नहीं माना जायेगा. अपनेसे पूर्वपीढीके भी किसी महानुभावका उनकी पीढीसे पूर्वके ग्रन्थकारोंके अभिप्रायसे विपरीत वचनको प्रमाणिक नहीं माना जायेगा. एतदर्थ मेरे द्वारा उपस्थापित भावार्थके बारेमें मेरेसे पूर्वापर पीढीके अनेक गोस्वामी महानुभावोंके विधानोंकी अमृतवचनावलीमें एकवाक्यता प्रदर्शित की गई थी. इसके अन्तर्गत पू.पा.गो.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्री (सूरत) तथा इनके पौत्र गो. श्रीबालकृष्णलालजी तथा गो. श्रीवल्लभरायजी के वचन भी संकलित थे..

... परंतु अक्षम्य कालक्षेप करवा देनेकी कूटनीतिके कारण उक्त चर्चासभा किसी निर्णायक बिन्दुतक पहोंच न पाई. फिर भी चर्चासभाके तीसरे दिन उस सभामें श्रीहरिराय (जामनगर) का अपना पक्ष क्या है यह वे स्पष्ट शब्दोमें घोषित नहीं करते तो मैं (गो.श्या.म.) भाग नहीं लूंगा, ऐसी स्पष्ट घोषणा करनेपर कई गोस्वामी महानभावोंके अघोषित प्रतिनिधि गो. चि. श्रीहरिरायजी (जामनगर) को सरोष-सखेद उनके द्वारा ग्रहीत पक्ष घोषित करने ही पडे ! चर्चासभाकी संपूर्ण कार्यवाहीकी उतारी गई ओडियो-विडियो केसेटके आधारपर तैयार किया गया विवरण 'विस्तृत विवरण' नामसे प्रकाशित करवा दिया गया. चर्चा जिस मुकाम तक पहुंच पायी उससे और आगे बढानेके लिए 'संक्षिप्त विवरण' नामसे एक पुस्तिका पहेले ही प्रकाशित करवा दी थी. अत: उन सारी बातोंका अब पिष्टपेषण अनावश्यक ही है.

फिर भी सिंहावलोकन विधिसे इनके उल्लेखका प्रयोजन यह है कि चर्चासभाके तीसरे दिन पक्षग्रहणकी प्रक्रियाके अन्तर्गत गो. श्रीहरिरायजीको जो भी कुछ स्वीकारना पडा वह उन्हे अपना अघोषित प्रतिनिधि बनानेवालों द्वारा अपनायी हुई भगवत्सेवाप्रणालीसे तथा स्वयं श्रीहरिरायजी द्वारा भी अपना रखी भगवत्सेवाप्रणाली से भी सर्वथा विरुद्ध जानेवाली बातें थी. लिहाजा रात्रिको संवादस्थापकमण्डलके अनेक सदस्योंकी उपस्थितिमें घरपर आकर गो. श्रीहरिरायजी परिचर्चाको स्थगित करनेका अनुरोध करते हुए समझाने लगे कि कैसे पूर्वनिर्धारित संवाद बोलकर सभामें मुझे तथा श्रीहरिरायजीको परस्पर सहमति प्रदर्शित कर देनी चाहिये. एतदर्थ मेरे अनुद्यत होनेपर श्रीहरिरायजी समझाने लगे कि कैसे स्वमार्गका अहित हो जायेगा. तिसपर मैने यह सुझाव दिया कि स्वस्वपक्षनिरूपण ही इस चर्चासभाका मुख्य प्रयोजन था, सो पूर्ण हो जानेके कारण चर्चा स्थगित की जाती है ऐसे घोषित किया जा सकता है. गो. श्रीहरिरायजीने इसपर, कोई उन्हें पराजित न मान ले यह आशंका प्रकट की. तिसपर मैं संवादस्थापकमण्डल और श्रीहरिरायजी एकमत हुए कि चर्चाको अनिर्णीत घोषित किया जाये. तदनुसार चतुर्थ दित घोषित भी करवा दिया गया था. निरर्थक भाषणोंके द्वारा चतुर्थ दिनकी कार्यवाहीको यथाकथंचित् सम्पन्न किया गया. परन्तु बादमें पू.पा. तिलकायत महाराजश्री

तथा पू.पा.गो.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्रीने संयुक्त हस्ताक्षरोंसे अंकित अभिनन्दनपत्र श्रीहरिरायजीको प्रदान कर दिया. उसमें यह उल्लेख किया गया कि श्रीहरिरायजीने सभामें जो सिद्धान्तपक्ष स्थापित किया वह उचित तथा भूरिश: प्रशंसनीय है!

इससे क्षुब्द होकर संवादस्थापकमण्डलके सदस्योंने उस सभाकी कार्यवाहीमें व्यवधानार्थ आपत्ति प्रस्तुत की, जब अभिनन्दनपत्र गो. श्रीवल्लभरायजी वीडियो केमेराके सामने पढ कर सुना रहे थे. बादमें श्रीहरिरायजीको घेर कर मेरे घर लाया गया. ऐसे नाटककी क्या आवश्यकता थी यह में पूछ पाऊं उससे पहले श्रीहरिरायजीने कहा कि पूर्वसूचना दिये बिना बडोने यह कृत्य किया है, जिनका अनादर वे कर नहीं पाये. तब मैने कहा कि कोई बात नहीं, यह अभिनन्दन किसी तरहकी निणार्यकताका प्रमाण नहीं है ऐसे आशयका पत्र हम दोनों तथा संवादस्थापकमण्डलके सदस्योंके भी हस्ताक्षरोंसे अंकित कर रख लेना चाहिये. वह तैयार किया गया और बादमें समाचारपत्रोंमें मुझे प्रकाशित भी करवाना पडा, क्योंकि इसके बाद अभिनन्दनपत्र पानेकी खुशीमें अभिनन्दनपत्र पानेकी सभाओंके सचित्र वृत्तान्त समाचारपत्रोंमें प्रकाशित होने लगे !

फिर तो सर्वथा निराधार अनर्गल और जनताको बरगलानेवाले निवेदनोंका समाचारपत्रोंमें तांता लग गया. विवशतया मुझे भी अपने स्पष्टीकरण देते रहनेको बाधित होना पडा. स्वाभाविकतया मार्गके हितैषियोंका इस आन्तरिक कलहको सार्वजनिक बनानेकी कूटनीतिसे दु:खी होना उचित ही था. वैसे सभीने मुझे ही प्राय: कोसा था कि वह सब मैं कर रहा था, क्योंकि पर्देके पीछे खेले जाते खेलसे सभीको अवगत हो जानेकी सुविधा उपलब्ध नहीं होती. कई लोग कहते हैं – इस विवादको आपसमें मिल–बैठ कर सुलझाना चाहिये.

परन्तु एक हकीकत यह भी है एतदर्थ सर्वप्रथम मैने पू.पा.गो.श्रीतिलकायत महाराजश्रीसे उनकी अध्यक्षतामें गोस्वामिओंकी एक बैठक आयोजित करनेकी विनती की थी, क्योंकि ग्रन्थस्थ सिद्धान्त कुछ और

हैं, व्यवहारमें कुछ और न्यायालय कुछ तीसरी ही बात हमारे सिद्धान्तोंके बारेमें मान कर चलते हैं. तिसपर पू.पा.तिलकायित महाराजश्रीने मुझे कहा कि नाथद्वाराके मुकद्दमेंके सुप्रीम कोर्टके फैसलेको बदल पाना अब शक्य नहीं है अत: जो-जैसा कुछ मिला है उससे वे सन्तुष्ट हैं; तथा मेरे जैसे गोस्वामिओंकी इसके कारण जो कठिनाईयां हैं उन्हें वे गोस्वामी स्वयं सुलझा पायेंगे ऐसी शुभकामना रखते हैं. इसके बाद स्वमार्गमें ज्ञानवयोवृद्ध पू.पा.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्रीकी अध्यक्षतामें सभी गोस्वामिओंकी एक बैठक बुलाई जाये ऐसी प्रार्थना पू.पा.महाराजश्रीसे मैने की. तदनुसार पू.पा.महाराजश्रीके यहां मुंबईके यदुनाथजीके मंदिरमें सभा आयोजित हुई. इस सभामें उपस्थित सभी गोस्वामिमहानुभाव एक संयुक्त घोषणापत्र द्वारा स्वमार्गीय भगवत्सेवा आदि विषयोंसे सम्बद्ध सिद्धान्त एवं परम्परा का सुस्पष्ट निर्देश दें यह प्रस्तावित था. किसी कारणवश यह शक्य न हो पाये तो एक वैकल्पिक उपाय सिद्धान्तविपरीत सेवा-मनोरथ-दर्शन-प्रसाद-कथाके आयोजनोंमें सहयोगी न बनने के आत्मनिर्णयको घोषित करनेवाला एक शपथपत्र भी तैयार किया गया था.

सखेद, परन्तु, यह स्वीकारना पडता है कि पू.पा. श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्रीने उस सभामें सम्मिलित होना न जाने क्यों उचित नही समझा ! उस गोस्वामिओंकी बैठकसे एक दिन पहले मेरे घरपर गो.श्रीकल्याणरायज पधारे थे उन्हें शपथपत्रका प्रारूप पढ़ कर मैने सुनाया था और सैद्धान्तिक दृष्टिसे जो अनुचित हो उसका निर्देश देनेकी विनती की. पर्याप्त धीरजसे पढ कर उन्होंने कहा कि सभी कुछ ठीक ही है. तब मैने अनुरोध किया कि आपके भी हस्ताक्षर इसपर हो जायें तो अच्छा! इतना सुनते ही श्रीकल्याणरायजी चुपचाप मेरे यहांसे खिसक गये. दूसरे या तीसरे दिन गोस्वामिओंकी बैठक सुरतवालोंकी पूर्वोक्त हवेलीमें हुई जिसमें श्रीकल्याणरायजी तो अनुपस्थित थे परन्तु श्रीबालकृष्णलालजी उपस्थित थे. उपस्थित गोस्वामिओंमें वयसा ज्येष्ठ श्रीगोविन्दरायजी (पोरबन्दर) थे सो उनकी अध्यक्षतामें बैठक सम्पन्न हुई. संयुक्त घोषणापत्रका प्रारूप पढ कर सुनाया गया, एक प्रति श्रीबालकृष्णलालजीको भी दी गई थी. तब सभी

महानुभावोंने निरपवाद सहमति प्रदान करते हुए अपने-अपने हस्ताक्षरोंसे उसे अंकित किया जिनमें श्रीबालकृष्णलालजी तथा उक्त बैठकके अध्यक्ष श्रीगोविन्दरायजी (पोरबन्दर) के हस्ताक्षर भी थे ही.

बादमें अध्यक्ष तथा स्वयं के हस्ताक्षरोंसे अंकित एक स्पष्टीकरणका छोटा पुर्जा श्रीबालकृष्णलालजी तथा श्रीकल्याणरायजी मेरे घरपर ले कर आये कि उक्त बैठकमें सुप्रीम कोर्टमें रीव्युपिटिशनमें जानेके एक निर्णयके अलावा अन्य किसी भी निर्णयके साथ उनकी सहमति न मानी जाये-ऐसा स्पष्ट उल्लेख था. लिहाजा संयुक्त घोषणापत्रगत अध्यक्ष महोदय तथा श्रीबालकृष्णलालजी के हस्ताक्षरोंपर मैने व्हाईटनर लगा दिया. तब श्रीबालुराजा और श्रीकल्याणरायजी ने विस्मय प्रकट किया कि कहीं हस्ताक्षर पुन: तो उभर नहीं आयेंगे! तब मैने आश्वस्त किया यदि उभरे भी तो उन्हें पुन:पुन: व्हाईटनरके प्रयोग द्वारा ढंकता रहूंगा! तिसपर श्रीबालुराजाने कई वैष्णवोंकी उपस्थितिमें कहा कि सिद्धांततया तो हमें सभी कुछ मान्य है परन्तु जब तक कोई दूसरा व्यवसाय चारपांच वर्षपर्यन्त जम नहीं जाये तब तक भगवत्सेवार्थ परवित्त न लेनेका दुराग्रह करना उचित नहीं होगा. यह सुन कर मैं तो समुपस्थित वैष्णवोंसमेत हतप्रभ हो गया ! श्रीकल्याणरायजीने, तिसपर, यह खुलासा दिया था कि ऐसा कहनेसे तो हम देवलक सिद्ध हो जायेंगे. सो श्रीबालुराजाने तब श्रीकल्याणरायजीको ही कैसे कहना यह सुझानेका आग्रह किया. तिसपर श्रीकल्याणरायजीने कहा कि ऐसे कहना चाहिये कि हमें तो सभी सिद्धान्त मान्य हैं परन्तु अपनी अवयस्कतामें क्योंकि हमारे पितामह (पू.पा.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्री) वणिक ट्रस्टियोंके मार्गदर्शनाधीन रहे थे अत: उनकी मनोवृत्ति सिद्धान्तशुद्ध नहीं है, परन्तु बडोंकी आज्ञाने विरुद्ध हम क्या कर सकते हैं ! तब श्रीबालुराजाने भी इस खुलासाके साथ अपनी सहमति-संतुष्टि प्रदर्शित की... बादमें निजहस्ताक्षरोपेत एक पत्र (दि.२२-१०-८६), संयुक्त घोषणापत्रगत ‘‘**बिना ब्रह्मसम्बन्ध दिये भी अपने घरमें भगवत्सेवाकी छूट तो है ही**’’ वाक्यके अलावा सारेके सारे संयुक्त घोषणापत्रगत विधानोंको योग्यतया मान्यता प्रदान करनेववाला, प्रेषित किया गया था. उल्लेखनीय है कि उसमें स्वगृहस्थित भगवत्स्वरूपकी

भावसंगोपनात्मिका अव्यावसायिक-अपौरोहित्यात्मिका स्वतनुवित्तपरिजन-विनियोगात्मिका सेवाका सिद्धान्त ही प्रस्तुत हुआ था. इस तरह बन्द दरवाजोंमें आपसमें विवाद सुलझानेके प्रयासोंकी प्रभावहीनताका सुस्पष्ट प्रमाण यह है कि अधुनाप्रकाशित सेवा-देवद्रव्यादिविमर्शमें इन्हीं दोनों श्रीबालकृष्णलालजी तथा श्रीकल्याणरायजी के नाम भी जुडे हुए हैं! अस्तु.

विश्वकर्मा बाग पार्ले-मुंबईवाली सार्वजनिकसभामें मेरेद्वारा प्रदत्त सिद्धान्त वचनावलीके भावानुवादके साथ अपनी असहमति तथा गोस्वामी श्रीहरिरायजीके द्वारा ग्रहीत पक्षकी भूरिभूरि प्रशंसा करनेवाले श्रीवल्लभरायजी मेरे खण्डनार्थ एक जबरदस्त ग्रन्थ लिखनेवाले हैं - लिख रहे हैं - लिख लिया है - प्रकाशित करवा देंगे - प्रकाशित हो गया है - पोद्दार हाउसमें अनावरण भी हो गया है--ऐसी कर्णोपकर्ण बातें सुनाई देती रही और ग्रन्थदर्शनलालसा मेरी तीव्रसे तीव्रतर होती चली गई. परसों (९-९-९२) के दिन सहसा वह जब मेरे हस्तगत हुआ तो मेरे विस्मय की कोई सीमा नहीं रही! क्योंकि इस ग्रन्थका वास्तविक कर्ता कौन है यह जान पाना भी दुष्कर परीक्षण हो गया !

मुखपृष्ठपर पू.पा.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्रीका नाम ऐसे छपा है मानों वे इस ग्रन्थके कर्ता हो. भीतर प्रकाशकीय-सर्वाधिकारसुरक्षापृष्ठपर पू.पा. महाराजश्रीके नामके साथ तीन और नाम जुडे हुए मिले. यथा (१) गो. श्रीबालकृष्णलालजी (२) गो. श्रीकल्याणरायजी तथा (३) गो. श्रीवल्लभराय दीक्षित. पू.पा.महाराजश्री नामके साथ प्रकाशित आमुख पढनेपर तो अचंभेमें डाल देनेवाली कई बातें सामने आती है. अतएव उस आमुखके कुछ उल्लेखनीय अंशोंपर दृष्टिपात कर लेना उचित होगा.

''...वर्तमान शताब्दीमें साम्प्रदायिक ग्रन्थोंके यथावत् अध्ययनाध्यापनकी परम्परा उच्छिन्नप्राय हो जानेसे तथा तत्त्वपक्षपाती विद्वानोंकी संगति दुर्लभ हो जानेसे अनेक विषयोंमें सन्देह एवं भ्रान्ति व्याप्त हैं. इस स्थितिको देखते हुए **सेवा-देवद्रव्य आदिके** विषयमें वास्तविक तथ्यको विदित कर उसे कहीं लिपिबद्ध कर देना आवश्यक प्रतीत हुआ. तदनुसार

हमने उपलब्ध प्रमाणोंके आधारपर इस ग्रन्थमें सेवा देवद्रव्यादि विषयमें विचारोंको स्वान्त:सुखाय लिपिबद्ध कराया है. उपलब्ध प्रमाणोंके आधारपर ग्रन्थका प्रणयन किया गया है. अत: अन्य प्रमाणोंके उपलब्ध होनेपर ग्रन्थके द्वितीय संस्करणमें आवश्यक परिवर्तन एवं परिवर्धन किया जा सकता है... हमारे पूर्वके लेखन एवं वक्तव्यको इस ग्रन्थके अविरोधसे ही ग्रहण करना चाहिये. यह हमारा निवेदन है.... ग्रन्थमें कुल ९ प्रकरण है – (१) कृष्णसेवा प्रकरण (२) देवद्रव्य प्रकरण (३) देवलक प्रकरण (४) ट्रस्ट प्रकरण (५) भावसंगोपन प्रकरण (६) हास ब्रह्मसम्बन्ध प्रकरण (७) मंत्रविक्रयाशंकानिरसन प्रकरण (८) गुरुशिष्यनियम प्रकरण (९) भागवतकथा प्रकरण. इनमेंसे प्रारम्भके पांच प्रकरण ग्रन्थके पूर्वाधमें आते हैं, अवशिष्ट चार प्रकरण उत्तरार्धमें आयेंगे...''

पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभाके तेरह मुद्दोंमेंसे कुछ कुछ मुद्दे यहां परिग्रहीत हुए है. जो छूट गये हैं उन्हें ''अप्रतिषिद्धम् अनुमतं भवति'' न्यायके अनुसार मान्य समझना अथवा ''अनावश्यकम् उपेक्षणीयं भवति'' न्यायके अनुसार उपेक्षणीय समझना यह भी समझमें नहीं आया. सन्देहनिराकरणार्थ प्रवृत्तिमें सन्देहजनक विधानोंका होना यानि स्पष्टताका अभाव होना या तो अनुभवहीनता या किसी दुराव-छिपाव की वृत्तिको प्रकट करता है.

पू.पा.महाराजश्री सम्प्रदायमें न केवल ज्येष्ठतम वयोवृद्ध अपितु विद्यास्वाध्यायतपोवृद्ध भी हैं ही. अत: कमसे कम मेरा अन्तर तो गवाही नहीं देता कि सेवा-देवद्रव्यादि जैसे महत्त्वपूर्ण तथा बहुधा चर्चित विषयमें साम्प्रदायिक ग्रन्थगत कोई भी प्रमाणवचन अपनी आयुके इस भागमें भी इस तरह अनुपलब्ध रह गये हों कि उन्हें विदित करके लिपिबद्ध कराने पडे! सो भी इस भीति और संशयात्मा के साथ कि अन्य प्रमाणवचन उपलब्ध होनेपर इस ग्रन्थमें परिवर्तन-परिवर्धन भी किया जा सकेगा!! अपने पूर्वलेख एवं पूर्ववक्तव्यों को इस ग्रन्थसे अविरोधसे लेनेके पू.पा.महाराजश्रीके निवेदनमें भी सुर-काकूकी जगह पूर्वकालीन लेखन-वक्तव्योंके बारेमें अज्ञान संशय भ्रान्ति अथवा मिथ्याभाषण का दैन्य और इस वक्तव्यमें अीनश्चयात्मकता अर्थात्

संशयात्मकताकी मनोवृत्ति इस आमुखके पू.पा.महाराजश्री द्वारा लिखित होनेके दावेपर एक प्रश्नचिन्हका धब्बा सा लगा देती है !

प्रकाशकीय पृष्ठपर प्रथम तीन नाम ही 'जी'कार सहित प्रयुक्त हुए हैं, केवल 'श्रीवल्लभराय दीक्षित' 'जी'काररहित प्रयुक्त हुआ है. कहीं इसीमें आमुखकी प्रामाणिकतापर लगे प्रश्नचिन्हका गूढ उत्तर तो ध्वनित नहीं हो रहा!

उल्लेखनीय है कि आमुखके ये शब्द – ''हमने लिपिबद्ध कराया है'' भी ग्रन्थकर्ता, ग्रन्थनिर्माणप्रेरक, अथवा निर्मितग्रन्थशुभाशंसक होनेमेंसे किस अर्थमें प्रयुक्त हुआ है यह भी स्पष्ट नहीं किया गया है.

मुखपृष्ठपर उल्लिखित पू.पा.महाराजश्रीके नामसे उनका ग्रन्थकर्ता होना ध्वनित हो रहा है. उसे मानकर चलनेपर पू.पा.महाराजश्रीके द्वारा नडियादके केसमें दी गई जुबानी तथा हालमें श्रीहरिरायजी(जामनगर)को दिये अभिनन्दनपत्रके कारण खडे होते नैतिक उत्तरदायित्वसे छटकनेकी कूटनीति प्रकट होती है. इसी तरह प्रकाशकीय पृष्ठोल्लिखित 'श्रीबालकृष्णलालजी – श्रीवल्लभराय' नामोंके साथ ग्रन्थकर्तृत्वको जोडनेपर इन दोनों महानुभावोद्वारा ''पुष्टिने शीतल छांयडे'' ग्रन्थोमें दिये उत्तरोंसे तथा संयुक्त घोषणापत्रके समर्थनार्थ गो. श्रीबालकृष्णलालजी द्वारा मुझे लिखे गये पत्रोंके नैतिक उत्तरदायित्वसे छटक जानेकी कूटनीति खेली जा रही है ऐसा लगता है !

बहुत सम्भव है कि हाल ही में जैसे नाशिकमें हमारे चचेरे भाई श्रीव्रजाधीशजीको उकसा कर उनसे स्वमार्गीय सिद्धान्तोंके विपरीत यद्वा-तद्वा अनगृल वक्तव्य दिलवा दिये गये और यहां पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा पार्ले-मुंबई में, जब इस तथ्यकी ओर ध्यान आकृष्ट किया गया, तब भरी सभामें यह कह कर श्रीवल्लभरायजी कतरा गये कि नाशिकमें वे न तो अध्यक्ष थे, न मुख्य वक्ता; और न प्रेरक ही ! अर्थात् ''वृद्धास्ते न विचारीयविषया:'' न्यायानुसार श्रीवल्लभरायजी तो केवल अहोवाददाता ही थे! अतएव कहा गया है : ''जनो विद्वानेक: सकलमभिसन्धाय कपटै: तटस्थ: स्वानर्थान् घटयति च मौनं च भजते.''

कर्तृगुप्तअप्रहेलिकायें ‘‘गोरीनखरसादृश्यश्रद्धया शशिनं दधौ इहैव गप्यते कर्ता वर्षेणापि न लभ्यते’’ तो काव्यकुशलता प्रकट करनेको लिखी जाती रही हैं परन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ ही कर्तृगुप्त लिखनेमें विमर्शकुशलताकी जगह भावकुटिलता अही अधिक प्रकट होती है.

पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा पार्ले-मुंबई में भी यही कुटिल नाटक खेला गया था. जान करके चर्चासभाके सारे नियमोंको ताकपर रख उन्हीं विषयोंको छेडा गया कि जिनका जवाब, पू.पा.महाराजश्री - जो सभास्थलके बाहर स्वेच्छया कारमें ही बिराज रहते थे - की मौजूदगीमें देने या न देने दोनों ही स्थितियोंका भरपूर लाभ उठाया जा सके, बडोंकी अवहेलनाका बहाना बना कर ! अन्यथा शान्त चित्तसे समझनेकी बात थी कि श्रीबालकृष्णलालजी, श्रीकल्याणरायजी तथा श्रीवल्लभरायजी को चर्चासभामें बेरोकटोक पधराकर अनर्गल बातें बोलनेसे भी रोका नही गया. स्वयं श्रीवल्लभरायजीको पू.पा.महाराजश्रीका लिखित वक्तव्य पढनेके व्याजसे संवादस्थापकमण्डलके नवयुवक सदस्योंके प्रति दिल खोल कर विषवमन भी करने दिया ही गया था. तो पू.पा.महाराजश्रीके सभा पधारनेसे और अधिक क्या होना जाना था? जबकि संवादस्थापकमण्डलके सदस्योंको तो पता भी नहीं था कि पू.पा.महाराजश्री कब पधारना चाहते थे और क्यों नहीं पधारे! वास्तवमें तो स्वयं श्रीकल्याणरायजीके कहनेपर पू.पा.महाराजश्री नहीं पधारे. उन्हें बोलनेके अवसरसे वंचित रखे जानेका रोषवेदनापूर्ण वक्तव्य, क्या कारण था कि स्वयं श्रीकल्याणरायजीको पढनेको नहीं दिया गया? और क्यों श्रीवल्लभरायजीको ही दिया गया? सो भी श्रीकल्याणरायजीसे कारण पूछे बिना ही!

मैने जब श्रीकल्याणरायजीसे अनर्गल विधान करते श्रीवल्लभरायजीको रोकनेको कहा तो उन्होंने मुझे कहा कि उन्हें जो कुछ कहना है, कह लेने दो, बादमें खुलासा कर दूंगा. क्या खूब यह साधी हुई मिलिभगत थी! सो श्रीकल्याणरायजीने बादमें खुलासा दे दिया कि समयाभाववश श्रीकल्याणरायजी पू.पा.महाराजश्रीको केवल न आनेकी ही सूचना दे पाये थे और कोई खुलासा दे नहीं पाये और श्रीवल्लभरायजी क्योंकि इस तथ्यसे वाकिफ नहीं थे सो... सो बस हो गया न सारा खुलासा!

प्रतीत होता है वही चक्कर यहां भी चलाया जाना है कि पू.पा. महाराजश्रीके नामपर ग्रन्थ छपा दो ताकि लोग इसकी महत्ता पू.पा. महाराजश्रीके नामानुसार स्वीकार लें ! भविष्यमें जब भी बात बदलनी हो तो ''आज्ञा गुरूणामविचारणीया'' भी कहा जा सकेगा. अन्यथा वृद्धजनोंकी अवहेलनाका बावेला तो चर्चासभाकी तरह मचाया ही जा सकेगा!

परन्तु भगवत्कृपासे पार्लेकी चर्चासभामें भी अधिकांश जनता स नाटकको बराबर भांप गई सो मनोवांछित सफलता नहीं मिली. अतएव अनिर्णीत चर्चासभामें सिद्धान्तपक्ष स्थापित करनेका निर्णायक प्रमाणपत्र श्रीहरिरायजीको प्रदान करवाकर प्रतिशोध लिया गया. उसमें भी ''तवार्धं च ममार्धं च'' की एक कूटनीति और वापरी गई थी. श्रीहरिरायजीके अनुज काशीकी गादीपर गोद गये हैं – जाहिर है कि षष्ठपीठकी दावेदा काशीकी भी गादी है. सो पू.पा.तिलकायत महाराजश्री तथा श्रीहरिरायजी दोनोंको, अभिनन्दनपत्रपर षष्ठपीठाधीश्वरकी हैसियतमें, सहहस्ताक्षरकर्ताके रूपमें फंसा लिया गया ! प्रकाशित ग्रन्थके १२६वें पृष्ठपर स्वीकारा गया है – ''...'निरूपधि' यह विशेषण दिया है, जिसका अर्थ है फलकी आकांक्षा एवं कपटता से रहित. श्रीहरिरायजीने भी कहा है 'तस्य सेवा प्रकुर्वीत यावज्जीवं स्वधर्मत: न फलार्थं न भोगार्थं न प्रतिष्ठाप्रसिद्धये' तदनुसार निरपेक्षरूपसे सेवा कर्तव्य है यहह निश्चित होता है.''

यह सद्योग्रहीत पक्ष भविष्यमें कितने समय तक टिकेगा यह भी देखनेका विषय है.

क्योंकि नडियाद केसकी जुबानी में पू.पा.महाराजश्रीने यह स्वीकारा था कि कांकरोली अर्थात् तीसरे घरके उपगृहमें श्रीगिरधरजीके वंशज हैं. ऐसी स्थितिमें ठाकुरजी श्रीबालकृष्णलालजीको षष्ठनीधि मान भी लिया जाये तो स्वप्रतिश्रुत तृतीय गृहान्तर्गत उप (३/२) गृहमें श्रीगिरधरजीकी वंशजताके पक्षको छोड कर षष्ठनीधिके दावेको अपनी षष्ठपीठाधीशतामें पर्यवसित करना औ उसकी प्रसिद्धिके लिये मिथ्या मनोरथ–स्तोत्रादिका आयोजन क्या 'प्रतिष्ठाप्रसिद्धये' षष्ठनिधिसेवन नहीं है? भूलना नहीं चाहिये कि प्रस्तुत

ग्रन्थके १६४वें पृष्ठपर यह स्वीकारा गया है कि अपने लाभ एवं अपनी पूजा के लिए की जानेवाली भगवत्सेवा ही धर्मशास्त्रत: निषिद्ध प्रकारकी देवलकत्वापादिका भगवत्सेवा है. इससे यह सिद्ध हो जाता है कि षष्ठनिधिकी सेवाका आधिदैविक लाभ लेनेके लिए सुरतकी हवेलीको 'षष्ठपीठ' नहीं कहा जा रहा है, परन्तु अपनी षष्ठपीठाधीशत्वेन पूजाकी अभिवृद्धिके लिए अपने सेव्यस्वरूपको 'षष्ठनिधि' कहा जा रहा है. अन्यथा मिथ्या मनोरथों-स्तोत्रोंद्वारा ''इतिश्रीयदुनाथगृहोद्भव'' विशेषणोंको प्रचारित करनेकी क्या आवश्यकता? नाशिकके आयोजनमें चि.श्रीवागीशकुमार भी आये थे उनके नामोंकी घोषणाके साथ 'तृतीयपीठ'का उल्लेख तो नहीं हो रहा था. पू.पा. महाराजश्रीकी विद्यमानतामें जबकि श्रीवल्लभरायजीके नामके साथ उनके षष्ठपीठके साथ जुडे होनेका उल्लेख निरन्तर होता रहा (मेरे पास इसकी कैसेट मोजूद है)! इससे सिद्ध होता हैं षष्ठनिधिके लिए षष्ठपीठाधीशता नहीं है बल्कि षष्ठपीठाधीशत्वेन पूजाभिवृद्ध्यर्थ स्वसेव्यस्वरूपकी षष्ठनिधिता घोषित की जा रही है.

जैसे पूजाभिवृद्ध्यर्थ भगवत्सेवनका यह नग्नताण्डव है, वैसे ही आजसे करीब सित्तर-अस्सी वर्षपूर्व आर्थिकलाभार्थ स्वसेव्यके षष्ठनिधित्वका झघडा जानबूझ कर खडा किया गया था. वह प्रमाण भी द्रष्टव्य है :

''सात स्वरूप निमित्ते काढेली सेवा श्रीठाकुरजीनी के गुसांईजी महाराज बालकोनी?''

लखतर दरबार श्रीकरणसिंहजी ठाकोर साहेब एक परम वेष्णव छे... राजकोटमां एकठा महाराजश्रीना दर्शनार्थे गयेला... जेमां तिलकायितश्री बिराज्या हता. आ मेलावडामां लखतरना दरबार श्रीकरणसींहजी ठाकोर साहेबे पण हाजरी आपी हती. आ प्रसंगनो लाभ लई पोताना मनमां घणा वखतथी धोळातो प्रश्न पुष्टिमार्गना श्रेष्ठमां श्रेष्ठ गादीनशीन तिलकायित महाराजने नम्रताथी अने बिनयथी विनंतीरूपे रजु कर्यो... 'सात स्वरूपनी सेवा अने भेट श्रीठाकुरजीनी के श्रीगुसांईजीना सात बालकोनी, वैष्णवोए समजवी?' हसता मुखारविंदथी अने मनप्रसन्नथी उत्तर तिलकायितश्रीए आाप्यो के 'ते सेवा अने

भेट सात स्वरूपो एटले श्रीगुसांईजीना सात लालजीओना घरनी गादीए बिराजता टिकेत श्रीगोस्वामी बालकोने अर्पण करवामां आवे छे तेम समजवुं. ए सेवा अने भेट श्रीठाकुरजीने अर्पण थयेली छे एम मानवुं नहीं.' (श्रीगट्टुलालाजी संस्था द्वारा प्रकाशित ''पुष्टिमार्गना वैष्णवोने खास, तेमज धर्मविलासीओने सामान्यपणे जाणवा अने मनन करवा जेवा धर्मना विषयोनुं टीप्पण अथवा संग्रहस्थान'' पृष्ठ ५२-५३ ले. प्रका. काशीदास नारणदास दलाल. प्रका. वर्ष : संवत् १९७४).

''आवी रीते हवेली अने तेमां बिराजता स्वरूपो अने तेने लागती स्थावर-जंगम मिलकतो महाराजोनी खानगी मिलकत होवाथी श्रीराजकोट मुकामे तिलकायितश्रीए आपेलो जवाब रास्त गणाय अने ते सेवा अने भेट स्वरूप-श्रीठाकुरजी-नी मानो के जेमने माथे ते बिराजता होय तेमनी मानो पण छेवटे सरवाळो एकसरीखो छे एम कही शकाय. परन्तु सुरतनी गादी साथे शेरगढवाळी गादीनी श्रीबालकृष्णजीने लीधे तकरार छे ते तरफ जोतां ए सरवाळो कामनो नथी. एमां तो गंभीर सवाल ए छे के जो ते ठाकुरजीना निमित्ते कढायेली होय तो ते ठाकुरजीनी कहेवाय अने ज्यां ते स्वरूप बिराजतुं होय त्यां वैष्णवोए मोकली देवी जोईए. पण जो सेवाभेट छठ्ठा बालकनी, उपर जणावेला तिलकायितश्री गोवर्धनलालजीना अभिप्राय प्रमाणे, थती होय तो ते शेरगढवाळा महाराजने छठ्ठा घरना तिलकायित तरीके तेमने मळवी जोईए...

सुरतवाला तरफथी घणी दलीलोमांनी एक एवी दलील होय एम जणाय छे के श्रीहरिरायजी महाराजे एक नमन श्लोकमां आ स्वरूपने छठ्ठा घरना श्रीजदुनाथजीना कही नमन कर्युं छे.... उक्त श्रीहरिरायजीना वहुजी महाराजे धोळ बनाव्या छे तेनुं एक लघुपुस्तक हमोने खास आ तकरार माटे वांचवासारु आपवामां आव्युं छे. तेमांना एक धोळमां लख्युं छे --'जोडी हाथने कहे छे जदुनाथजीरे लोल, मन वस्या छे हमारे तो श्रीनाथजी रे लोल, कृपानुग्रहथी श्री आप पधरावीआ रे लोल, श्रीबालकृष्णजी हमारे मन भावीआ रे लोल, त्यारे प्रसन्न थईने तात मन घणुं रे लोल, स्वरूप पधराव्युं श्रीकल्याणरायजी तणुं रे लोल...' आ धोळ सुरतवाला महाराजश्रीना घरमांथी गुजरातीमां प्रकट करवामां आव्युं छे... सुरतनी हवेलीमां सेवाविधिनुं एक

हस्तलिखित पुस्तक छे तेमां चैत्र सुद ६ ने दिवसे आ छठ्ठा लाल श्रीजदुनाथजीना उत्सवनो जणाव्यो छे. ते दिवसे केसरी वस्त्रो एवे प्रसंगे धराववा जोईए तेने बदले श्याम (काळी) चुंदडी धरावववी एवुं लख्युं छे. आ शुं सूचवे छे?... शेरगढवाला महाराजश्री गिरधरलालजी ए स्वरूप उपर कोई प्रकारनो हक के दावो धरावता नथी एम एमनुं खुल्ला शब्दोमां हमो प्रत्ये बोलवुं थयुं छे... एमनी तकरार एटली ज छे के तेओश्री जणावे छे के सात स्वरूपनी सेवा अने भेट वैष्णवो तरफथी मले छे तेमां छठ्ठा घरने मलती सेवा भेट लेवानो, तिलकायित तरीके हक तेमनो ज छे अने सुरतवाला महाराजश्रीने ते लेवानो हक नथी... सुरतमां हाल बिराजता महाराजश्री गो. श्रीव्रजरत्नलालजीना फई.. श्रीजसोदा बेटीजीए 'सात स्वरूपोनी कहाडी भेट तथा मनोरथ भेट नी व्यवस्था बाबत सप्रमाण विवेचन' ए नामनुं लघुपुस्तक संवत १९६५ मां छपावेलुं छे'' (वहीं पृष्ठ ५९-६३).

उस लघुपुस्तकके आद्यन्त पृष्ठोंकी प्रतिलिपि :

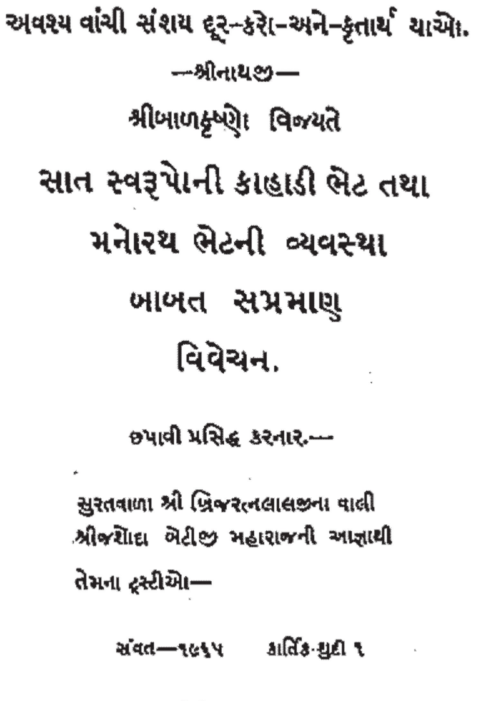
અવશ્ય વાંચી સંશય દૂર-કરો-અને-કૃતાર્થ થાઓ.

—શ્રીનાથજી—

શ્રીબાળકૃષ્ણો વિજયતે

સાત સ્વરૂપોની કાહાડી ભેટ તથા
મનોરથ ભેટની વ્યવસ્થા
બાબત સપ્રમાણ
વિવેચન.

છપાવી પ્રસિદ્ધ કરનાર.—

સુરતવાળા શ્રી બ્રિજરત્નલાલજીના વાલી
શ્રીજશોદા બેટીજી મહારાજની આજ્ઞાથી
તેમના ટ્રસ્ટીઓ—

સંવત—૧૯૬૫ કાર્તિક-શુદી ૧

પ્રિન્ટિંગ પ્રેસ કોલવાડી

અમૂલ્ય—

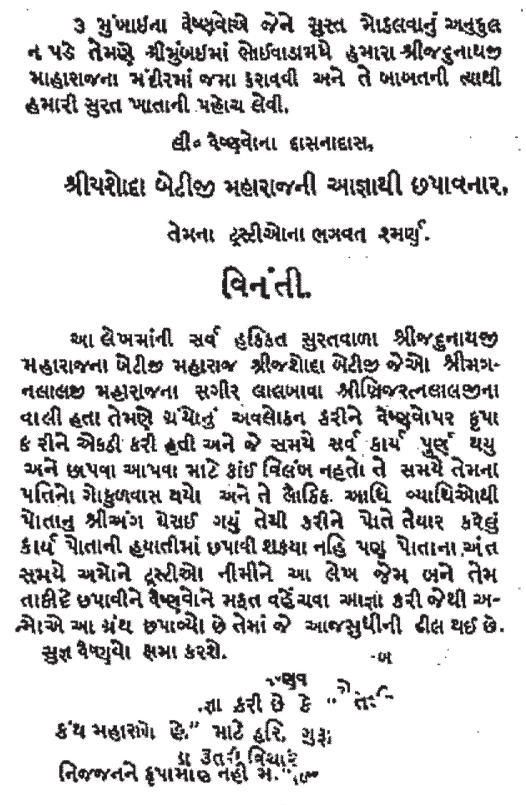
૩ મુંબાઈના વૈષ્ણવોએ જેને સુરત મોકલવાનું અનુકુલ ન પડે તેમણે શ્રીમુંબઈમાં ભોઈવાડામધે હમારા શ્રીજદુનાથજી મહારાજના મંદીરમાં જમા કરાવવી અને તે બાબતની ત્યાંથી હમારી સુરત ખાતાની પહોચ લેવી.

લી૦ વૈષ્ણવોના દાસનાદાસ.

શ્રીયશોદા બેટીજી મહારાજની આજ્ઞાથી છપાવનાર.

તેમના ટ્રસ્ટીઓના ભગવત સ્મર્ણ.

વિનંતી.

આ લેખમાંની સર્વ હકિકત સુરતવાળા શ્રીજદુનાથજી મહારાજના બેટીજી મહારાજ શ્રીજશોદા બેટીજી જેઓ શ્રીમગનલાલજી મહારાજના સગીર લાલબાવા શ્રીબ્રિજરત્નલાલજીના વાલી હતા તેમણે ગ્રંથોનું અવલોકન કરીને વૈષ્ણવોપર કૃપા કરીને એકઠી કરી હતી અને જે સમયે સર્વ કાર્ય પુર્ણ થયુ અને છાપવા આપવા માટે કાંઈ વિલંબ નહતો તે સમયે તેમના પતિનો ગોકુળવાસ થયો અને તે લૌકિક આધિ વ્યાધિઓથી પોતાનુ શ્રીઅંગ ઘેરાઈ ગયું તેથી કરીને પોતે તૈયાર કરેલું કાર્ય પોતાની હયાતીમાં છપાવી શકયા નહિ પણ પોતાના અંત સમયે અમોને ટ્રસ્ટીઓ નીમીને આ લેખ જેમ બને તેમ તાકીદે છપાવીને વૈષ્ણવોને મફત વહેંચવા આજ્ઞા કરી જેથી અમોએ આ ગ્રંથ છપાવ્યો છે તેમાં જે આજસુધીની ઢીલ થઈ છે. સુજ્ઞ વૈષ્ણવો ક્ષમા કરશે.

...ના કરી છે હે "...
ક઼ંથ મહારાજો છે." માટે હરિ. ગુરૂ
...ડા ઉતર્યા વિચારે
નિજજનને કૃપામાઠ નહી મ."
શ્રીજદુનાથજી જીવન જગ જાણી
આ રિ... ઘણાં પોળ કીર્તન.

आलोच्य ग्रन्थके पूर्वोद्धृत आमुखमें लिखा गया है - ''वर्तमान

शताब्दीमें साम्प्रदायिक ग्रन्थोंके यथावत् अध्ययनाध्यापनकी परम्परा उच्छिन्नप्राय हो जानेसे...''. इस शब्दावलीद्वारा पाठकके हृदयमें ऐसा आभास प्रकट करनेका प्रयास किया गया है कि आलोच्य ग्रन्थके विधान या निष्कर्ष साम्प्रदायिक ग्रन्थोंके यथावत् अध्ययनाध्यापनकी परम्परामें दीक्षित व्यक्तिद्वारा किये गये हैं. अत: हमें थोडा सा यह भी देखना है कि अन्य परम्पराओंको थोडी देरके लिए भूल कर भी केवल सूरतके घरसे भूतकालमें क्या-क्या विधान-प्रशंसा-निष्कर्ष प्रकट हुए थे! यदि उन सभीसे विरुद्ध विधान तथा निष्कर्ष इस ग्रन्थमें प्रकट हुए हों तो सिद्ध हो जाता है कि प्रस्तुत ग्रन्थमें भी जैसे ग्रन्थगत सिद्धान्त परम्परया अधीत या अध्यापित थे उनसे नितान्त विरुद्ध ही है !

नडियाद के केसमें पू.पा.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्री द्वारा दी गई साक्षी दि. २-४ नवंबर ४६ (का हिन्दी अनुवाद)

पू.पा.म.श्री : निवेदनमें स्वयंके स्वत्व की निवृत्ति नहीं होती होनेसे स्वयंके उपयोगमें उन वस्तुओंको लिया जा सकता है. निवेदनमें स्वत्वकी निवृत्ति होती नहीं यह बात श्रीकल्याणरायजी स्पष्ट रीतिसे समझाते हैं. अब जो प्रभुको अर्पित की गई वस्तु दान बन जाती होती तो हमें उन्हें उपभोगमें लानेकी आज्ञा श्रीमहाप्रभुजी दे नहीं सके (पृ.५) सम्प्रदायके अनुसार किये गये समर्पणमें अर्पण की गई वस्तु अर्पणकर्ताके पास रहती हैं.

वकील : आपके कथनानुसार वैष्णवद्वारा श्रीठाकुरजीको जो मिल्कत अर्पण की जाती है उसपरसे उस (वैष्णव) की मालिकी हट नहीं जाती. क्या यह सच है?

पू.पा.म.श्री : वैष्णवके घरमें बिराजते ठाकुरजीके बारेमें पूछा जा रहा है कि गुरुके घर बिराजते श्रीठाकुरजीको उद्देश्य करके यह प्रश्न है?

सेवा-देवद्रव्यादिविमर्श तथा से.दे.वि.सारसंग्रह कोडपत्रसहित.

फलाकांक्षा एवं कापट्य को छोडकर अपने समस्त द्रव्यका प्रभुके लिए विनियोग करना वित्तजा सेवाका स्वरूप है. तब जिस प्रकार भगवत्सेवामें विनियुक्त करने हेतु पतिद्वारा प्रदत्त द्रव्यसे सामग्री लाकर प्रभुको अंगीकार करनेमें पत्नीकी तनुजा सेवामें बाधा नहीं तथा पतिको भी उस द्रव्यको देनेमें उसकी वित्तजा सेवामें बाधा नहीं, उसी प्रकार एक वैष्णवद्वारा भगवत्सेवामें विनियुक्त करनेके हेतु दूसरे वैष्णवको सामग्री दिये जानेपर प्रभुद्वारा उस सामग्रीका अंगीकार होनेमें बाधा नहीं होनी चाहिये. तब किशोरीबाईकी वार्तामें यह उल्लेख कैसे आया? ''...यामें यह जताये जो वैष्णवको औरकी सत्ताकी सामग्री अपने श्रीठाकुरजीको आरोगावनी नाहीं. ओर कछू वैष्णवपेंते लेके श्रीठाकुरजीकों विनियग न करावनो, सो श्रीठाकुरजी अंगीकार न करे.''

उत्तर : ''तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा'' की व्याख्यामें समागत पंक्तियां मानसीकी साधिका तनजा, वित्तजा कौन है व कौन मानसीकी साधिका नहीं है यह बतलाने आयी हैं. किशोरीबाईकी

वकील : यह प्रश्न श्रीठाकुरजी वैष्णवके घर बिराजते हों या अन्य कोई वैष्णवके घर बिराजते हों, श्रीगोस्वामी बालकके यहां बिराजते हों, पुष्टिमार्गीय मंदिरोंमें बिराजते हों, अर्थात् जहांजहां पुष्टिमार्गीय स्वरूप बिराजते हों उनके बारेमें है.

पू.पा.म.श्री : गोस्वामी बालकोंके घरमें बिराजते स्वरूपोंको वै्णव अर्पण कर ही नहीं सकते. परन्तु गुरुओंको ही भेट दी जाती है. अत: वहां देनेवालेकी मालिकी रह नहीं जाती... और वहां 'अर्पण' नहीं परन्तु 'भेट' वापरा जाता है. खुदके घर (अर्थात् एक वैष्णवके घर) कोई स्वरूप बिराजता हो तो उस स्वरूपको अपने उपयोगमें लानेसे पहले अर्पणकर्ताका स्वत्व रहता है... 'भेट' और 'अर्पण' ये दोनों पृथक् हैं. भेट करनेपर देनेवालेका स्वत्व निवृत्त होता है और लेनेवालेका स्वत्व पैदा होता है. और समर्पण करनेपर देनेवालेका स्वत्व कायम रहता है. अत: दोनों एक अर्थमें कही दो बातें नहीं...

वकील : साम्प्रदायिक किसी भी मन्दिर कि जिसमें गो.बा. हों या न हों ऐसे किसी भी मंदिरमें श्रीठाकुरजीकी सेवाके लिए वैष्णव भेट धर सकते हैं या नहीं अथवा जिन मंदिरोंमें गो.बा. हों उन्हीमें नहीं दे सकते?

पू.पा.म.श्री : कहीं भी नहीं

(पृष्ठ : ४,८, तथा १८).

वार्तामें समागत पंक्तिया भगवानके लिये दूसरे द्वारा प्रदत्त सामग्रीको अंगीकार करानेके निषेधमें हैं, अत: दोनोंका प्रतिपाद्य विषय भिन्न है... यह नियम सार्वत्रिक है अथवा संकुचित? सार्वत्रिक यदि हो तो इसी प्रकार भगवत्सेवामें विनियुक्त करने हेतु गुरु शिष्यको द्रव्य नहीं दे सकते हैं तथा न तो गुरु शिष्यको द्रव्य दे सकते. पतिद्वारा प्रदत्त सामग्रीको पत्नी प्रभुको अंगीकार न करावे. पुत्र अपने पिताकी सम्पत्तिका प्रभुसेवामें विनियोग न करे इत्यादि आपत्तिया आती हैं... प्रकृतमें किशोरीबाई को जिस वैष्णवने ठाकुरजीके लिए सामग्री दी है वह किशोरीबाईके परिवारका है या शिष्य है इसमे कोई प्रमाण नहीं. (पृ.१०-११)

(यहां तुलनीय है कि परम्परया अधीत ग्रन्थभिप्राय में पू.पा.महाराजश्रीने समर्पण और भेटका पृथक्करण निरूपित किया था. एक वैष्णवद्वारा अपने गुरुको जब भेट की जाती है तब वहां शिष्यके स्वत्वकी निवृत्ति स्वीकारी थी. गुरुके ठाकुरजीको वैष्णव अर्पण नहीं कर सकते थे यह भी स्वीकारा था. अर्पण करनेपर स्वत्वकी निवृत्ति नहीं नहीं होती यह भी स्वीकारा था; जैसे पतिपत्नी या मातापिता-सन्तति के अविभक्त स्वत्ववाली सम्पत्ति अर्पणार्थ देनेपर स्वत्वनिवृत्ति नहीं होती. ये सारे पूर्ववर्णित सिद्धान्त परम्पराधीत थे अथवा अधुनाप्रकाशित सिद्धानत? यदि पूर्ववर्णित तो अधुनाप्रकाशित अपरम्पराधीत अपसिद्धान्त हैं. और यदि अधुनावर्णित सिद्धान्त हो तो यह कौन सी विच्छिन्न परम्परा है जो पुनरुज्जीवित हुई है! - इसका खुलासा देना पड़ेगा.

यह ठीक है कि पहले कही सारी बातोंको इससे अविरोधसे लेने की शर्त रखी गई है. परन्तु पूर्वस्वीकृति या इस ग्रन्थके बीच किसी एकको अज्ञान या स्वार्थ से प्रेरित स्वीकारना होगा. इसमें सच क्या यह तो ग्रन्थकार ही बता पायेंगे !

(गो.श्याम))

ता. २-१२-८० के दिन श्रीव्रजरत्नदास परीखकृत पुस्तकार्थ प्रदत्त आशीर्वचनमें पू.पा.महाराजश्री आज्ञा करते हैं - ''आ पुस्तक अमे साद्योपान्त वांची गया छीए अने अमने लाग्युं छे के पुस्तक सामान्य शिक्षित वैष्णवने पण लीलानुभावन करवा माटे अति उपयोगी थई पडशे. पुस्तकमां ज्यां आवश्यक सुधारा करवा जणाया ते अमे कराव्या छे. आवुं सुंदर पुस्तक प्रकट थवाथी अमने घणो आनन्द थाय छे.''

साम्प्रदायिक ग्रन्थोंके यथावत् परम्परयाध्ययनप्राप्त बोधके अनुसार सेवाद्वैविध्य है या सेवात्रैविध्य एतद्विषयक ऊहापोहके सन्दर्भमें यहां एक मजेदार वदतोव्याघात उभर कर आता है :

श्रीव्रजरत्नदासभाई परीखकृत पुस्तक, जो पू.पा.महाराजश्रीद्वारा अभिनन्दित है	सेवा-देवद्रव्यादि विमर्श तथा से.दे.विमर्श-सारसंग्रह कोडपत्रसहित
... पोतानुं घर व्रज-गोकुल छे अने घरमां ज्यां श्रीठाकोरजी बिराजे छे त्यां होंशे-होंशे पहोंची जई, श्रीयशोदामैयानी आज्ञा लई, श्रीबालकृष्णलालने लाड लडावीए छीए तेवी भावनाथी चित्तने सेवामां जोडवुं. अथवा नंदरायजीना आपणे पाडोशी छीए. श्रीयशोदामैयाए श्रीबालकृष्णने कृपा करीने थोडो समय खेलाववा आपया छे, तेमने आपणा घेर पधरावी लाव्या छीए - तेवा व्रजभक्तना भावथी चित्तने सेवामां जोडवुं... श्रीमहाप्रभुजी सेवाना मुख्य बे प्रकार बतावे छे (१) साधनरूपा सेवा (२) फलरूपा सेवा. साधनरूपा सेवा शरीर अने द्रव्यना विनियोगद्वारा थाय छे. ते जातेज गोपीजननी भावनाथी प्रेमपूर्वकअदीनताथी करवी जोईए. स्वमार्गीनी रीते करवी. कल्पित प्रकारे न करवी... आम शरीर अने द्रव्य द्वारा सेवा करतां करतां भगवत्कृपाथी ज्यारे मन एकार्ग थई तल्लीन थई जाय त्यारे मानसी सेवा जे फलस्वरूप छे ते आपोआप सिद्ध थाय छे. (पृ.११-१२)	ऐसी स्थितिमें फलरूपा और साधनरूपा इस प्रकारसे गणना करनेपर सेवा दो प्रकारकी होती है. मानसी, तनुजा और वित्तजा इस प्रकार सेवाकी गणना करनेपर सेवा तीन प्रकारकी होती है. ''उक्तसेवासाधने इतरे इत्याहुस्तदिति'' ऐसा श्रीप्रभुचरणोंने लिखा है... इस वाक्यमें द्विवचनका प्रयोग होनेसे तनुजा और वित्तजा इस प्रकारसे साधनरूपा दो प्रकारकी निश्चित होती है. अत: मानसी, तनुजा और वित्तजा इस प्रकार तीन प्रकारकी सेवा मन:कल्पित नहीं किन्तु प्रामाणिक है (पृ.८९). वित्तको वेतनके रूपमें देकर दूसरे पुरुषके द्वारा करायी गयी एक. वित्तको वेतनके रूपमें ग्रहण कर की हुई सेवा दूसरी. ''एतादृश्यौ ते तत्साधिके न''-ऐसी दोनों सेवायें मानसीकी साधिका नहीं. सारांश: क्रीत तनुजा और विक्रीत तनुजा मानसीके साधन नहीं यह कहना अभिप्रेत है. अतएव सेवाका मूल्य देकर करायी गयी सेवा द्रव्यदाताकी वित्तजा सेवाके अन्तर्गत होगी अत: वहांपर द्रव्यदाताको तनुजा सेवा करना आवश्यक है. (पृ.५-६).

इस तरह हम देख सकते हैं कि सन '८०तक सेवाके जो दो ही प्रकार वे कहनेको वैसे यहां तीन हुवे हैं परन्त शान्त चित्तसे विचारनेपर केवल तीन नहीं रह जाते हैं. यह कैसी वंचना स्वमार्गीय सिद्धान्तोंके साथे की जा रही है! यथा--

(१) केवल स्वतनु केवल स्ववित्त द्वारा सम्पन्न मानसीसाधिका सेवा (उदाहरणतया अधिकांश निष्ठाशील वैष्णवोंद्वारा अनुष्ठित).

(२) स्वतनुवित्तसहकृत परतनुद्वारा सम्पन्न क्रीता मानसीअबाधिका वित्तजा सेवा (उदा. सवसिद्धान्त-निष्ठाबोधरहित देवलकमोहित प.भ.धनिकों द्वारा अनुष्ठित).

(३) स्वतनुवित्तसहकृत परवित्तद्वारा सम्पन्न विक्रीता मानसीअबाधिका तनुजा सेवा (उदा. कतिपय गो.महाराजों तथा अबोध अकिंचन भावुक वैष्णवोद्वारा भी अनुष्ठित).

(४) स्वतनुवित्तासहकृत परवित्त-परतनुद्वारा क्रीता-विक्रीता मानसीअसाधिका नामैककरणिका सेवा (उदा. गो.बालकोंके नाममात्र स्वामित्ववाली - कलोल, भरुच जैसी सूरतकी - हवेलिओमें अनुष्ठित).

(५) परवित्तद्वारा सम्पन्न विक्रीता मानसीअसाधिका होनेपर भी अनिषिद्धा तनुजा सेवा (उदा. 'पुष्टिसिद्धान्तसंरक्षणशिरोमणि' त्वसाधिका!).

(६) परतनुद्वारा सम्पन्न क्रीता मानसीअसाधिका होनेपर भी अनिषिद्धा वित्तजा सेवा (उदा. देवलकव्यामोहित अधिकांश वैष्णव जनता जिसे आज परमधर्म समझती है).

इस तरह तीनकी जगह छह प्रकार की अनिषिद्ध सेवायें अब अकस्मात् परम्पराधीत-ग्रन्थ-निष्कर्षतया 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाण' हो रही हैं!

वैसे प्रात:स्मरणीय नि.ली.श्रीगोविन्दरायजी, जो स्वमार्गीय सिद्धान्तोंको निष्ठापूर्वक जीनेका एक मूर्तिमान आदर्श थे, उनके वचनामृत इस सन्दर्भमें अतीव मननीय हैं. वे आज्ञा करते हैं - ''पूर्ण पुरुषोत्तमका ही भजन

यह (स्वत: पुरुषार्थरूप) भक्ति है. इस लोककी या परलोककी किसी भी फलाशाके बिना प्रभुमें अपने चित्तको जोड़ देना, तत्प्रवण... श्रुतिमें किया गया है. ऐसी सभी श्रुतियोंके आशयको लेकर श्रीमहाप्रभुने सिद्धान्तमुक्तावलीमें 'कृष्णसेवासदा कार्या मानसी सा परा मता, चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्धयै तनुवित्तजा' इत्यादि का समावेश किया है. (श्रीगोविन्दप्रभुकृत २४ वचनामृतान्तर्गत ८वे वचनामृतका हिन्दी अनुवाद)

कहां तो फलांकाक्षारहितताके सन्दर्भमें तनुवित्तजा सेवाको निहारनेकी उनकी भक्तिमयी दृष्टि और कहां उनकेद्वारा सुपाठित होनेपर भी उनके ही आत्मजोंकी 'तनुवित्तजा'के दिव्यैक्यको भंग करके स्वसेव्य प्रभुकी सेवार्थ परवित्त ऐंठनेकी वकालतकी वृत्ति ! अस्तु भगवदिच्छा !

कुल मिला कर बात यही है कि अधुनाप्रकटित ग्रन्थोक्त बातें यदि परम्पराधीत सिद्धान्त होता तो श्री आर.के.भट्टकी 'श्रीमद् वल्लभाचार्यके दार्शनिक आचार की परम्परा' पुस्तकका पुन:प्रकाशन क्यों किया गया? वह भी श्रीगोविन्दप्रभु ट्रस्ट (सुरत) द्वारा 'उज्ज्वलमणि' तया प्रात:स्मरणीय नि.ली.श्रीगोविन्दरायजी द्वारा प्रशस्त होनेके उल्लेखके साथ क्यों यह पुस्तक प्रकाशित की गई? भट्टजीके इस पुस्तकको 'अत्युत्तम' कहकर बिरदानेवाले सुरतके घरके षष्ठपीठके दावेमें मौन रहनेवाले पू.पा.तिलकायतश्री को क्या खुश करने के लिए? क्या श्रीबालकृष्णजी-श्रीकल्याणरायजी-श्रीवल्लभरायजी अपने पितृचरणको परम्परया अधीत नहीं मानते? और यदि यह विरुद्ध न हो तो द्रष्टव्य है कि इस ग्रन्थके पृष्ठ ११८-११९ पर यह स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि सेवार्थ धन लेना (तनुजा सेवा) या देना (वित्तजा सेवा) दोनों ही वर्जित प्रकारकी सेवा है. गुरुके सेव्य स्वरूपको नहीं प्रत्युत गुरुको ही जो भेट धरनी हो सौ वैष्णवोंको धरनी चाहिये. सार्वजनिक देवालयके प्रकारसे अन्योंको दर्शन कराना इस ग्रन्थमें सिद्धान्तविरुद्ध बात मानी गई है. (द्रष्टव्य: पृष्ठ ७४-७५, ११२-११३ तथा ११८-११९)

अब परन्तु लगता है कि स्वजनक-श्रीगोविन्दप्रभुप्रशस्त 'उज्ज्वलमणि' उनके आत्मजोंकी धारणाके अनुसार धूलिधूसरित या

स्वार्थविरुद्धकर्दमलिप्त हो गई है. अन्यथा यह नयी परम्परा अकस्मात् कहांसे प्रकट हो गई? अन्यथा उनके तीनों आत्मज अपने उज्ज्वलमणिप्रशंसक पितृचरणकी परम्परासे विरुद्ध परम्पराके साथ अपना नाम कैसे जोड पाते!

अहमदाबादवाले प्रात:स्मरणीय नि.ली.श्रीरणछोडलालजीके वचनामृतोंका तो दो बार सुरतसे प्रकाशन हुआ, बावजूद इसके कि ४८४ तथा ४८७ वें वचनामृतोंमें स्पष्ट उल्लेख किया है कि "... अपने यहां भी सन्मुख भेट जो होती है वह देवद्रव्य है और उसे सामग्रीके काममें नहीं लाया जाता. श्रीगोकुलनाथजी और श्रीचन्द्रमाजीके घरमें तो अभी भी यह नियम पाला जा रहा है... हम श्रीनाथजीके सन्मुख जो भेट धरते है वह श्रीमहाप्रभुजीके पादुकाजीको धरते हैं तो भी उसे अलंकारादिमें वापरा जाता है, सामग्रीमें नहीं. सन्मुख भेट धरनेमें बहोत अनाचार होता है (४८४). श्रीठाकुरजीके निमित्त कुछ भी मांगना नहीं चाहिये या कुछ भी देना नहीं चाहिये. इस रीतिसे प्राप्त द्रव्य देवद्रव्य बनता है. श्रीठाकुरजी उसे अंगीकार नहीं करते अत: वह सामग्री महाप्रसाद बनती नहीं और लेनेवालेकी बुद्धि बिगडे बिना रहती नहीं (४८७)"

लगता है परम्परया अधीत सिद्धान्त इन वचनामृतोंके प्रकाशनके समय विस्मृत हो गये होंगें !

वैसे एक हकीकत यह भी है कि इन वचनामृतोंकी मूल प्रतिमें स्पष्टतम शब्दोंमे लिखा था : "छठ्ठे घरके श्रीकल्याणरायजी हैं. श्रीयदुनाथजीकी आसक्तिका यह स्वरूप है. और उन्होंने चुपचाप इनकी सेवा की थी. उन्होने श्रीबालकृष्णलालजीको नहीं स्वीकारे उसका कारण यह था कि यह बालस्वरूप है और रास(मण्डल) में उस स्वरूपकी स्थिति ही सम्भव नहीं, क्योंकि रासमें तो प्रौढ स्वरूपकी स्थिति ही सम्भव है. अब जो घर होता है वह बालकसे होता है श्रीठाकुरजीसे नहीं (६२)" सुरतके घरकी षष्ठपीठतया लाभपूजाभिवृद्ध्यर्थ क्योंकि स्वसेव्य श्रीबालकृष्णलालजीको षष्ठनिधि तथा स्वयंको 'श्रीयदुनाथगृहपरम्परोद्भव' कहा जा रहा है उसमें यह विधान आडे आ रहा था, सो प्रथम आवृत्ति इस अंशके निष्कासनके साथ

प्रकाशित करवायी गयी थी. बादमें जब 'पुष्टिमार्गीय पीठाधीश: स्वरूप और कर्तव्य' पुस्तकमें मैने सभी स्वमार्गियोंका इस छलकपटपर ध्यान आकर्षित किया तब द्वितीयावृत्तिमें इस वचनामृतको स्वस्थानच्युत करके परिशिष्टतया ग्रन्थान्तमें मुद्रित करवा दिया गया था. उल्लेखनीय, परन्तु, यही है कि परम्पराधीत सिद्धान्तनिष्कर्ष तब यदि ज्ञात थे तो अपनी असहमति प्रथमावृत्तिमें न सही द्वितीय संशोधित आवृत्तिमें तो प्रकट करनी थी! इससे सिद्ध होता है कि 'सेवा दे.द्र.विमर्श' ग्रन्थ परम्पराधीत सिद्धान्तबोधके आधारपर लिखा गया नहीं है.

हम कह चुके हैं कि संयुक्त घोषणापत्रमें तनुवित्तजैक्यका सिद्धान्त श्रीबालकृष्णलालजीने अपने हस्ताक्षरोपेत पत्र दि. २२-१०-८६ द्वारा मान्य किया था. इससे सिद्ध होता है कि तब तक श्रीबालुराजाका अध्ययन तथाकथित परम्पराके अनुसार नहीं हुआ होगा. अब, अर्थात् सन् '८६-९२ वर्षोमें परम्पराप्राप्त सिद्धान्तग्रन्थोंकी ग्रन्थिओंका निराकरण अकस्मात् दैवीवाणीके सदृश प्रकट हुई परम्परासे हुआ भी स्वीकार लें तो भी बात बनती नहीं है, क्योंकि हाल ही में गतवर्ष श्रीहरिरायजी(जामनगर)के द्वारा पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभामें परिग्रहीत पक्षोंको अभिनन्दनीय मानकर उन्हें प्रशस्तिपत्र प्रदान किय गया था. उनके द्वारा परिग्रहीत पक्षोंकी सूचिपर भी दृष्टिपात इस प्रसंगमें आवश्यक हो जाता है :

(१) पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तके अनुसार मानसीकी साधनरूपा जो सेवा उपदिष्ट हुई है वह एक तनुवित्तजा है या दो : (क) तनुजा (ख) वित्तजा हैं? -इस संशयमें त्रैविध्यपक्षको श्रीहरिरायजीने अधिकारिभेदवश मान्य किया था. अर्थात् उत्तमाधिकारी तनुवित्तजा है, मध्यमाधिकारी तनुजा या वित्तजा एवं जधन्याधिकारी लोकार्थी बनकर.

(२) भगवत्सेवा सेवाकर्ताकी मालिकीके घरमें ही करनी चाहिये. (ऐसी स्थितिमें वैष्णवोंद्वारा की जाती वित्तजा सेवाको स्वीकारनेपर उनका मालिकाना हक सूरत सदृश हवेलिओंपर स्वीकारना होगा अन्यथा स्वीकृत परिभाषाके अन्तर्गत वह सेवा ही सिद्ध नहीं होगी.)

(३) गोस्वामिओंके सेव्यस्वरूप स्वार्थ-परार्थ अर्थात् उभयार्थ होते हैं.

(४) पुष्टिमार्गीय सेवाकर्ता भगवत्सेवाद्वारा भेट या सामग्री उपार्जित कर सकता है या नहीं इस संशय में तथाभिनन्दित 'पु.सि.सं.शि.' श्रीहरिरायजीद्वारा ग्रहीत पक्ष यह था कि अधिकारिभेदवशात् उत्तमाधिकारी नहीं बनाता पर जधन्याधिकारी तो बनाता ही है. इस अधिकारीभेदके अन्तर्गत भी आजीविकातया भगवत्सेवा करनेवाला देवलक होता है यह भी स्वीकारा था ही. (जबकि अब इस नूतन पक्ष के अनुसार देवलक नहीं होता. ऐसी स्थितिमें वस्तुत: होता हो कि नहीं होता यह दूसरी बात है, कमसे कम एक वर्ष पूर्व परम्परया अधीत विषय या तो विस्मृत या अज्ञात था इसमें सन्देह नहीं. अन्यथा चि. हरिरायजीको तो अभिनंदित नहीं ही किया जाता. अथवा यह परम्परया अधीत सिद्धान्तमूलक निष्कर्ष न होकर स्वयं कही जधन्याधिकारी सिद्ध न हो जायें ऐसा प्रतिष्ठाहानिभीतिमूलक तो नहीं, साथ ही साथ आजीविकातया अनुष्ठित भगवत्सेवाद्वारा आर्थिक लाभके मोहपर भी काबू न पानेके कारण प्रकट हुआ पक्ष तो यह कहीं नहीं है!)

(५) स्वसेव्यस्वरूपप्रसादग्रहण विषयके अन्तर्गत तथाभिनन्दित 'पु.सि.सं.शि.' चि. हरिरायजीका पक्ष था कि सरकारी कानूनको स्वीकार भगवत्सेवार्थ पेम्फलेट-रसीदद्वारा परवित्तग्रहण देवलकत्वापादक होता है. (वह भी इस नूतन ग्रन्थ में छोडा गया है स्वार्थसंरक्षणार्थ!)

(६) आचार्यवचनाशय-निर्धारणप्रकारके अन्तर्गत जो प्रामाण्यव्यवस्था भी तदन्तर्गत तथाभिनन्दित 'पु.सि.सं.शि.' चि. हरिरायजीसे मैने पार्लेवाली सभामें यह पूछा था कि उन्हें पू.पा.म.श्रीके विधान प्रमाणतया मान्य हैं कि नहीं? क्योंकि स्वयं उन्हींके परिवारकी नडियादवाली हवेलीके केसमें एक मान्य विशेषज्ञकी हैसियतमें पू.पा.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्रीने गवाही दी थी!

पू.पा.महाराजश्रीसे वकीलने पूछा था--''किसी भी पुष्टिमार्गीय मंदिरमें वैष्णव श्रीठाकुरजीकी सेवा तथा नेगभोग के लिए तथा श्रीठाकुरजीकी सेवाके निर्वाहार्थ भेट इत्यादि देकर वित्तजा सेवा करता हो तो; और उस मंदिरमें तनुजा सेवा करता हो तो वह मंदिर पुष्टिमार्गीय नहीं है ऐसा आपका कहना है?'' इसपर पू.पा.म.श्रीने प्रत्युत्तर दिया था--''पुष्टिमार्गीय मंदिरमें वैष्णवोंद्वारा तनुजा या वित्तजा सेवा स्वतंत्र करनेकी कोई प्रक्रिया नहीं है और ऐसी सेवा की जाती हो तो उसे 'साम्प्रदायिक मन्दिर' नहीं कहा जा सकता.''

बिचारे तथाभिनन्दित पु.सि.शं.शि.की वाणी लडखडाने लग गई और अन्तमें ''मुझे इस बारेमें कुछ भी नहीं कहना है'' कहकर शाखाचंक्रमण करना पडा. यदि चर्चासभाकी पूर्वरात्रिको आदरणीय श्रीगोविन्दरायजी (पोरबंदर) के यहां श्रीकल्याणरायजी, श्रीबालकृष्णलालजीने अपने अघोषित प्रतिनिधितया जब चि. हरिरायजीको उपस्थापित करना चाहा था तथा चर्चासभाके संचालनके नियमोंमें संशोधन-परिवर्धनादि संवादस्थापकमण्डलद्वारा करवाये तब इतनी सूचना और दी होती तो यह हाल तो नहीं होता! क्योंकि स्ववचनगोरव या स्ववचनप्रामाण्य स्वयंको अनभीष्ट हो तो बिचारे 'पु.सि.सं.शि.' को चर्चामें वृद्धजनकी गौरवहानिकी भीतिसे लडखडाना तो न पडता! हकीकत परन्तु यही है कि तबतक परम्परया अधीत(!) सिद्धान्तबोधका उदय ही नहीं हुआ था.

'पुष्टिने शीतल छांयडे' में परम्परया अधीत जैसे सिद्धान्तोंका निरूपण हुआ है वह तो विमर्शविशोधनिका एवं क्रोडाक्रीडनकक्रीडाविभंग में यथावसर आगे चलकर निरुपित करेंगे ही.

कुल मिलाकर इन सभी मुद्दोंका गंभीर आकलन करनेसे मन:प्रत्यय नहीं होता कि मुखपृष्ठपर इंगित पू.पा.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्री इस ग्रन्थके कर्ता हों.

पूर्वमें भी 'कल्याणराय' समानार्थी 'खेमराज' छद्मनामसे अनर्गल बातें

परिपत्रोंद्वारा प्रकाशित करवाई गई तब भी मैने निवेदन किया था कि अधीत भ्रातृत्रयीको यह शोभा नहीं देता. परन्तु अब मेरी प्रार्थनाको स्वीकार कर के अपने मतको, यद्यपि स्पष्टकर्तृनाम्ना न सही फिर भी स्पष्टभाषामें, सो भी अतीव परिमार्जित शालीन तथा निर्वैयक्तिक भाषामें, ग्रन्थ प्रकट किया है वह वस्तुत: जितने भी अभिनन्दन दिये जायें उससे कुछ अधिक ही अभिननदनीयतासे मण्डित है--इसमें सन्देह नहीं.

इस आमुख-दर्पणमें या आगे भी जहां-कहीं मुझे वैयक्तिक सन्दर्भोंमें कुछ चर्चा छेडनेको बाधित होना पडा है या होना पडेगा उसके कारण मेरा मन भीतरसे अपराधबोधसे तो ग्रस्त हो ही रहा है तथा आगे भी होता रहेगा--इसमें संशय नहीं. पर ‘‘दूधका जला छाछको भी फूंक मारकर पीता है’’ वेसी ही कुछ मेरी भी मनोग्रन्थियां बंध गई है. अत: सभी सहृदय पाठक इस पर्देकी ओटमें खेले गये नाटकके विवरणको पढकर मेरे प्रति सहानुभूतिपूर्ण क्षमाभाव प्रकट करेंगे. मैं अपने बनते यथाशक्य निर्वैयक्तिक युक्ति-प्रतियुक्तियोंके निर्वैयक्तिक समाधान ही देनेका भरसक प्रयास करूंगा. फिर भी यत्र-तत्र होनेवाले स्खलनकी पूर्वक्षमायाचना मांगना चाहूंगा. सो सर्वबुद्धिप्रेरक श्रीकृष्णचरणकमलके परागसे मेरे भाव तथा भाषा परिपूत रहें ऐसे शुभमनोरथके साथ.

– गोस्वामी श्याममनोहर

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।।

सेवाप्रकरण

जयति श्रीवल्लभार्यो जयति च विठ्ठलेश्वरः प्रभुः श्रीमान् ।
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति ।।

प्रस्तुत प्रकरणमें मुख्यतया विचार्य विषय हैं : श्रीमहाप्रभूपदिष्ट सिद्धान्तमुक्तावलीके प्रारम्भके श्लोक तथा उनपर विरचित श्रीप्रभुचरण, श्रीगोकुलनाथजी, श्रीकल्याणरायजी, श्रीपुरुषोत्तमजी, श्रीविठ्ठलेशात्मज श्रीवल्लभजी, श्रीरघुथानात्मज श्रीव्रजनाथजी, श्रीलालुभट्टजी, श्रीद्वारकेशजी, श्रीलालमणिसुत श्रीविठ्ठलरायजी तथा श्रीनृसिंहलालजी की टीकाएं, तदनुसार सर्वप्रथम मूलवचन है --

नत्वा हरि प्रवक्ष्यामि स्वसिद्धानतविनिश्चयम्[१] ।
कृष्णसेवा[२] सदा[३] कार्या[४] मानसी सा परा मता[५] ।।
चेतस्तत्प्रवणं सेवा[६] तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा[७] ।
ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम्[८] ।।

कुल मिला कर इन दो कारिकाओंमें (१) उपदिश्यमाण कर्तव्यकी सिद्धान्तविनिश्चितता (२) उपदिश्यमाण कर्तव्यके कर्म अथवा विषयका स्वरूप (३) उपदिश्यमाण कर्तव्यांगभूत कालका स्वरूप (४) उपदिश्यमाण कर्तव्यकी कृत्यर्हता तथा आवश्यकता (५) फललक्षण (६)स्वरूपलक्षण (७) साधनलक्षण तथा (८) आनुषंगिक या अवान्तरफल लक्षण--इतनी बातें हैं.

तदन्तर्गत विप्रतिपत्तिग्रस्त अंश प्रायशः ६ठा ७वां तथा ८वां हैं फिर भी प्रमुख तो ७वां अंश ही है सो उसपर ही सर्वप्रथम विचार आवश्यक है :

(१) ‘‘तत्-सिद्ध्यै तनु-वित्त-जा’’

६ठे श्लोकांश ‘‘चेतस्तत्प्रवणं सेवा’’ अर्थात् ‘तत्-

कृष्ण’प्रवणचित्तरूपा सेवा पूर्वप्रकृत होनेसे उसका ही परामर्श ‘तत्-सिद्ध्यै’ अन्तर्गत ‘तत्’ पदसे हो रहा है, अथवा फलोपयोगिस्वरूपोपलक्षित ‘मानसी सेवा’रूप फलका भी परामर्श प्राचीन टीकाकारोंने स्वीकारा है. किसी भी स्थितिमें ‘मानसी सेवा’रूप फलके व्यवहित होनेके कारण स्वरूपद्वारक ही परामर्श उसका शक्य है. इस एक प्रासंगिक निरूपणके बाद अब यथोचित ‘‘तस्य=तत्प्रवणचेतस: अथवा तस्या:=मानस्या: सिद्ध्यै=तत्सिद्ध्यै’’ विग्रहके अनुसार अर्थग्रहण करना चाहिये. यहां ‘तत्सिद्ध्यै’ में चतुर्थीको ‘पत्ये शेते’ उदाहरणद्वारा ‘‘क्रियया यमभिप्रैति सोपि सम्प्रदानम्’’ नियमानुसार लेनी अथवा ‘‘मुक्तये हरिं भजति’’ उदाहरणद्वारा ‘‘तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या’’ नियमानुसार लेनी अधिक उचित है? प्रथम कल्पमें कृष्णप्रवणचित्तसिद्धि एक ऐसा सम्प्रदानकारक बनेगा जिसके पूर्वसिद्ध होनेपर ही तनुवित्तजा क्रिया सम्पन्न हो पाती है अन्यथा नहीं. उल्लेखनीय है कि ‘‘चित्तकी कृष्णप्रवणता’’ कृष्णसेवाका स्वरूपलक्षण होनेसे फलावस्था-साधनावस्था उभयसाधारण सिद्ध होगा. अत: अकृष्णप्रवण चित्तद्वारा अनुष्ठित तनुवित्तजा क्रिया कृष्णसेवा ही नहीं रह जायेगी. और यदि कारक क्रियार्थ होते हैं - क्रिया कारकार्थ नहीं, तदनुसार तत्प्रवणचित्तसिद्ध्यर्थ तनुवित्तजा सेवाका अनुष्ठान यदि उपदिष्ट होता मानना हो तो तदितरप्रयोजनार्थ तनुवित्तजाका अनुष्ठान भी अर्थलग्न ही आ जाता है.

इसी तरह ‘तनुवित्तजा’पदद्वारा विवक्षितार्थके बारेमें जो तीव्र विप्रतिपत्तियां उभरी हैं, उस सन्दर्भमें कुछ मौलिक व्याकरणके नियमोंको एक बार हृदयंगम करनेके बाद ही भक्तिमार्गीय सिद्धान्त एवं व्याख्याओं की विवेचना उपकारिणी हो पायेगी.

एतदर्थ ‘सेवा-देवद्रव्यादिविमर्श’ग्रन्थकारका पक्ष ‘विमर्श’ नाम्ना तथा श्रीमहाप्रभुप्रभृति प्राचीन ग्रन्थकारोंका पक्ष ‘विशोधनिका’ नाम्ना दिया जायेगा. तदनुसार -

विमर्श : ‘तनुवित्तजा’पदसे तनुजा एवं वित्तजा का बोध : यहां तनुश्च वित्तं च तनुवित्ते ताभ्यां जाता तनुवित्तजा. ‘तनुवित्त’ पदमें द्वन्द्व समास है,

अनन्तर ‘जा’ पद आया है. अतः ‘‘द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते’’ इस नियमके अनुसार ‘तनु’ और ‘वित्त’ -इन दोनों पदोंके साथ ‘जा’ पदका अन्वय होता है. इस प्रकार ‘तनुवित्तजा’पदसे ‘तनुजा’ ‘वित्तजा’ ये दो सेवाएं मानसीके साधन निश्चित होती हैं.

विशोधनिका : ‘‘चार्थे द्वन्द्वः’’-पाणिनिसूत्रके वार्तिक तथा भाष्यमें वार्तिककार तथा भाष्यकार कहते हैं--‘‘चार्थे द्वन्द्ववचने असमासेपि चार्थसंप्रतययादनिष्टं प्राप्नोति ‘अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं पशुं वैवस्वतो न तृप्यति’... सिद्धं तु युगपदधिकरणवचने द्वन्द्ववचनात् सिद्धमेतत्. कथम्? युगपदधिकरणवचने द्वन्द्वो भवतीति वक्तव्यम्’’. प्रदीपकारने इसका स्पष्टीकरण इस तरह दिया है कि एक-एक शब्दसे जब एकसाथ कोई एक बात ऐसी कहनी हो, जो समुदायरूप हो, तब द्वन्द्व होता है. ‘‘गाय, घोडा, पुरुष, पशु के प्राण यमराज प्रतिदिन लेता रहता है परन्तु सन्तुष्ट नहीं होता’’ वचनमें ‘गाय’, ‘घोडा’ आदि पदोमें द्वन्द्व समास नहीं होनेका कारण यही है कि यमराज गायकी अपेक्षा रखते हुए घोडेका अथवा घोडेकी अपेक्षा रखते हुए गायके प्राण नहीं मरता. वैसे दोनों अर्थात् किसी भी प्राणीके प्राण हरता है तो इतरनिरपेक्षतया-स्वतन्त्रतया प्राण हरता है. अतएव ऐसी स्थितिमें ‘गाय’-‘घोडा’ पदोंको द्वन्द्व समासमें जोडा नहीं जाता. प्रत्युत गाय एवं घोडे का भिन्न-भिन्न शब्दोंद्वारा पृथक्‌बोध ही पैदा होता है.

अतएव ‘प्लक्षन्यग्रोधौ’ समासके उदाहरणमें द्वन्द्व समासके स्वभावको समझाते हुए भाष्यकार कहते हैं --‘‘सहभूतावेव अन्योन्यस्य अर्थम् आहतुः न पृथग्भूतौ’’ (यहीं) अर्थात् द्वन्द्व समासमें समासघटक दोनों पद परस्पर सहभूत होकर ही अपना एक अर्थ कहते हैं, पृथग्भूत होकर नहीं. इससे समझमें आना चाहिये कि ‘तनुवित्तजा’पदमें भी ‘तनु’-‘वित्त’पद यदि सहभूत होकर ही अपना अर्थ कह पाते हों पृथग्भूत होकर नहीं तो द्वन्द्वान्तश्रुत ‘जा’ पद भी अपना अर्थ द्वन्द्वघटक सहभूत ‘तनु-वित्तसे जन्य’तया ही अपना अर्थबोधन करा पायेगा, पृथग्भूत ‘तनु’ और ‘वित्त’ से जन्यतया नहीं. अतः ‘‘द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्पद्यते’’का झंडा हाथमें लेकर दौडनेवाले स्वयं द्वन्द्व समासके अर्थ, स्वभाव एवं नियम से नितान्त अनभिज्ञता प्रकट

करते प्रतीत होते हैं.

वास्तविकता जबकि यह है कि प्रदीपकारने भी स्वयं 'च'के (१) समुच्चय (२) अन्वाचय (३) इतरेतरयोग (४) समाहाररूप चार अर्थ समझाये हैं. परस्पर निरपेक्ष पदार्थोंका जब क्रियामें समुच्चय होता है, उदाहरणतया, ''गाय, घोडा, पुरुष, पशु (सभी)का यमराज प्राण हरता रहता है'' वाक्यमें परस्पर निरपेक्ष गाय, घोडा आदिका समुच्चय प्राणहरणात्मिका क्रियामें द्योतित हो रहा है. वह 'च'कारके बिना भी द्योतित हो रहा है. अत: समासमें जुड पानेको 'गाय', 'घोडा' आदि पद समर्थ नहीं है. ''न्यग्रोधको देखो' कहकर जब ''और प्लक्षको भी'' कहा जाता है तो अन्वाचयका उदाहरण बनता है. यहां दर्शनक्रियामें न्यग्रोधकी प्रधानता और प्लक्षकी गौणता प्रकट होती है. अत: प्रधान–न्यग्रोध–द्वारक गौणप्लक्षका क्रियान्वय होनसे द्वन्द्वसमासका घटक बन पानेको समर्थ नहीं हैं. क्योंकि प्रधानपद 'न्यग्रोध' 'च' के अन्वाचय अर्थमें प्रयुक्त नहीं है. गौणपद 'प्लक्ष' ही अन्वाचयके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है. अत: यहां भी द्वन्द्वसमास नहीं होता. 'च'का तीसरा अर्थ है:इतरेतरयोग. 'इतरेतरयोग' यानि परस्पर अपेक्षा रखनेवाले अनेक पदोंके एक अर्थमें समन्वित होनेपर 'च'शब्दसे द्योतित होती उनकी परस्परसहित्ता. अत: यह द्वन्द्व समासका योग्य उदाहरण है. चतुर्थ समाहारके अर्थमें भी परस्परसहितका भान होता होनेसे वहां भी द्वन्द्वसमास हो सकता है.

अतएव महामहोपाध्याय जयराज न्यायपंचानन भट्टाचार्य समासवादमें इसका स्पष्ट खुलासा देते हैं कि 'च'के चारमें से दो अर्थोमें द्वन्द्वसमास हो सकता है. (१) इतरेतरयोग (२) समाहार. जहां अवयवार्थकी प्रधानता होती है वहां इतरेतरयोगरूप द्वन्द्वसमास होता है. प्रधानता यानि विभक्तिके अर्थसे जुडना. अतएव द्विचन या बहुवचन का प्रयोग इतरेतरयोगद्वन्द्वमें होता है. उदा. 'धवखदिरौ' 'धवखदिरपलाशा:', जहां संहति=सहितना प्रधान होती है वहां समाहारद्वन्द्व होता है. दोनोंकी या दोसे अधिककी सहितता क्योयंकि एक धर्म है अत: वहां एकवचन ओर नपुंसकलिंगका प्रयोग होता है... अतएव 'चार्थे द्वन्द्व' पाणिनिसूत्रमें समुच्चय और अन्वाचय अर्थके अलावा इतरेतरयोग और समाहार ही 'च'के अर्थतया अभीष्ट हैं. समाहार=साहित्य=सहितता तथा

इतरेतरयोग=साहित्यविशिष्टता. अतएव ‘‘धर्मार्थकामादि जो कुछ सम्पन्न करने हों इसके साथ करना’’ –इस विधानमें पत्नीका सहभाव ही द्योतित होता है, साहित्य नहीं. अर्थात् पत्नीकी अनुमतिद्वारा भी धर्मार्थकाम सम्पन्न किये जा सकते हैं. जबकि साहित्य यदि विवक्षित हो तो अनुष्ठानक्रियामें सहकर्तृत्व नियत बन जायेगा.

अतएव इस सन्दर्भमें सिद्धान्तकौमुदीतत्त्वबोधिनीकारका भी एक मननीय स्पष्टीकरण है–‘‘... अत: इतरेतरयोग और समाहार में परस्परसाहित्यके विद्यमान रहनेके कारण द्वन्द्वसमास होता है. समुच्चय या अनवाचय में उसके न होनेके कारण द्वन्द्वसमास नहीं होता. फिर भी इतरेतरययोगमें परस्पर साहित्य विशेषण होता है और परस्परसहित द्रव्य विशेष्य. जबकि समाहारमें परस्पर साहित्य प्रधान तथा द्रव्य विशेषण.’’ (सि.कौ.तत्त्वबो.द्वन्द्व प्रक.२/२/२९)

इसपर टिप्पणी करते हुए म.म.शिवदत्तशास्त्रीने भी स्पष्टीरण दिया है कि कौमुदीकारद्वारा प्रदत्त ‘‘मिलितानामन्वय: इतरेतरयोग:–समूह: समाहार:’’ लक्षणमें ‘मिलितानां’ का अर्थ है परस्परापेक्षा रखनेवाले उद्भूत तथा भिन्न अवयवोंवाला समूह. उसके ‘अन्वय’का अर्थ है एकधर्मावच्छिन्नतया अन्वित होना. इसीतरह समाहारान्तर्गत ‘समूह’का अर्थ है अनुद्भूत तथा भिन्न अवयवोंवाला समूह. यहां इतरेतरयोगमें क्योंकि उद्भूतावयवभेद समूहकी प्रतीति होती है अत: प्रवृत्तिनिमित्त प्रत्येकवृत्ति धर्म होता है जबकि समाहारमें विभिन्न अवयव अनुद्भूत रहते होनेसे समूहका अतिरिक्ततया भान होता है. अत: समूह ही प्रवृत्तिनिमित्त बनता है.

प्रकृतमें विमर्शकारने भी ‘‘तनुश्च वित्तं च तनुवित्ते’’ कहकर समाहार द्वन्द्व तो स्वीकारा नहीं है अत: ‘तनुवित्ते’ द्वन्द्वमें तनु और वित्त को पहले उद्भूतभेद तथा प्रत्येकवृत्ति पदप्रवत्तिनिमित्तधर्मवान मान कर पश्चात् एकधर्म=तनुवित्तत्वरूपसे अपने प्रथमा द्विवचन अथवा तृतीया द्विवचनमें अन्वित मानना पडेगा. ऐसी स्थितिमें त्रिकालमें भी ‘‘तनुवित्ताभ्यां जाता तनुवित्तजा’’ का अर्थ ‘‘तनुजा और वित्तजा’’ निकल ही नहीं पायेगा.

ऐसी स्थितिमें ‘‘द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते’’ नियम भी केवल इतनी ही बात कह पायेगा कि जिस सेवा=क्रियाका अनुष्ठान तनु-वित्तसे समपन्न करना है वह तनुरहित वित्त अथवा वित्तरहित तनुसे सम्पन्न नहीं हो सकता. वह क्रिया प्रत्येकसे अभिसम्बद्ध होनी चाहिये. अत: प्रत्येक साहित्यसे ही उसे सम्पन्न करना पडेगा. भूलना नहीं चाहिये कि द्वन्द्व यहां तनु-वित्तका है, तज्जन्य क्रियाका नहीं. ऐसी स्थितिमें ‘‘तनुजा और वित्तजा’’ अर्थ करना पाणिनि-कात्यायन-पतंजलि-कैयट-नागेशादिके श्राद्ध किये बिना शक्य नहीं है.

इतरेतरयोग द्वन्द्व कौमुदीकारके अनुसार भी, ‘‘मिलितानाम् अन्वय:’’ अर्थात् प्रकृत सन्दर्भमें द्विपद द्वन्द्व होनेसे ‘‘मिलितयो: अन्वय:’’ तदनुसार ‘‘परस्परापक्षयो: तनुवित्तयो: उद्भूतावयवभेदयो:=तनुत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक-वित्तानुयोगिक-वित्तत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकतन्वनुयोगिकभेदसमूहरूपयो: तनुवित्तयो: सेवारूपक्रियानिष्ठज-न्यतानिरूपितकरणतावच्छेदकरूप= एकधर्मावच्छिन्नत्वेन=तनुवित्तत्वेन अन्वय:’’ अकाम-गलेपतित है.

यदि यह नहीं स्वीकारते तो ‘‘समस्तपितृणां निरतिशयानन्द-ब्रह्मलोकावाप्त्यादि-कन्यादानकल्पोक्तफलावाप्तये अनेन वरेण अस्यां कनयायाम् उत्पादयिष्यमाण-सन्ततया द्वादशावरान् द्वादशपरान् पुरुषांश्च पवित्रीकर्तुम् आत्मनश्च श्रीलक्ष्मीनारायणप्रीतये अमुकगोत्रोत्पन्नाय विष्णुरूपिणे रामकृष्दासनाम्ने वराय इमां लक्ष्मीरूपिणीं कन्यां तुभ्यमहं सम्प्रददे’’ के संकल्पपूर्वक दिये गये कन्यादानके बावजूद कोई स्वैरिणी ‘‘द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते’’ व्याकरणनियमकी दुहाई देकर रामकृष्णदासनामक स्वपतिके अलावा किसी ‘रामदास’ एवं ‘कृष्णदास’ नामक जारपुरुषोंसे सन्तति प्रकट करने लगे तो भी द्वादशावर द्वादशपर पुरुषोंके निरतिशयानन्द-ब्रह्मलोकफलावाप्तिपूर्वक स्वयं कन्यादाताको श्रीलक्ष्मीनारायणप्रीतिरूपफल मिलना चाहिये !

अन्यथा अधिकसे अधिक यहांभी यह तो कहा ही जा सकता है कि उक्त फलप्राप्तिसाधिका केवल रामकृष्णदासरूप वरसे उत्पन्न सन्तति होगी.

एतावता ‘रामकृष्ण’रूप द्वन्द्वके अन्तमें श्रूयमाण ‘दास’पद, क्योंकि राम और कृष्ण उभयसे अभिसम्बद्ध है एतावता रामदास एव कृष्णदास नामक उपपतियोंके साथ रमणको कथमपि असंकल्पित अधर्म तो कहा ही नहीं जा सकता! तब तो लोग व्याकरणशास्त्रको व्यभिचारशास्त्र ही मानने लग जायेंगे! द्वन्द्वसमासका ही द्वन्द्वान्त कर देंगे!

उल्लेखनीय है कि विमर्शकार भी श्रीमहाप्रभुद्वारा संकलित प्रकारसे स्वतनुवित्तजन्या सेवाको मानसीकी साधिका तथा “द्वन्द्वान्ते श्रूयमाण...” नियमानुरोधवश तनुजा और/अथवा वित्तजा को अनिषिद्ध मान रहें हैं - यह उल्लिखित स्वैरिणीसदृश ही अर्थघटन है!

(।।) श्रीमत्प्रभुचरण-विरचित-विवृति

(१) ‘स्वसिद्धान्ते’ति... स्वसिद्धान्तरूपं शास्त्रार्थनिश्चयं वक्ष्यामीत्यर्थ: (२) तमेवाहु: ‘कृष्णसेवे’ति. फलात्मकनामोक्त्या स्वत: पुरुषार्थत्वेन सेवाकृति: स्वसिद्धान्तो नतु अन्यशेषत्वेनेति ज्ञाप्यते... (३) सेवा हि सेवकधर्म:; तदुक्त्या जीवानामशेषाणां सहजदासत्वं ज्ञापितम्. अतएव न कर्मणीवात्र कालपरिच्छेदोस्तीत्याहु: ‘सदे’ति. (४) आवश्यकार्थण्यत्प्रत्ययान्तकार्यपदोक्त्या तदकरणे प्रत्यवायी भवतीति भावो ज्ञाप्यते. (५) साच फलरूपा साधनरूपा चास्ते. तत्र ‘मानसी सा परा’ फलरूपेत्यर्थ:, यथा व्रजसीमन्तनीनाम्. तदेव तत्प्राणनाथेन गीतं “ता नाविदन् मय्यनुषंगबद्धधिय: स्वमात्मानमदस्तथेदम्” इत्यादि. (६) एतदेव सेवास्वरूपम् इत्याहु ‘चेत’ इति. (७) उक्त-सेवा-साधने इतरे इत्याहु: ‘तदि’ति. वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारिता एका, एतादृशेन पुंसा कृता चापरा -एतादृश्यौ ते तत्साधिके न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्त पदम्. एतेन भगवदर्थ निरुपधिस्वसर्वस्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवति इति भाव:. (८) एतादृशस्य अवान्तरफलं भवतीत्याहु: ‘तत’ इति. अहन्ताममतात्मक: संसार: नतु प्रपञ्चात्मक:; तस्य ब्रह्मात्मकत्वात्. तन्निवृत्यानिष्टनिवृत्तिरुक्ता. इष्टप्राप्तिमाहुरग्रे. स्वात्मनि प्रपञ्चे च अक्षरब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञानम्. भगवत्सेवायामभिनिविष्टष्य यद्यपि अनभिलषिते ते

तथापि वस्तुस्वभावाद् भवत इति भावः. (सि.मु.वि.१-२).

(१) इस प्रथम अंशमें तो यही केवल मननीय है कि जिस तरहका अनिश्चितरूप कृष्णसेवाका आज हमने बना रखा है उससे कितने विपरीत भाव पिता-पुत्रके हैं.

(२) द्वितीय अंशमें मननीय यह है कि श्रीप्रभुचरणने स्पष्ट शब्दोंमें कृष्णसेवाके, अन्यशेषतया नहीं प्रत्युत स्वतःपुरुषार्थत्वेन, अनुष्ठानको ही स्वसिद्धान्त माना है. धर्मप्रचारार्थ या आजीविकोपार्जनार्थ अन्यशेषतया कृष्णसेवाका अनुष्ठान स्वसिद्धान्त न होकर सर्वथा अपसिद्धान्त है.

(३) तृतीय अंशके मनन करनेपर यह भी स्पष्ट हो ही जाता है कि आधुनिक कालमें पुरुषोत्तममास (=मनोरथोंके आडंबरद्वारा द्रव्योपार्जनकी सीझन) के कालपरिच्छेदको अथवा दैनंदिन आठसमयकी झांकीके कालपरिच्छेदमें अथवा वार्षिक उत्सवोंके कालपरिच्छेदमें वैष्णवोंको वित्तजासेवा करनेके लिये जैसे उकसाया जा रहा है वह भी अपसिद्धान्त है. क्योंकि परिच्छिन्नकालके निमित्तानुरोधवश नहीं प्रत्युत कालापरिच्छिन्न आत्मस्वरूपानुरोधवश कृष्णसेवाकी कर्तव्यताका ही सिद्धान्त है. वह तो अर्थोपार्जनार्थ स्ववित्तसामर्थ्यसे बढा-चढाकर भगवत्सेवाका प्रदर्शन करनेवाले सार्वजनिक मन्दिरोमें नहीं परन्तु अपने घरमें ही संभव है.

(४) चतुर्थांशमें विशेषतया उल्लेखनीय यही बात है कि एकविध, द्विविध, त्रिविध, चतुर्विध, षड्विध, नवविध या द्वादशविध भी सेवा क्यों न हो, स्वमार्गप्रवर्तक पिता-पुत्रके अनुसार सेवा स्वमार्गिओंका एक ऐसा कर्तव्य है जिसे यथोक्तरूपमें न करनेपर व्यक्ति प्रत्यवायी बनता है. अतः कृष्णसेवाका सिद्धान्ताभिमत स्वरूप एकविध हो तो उसके अकरणपर और अनेकविध हो तो उसके अकरणपर मार्गानुयायी प्रत्यवायी बन जाता है. ऐसी स्थितिमें क्योंकि यथाश्रुत 'तनुवित्तजा'पक्ष तो निसंदिग्ध सिद्धान्त है अतः विशोधनिकाद्वारा उसपर भार देनेसे प्रत्यवायी होनेका कोई प्रसंग नहीं जबकि अश्रुत स्वार्थकल्पित त्रिविध पक्ष संदिग्ध है अतः उसके अनुष्ठानमें प्रत्यवायसन्देह वज्रलेपायित है.

(५) पांचवे अंशकी व्याख्या करते हुए श्रीप्रभुचरणने यह स्पष्ट कर दिया है कि मूलत: कृष्णसेवा तो एक ऐसा कर्तव्य है कि जिसके दो रूप होते है: (क) फलावस्थापन्नरूप (ख) साधनावस्थापन्नरूप. अर्थात् स्वयं कृष्णसेवा ही कभी साधनरूपा होती है तो कभी फलरूपा. कृष्णसेवा ऐसा साधन नहीं है कि जिसका साध्य कृष्णसेवासे अतिरिक्त कोई फल हो.

जैसे द्विजका नित्यकर्म वेदादिशास्त्रस्वाध्यायरूप ब्रह्मयज्ञ, अक्षरग्रहण अर्थबोध तात्पर्यबोध आवर्तनोंकी विभिन्न अवस्थाओंमें, स्वयं उत्तरोत्तर साध्यफलभावापन्न होता रहता है. अवान्तरफलरूप निशंक कर्मानुष्ठानकी कथा दूसरी है. (अनुसंधेय: ‘‘निष्कारणं ब्राह्ममणेन षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च’’).

एक और उल्लेखनीय बात जो श्रीप्रभुचरणने इस अंशमे निरूपित की है वह यह है कि इस मानसीसेवाको फलरूपा कहा और इसके व्यक्त्युदाहरणतया व्रजगोपिकाओंका उल्लेख किया है. इसीतरह प्रमाणवचनोदाहरणतया ‘‘तानाविदन् मय्यनुषंगबद्धधिय: स्वमात्मानमदस्तथेदं यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये नद्य: प्रविष्टा इव नामरूपे’’. श्रीभागवतश्लोकका उल्लेख किया है. युगलगीत के प्रसंगमें व्रजगोपिकाओंकी मानसी लीलानुभूतिका वर्णन उपलब्ध होनेपर भी तथा व्यासवचनमें लेशत: भी ईषत्प्रामाण्यका तो कोई प्रश्न न रहनेपर भी एकादशसकन्धीय भगवद्वचनका प्रमाणवचनत्वेन उपन्यास यहां किसी विशेष बातकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है. इस वचनमें दो तथ्य वर्णित हुए :(अ) भगवदनुषंगबद्धधीता (आ) स्वपर(:ऐहिक-पारलौकिक सर्व)विस्मरण. ऐसी स्थितिमें प्रपंचविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिरूप निरोध ही यहां विवक्षित है-इतना तो स्पष्ट है.

इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मानसी सेवा, मानस ध्यान या चिन्तन के रूपमें परा=फलरूपां नहीं परन्तु प्रपंचविस्मृतिपूर्विका भगवदासक्तिके रूपमें ही परा=फलरूपा है. ऐसी स्थितिमें धर्मप्रचारार्थ-शिष्यसंग्रहार्थ-धनसंग्रहार्थ प्रपञ्चाभिनिवेशपूर्विका भगवदासक्तिरूपा फलसिद्धिके लिए तो कृष्णसेवोपदेश हो ही नहीं सकता. अत: विमर्शपक्षका अपसिद्धान्त होना विवृतिअनावृत ही है.

(६) इस षष्ठ अंशमें प्रभुचरण कृष्णसेवाकी फलावस्थाके स्वरूपानुरोधवश कृष्णसेवाका सामान्यस्वरूप ''एतदेव सेवास्वरूपम् इति आहु 'चेत' इति'' अंशद्वारा निरूपित कर रहे हैं. यहां फलावस्थाका ही निरूपण है अथवा सेवाके फलसाधनोभयावस्थासाधारण सामान्यस्वरूपका - इसमें टीकाकारोमें प्रस्थानभेद है. इसका यथावसर आगे चलकर स्पष्टीकरण देंगे.

(७) यह अंश निरतिशय विवादग्रस्त बन गया है. अत: यहां अतिशय सावधानीपूर्वक मननकी आवश्यकता है. अत: सर्वप्रथम इस अंशगत विभिन्न विधानोंका विहंगावलोकन कर लेना चाहिये :

उत्थानिका : (क) उक्तसेवा-साधने इतरे इति आहु: 'तत् (सिद्ध्यै तनुवित्तजा)' इति.

अभिप्रायज्ञापिका : (ख) वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारिता एका, एतादृशेन पुंसा कृता च अपरा -एतादृश्यौ ते तत्साधिके न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम्.

निष्कर्ष : (ग) एतेन भगवदर्थं निरूपधिस्वसर्वस्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव स्वदेवविनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवतीति भाव:.

(क) 'उक्तसेवा' = छठे अंशमें अथवा प्रथमसे प्रारम्भ करके छठे अंशतक जैसे प्रकारकी सेवा निरूपित की गई है वैसी सेवा.

'साधने इतरे' = 'तनु-वित्ते' अर्थ लेना या 'तनुज-वित्तजे' लेना इसमें विमर्शपक्ष है 'तनुज-वित्तजे'. श्रीमहाप्रभुसे प्रारम्भकर परवर्ती प्राय: सभी टीकाकारोंको अभिप्रेतार्थ 'तनुवित्त' ही प्रतीत होता है. जिन्होंने -अर्थात् श्रीवल्लभजी, श्रीव्रजनाथजी, श्रीलालुभट्टजी तथा श्रीद्वारिकेशजीने -यथायथ कभी समासविग्रहार्थ अथवा कभी ''प्रसक्तस्य प्रतिषेधो'' न्यायसे 'तनुवित्तजे' लिया है वह सिद्धान्तानुमोदित अनुष्ठेयतया नहीं. इसपर विस्तृत विचार क्रोडाक्रीडनकक्रीडाविभंग परिच्छेदमें आगे चलकर किया जायेगा.

हम देख चुके – द्वन्द्वसमासके प्रयोगकी व्याकरणशास्त्रीय मर्यादाके अनुरोधवश स्वयं वाक्पति वक्ता भी ''तनुजा और वित्तजा'' के द्वन्द्व की विवक्षावश यदि 'तनुवित्तजा' प्रयोग करे तो उसे अशुद्ध प्रयोग अथवा आर्षप्रयोग ही मानना पडेगा. ऐसी स्थितिमें किसी भी व्याख्याकारद्वारा वैसे अर्थका ऊह करना या तो स्वयंके व्याकरणशास्त्रीय निरतिशय अज्ञानका द्योतन है अथवा मूलकारपर अशुद्ध प्रयोग करनेके आक्षेपमें ही फलित होगा. अतएव स्वयं विमर्शकारको (पृ.९२-९३) इतना तो स्वीकारना ही पडा है कि केवल तनुजा अथवा केवल वित्तजा मानसीकी साधन नहीं है. उदाहरणतया खीर बनानेके लिये चावल, घी, दूध, चीनी, अग्नि, पात्र, रसोई बनानेवाला–इन सबकी आवश्यकता होती है; इनमेंसे एक भी सामग्री कम होगी तो खीर नहीं बन सकती. ऐसी स्थितिमें मानसीकी साक्षात्साधनता तो विमर्शकारके भी मतमें तनुवित्तजार्थ ही गलेपतित है. रही बात परम्परया साधन होनेकी – अर्थात् 'तनुवित्तजा'को कारणसामग्री मानकर तनुजा एवं वित्तजा को कारणसामग्रीघटक पदार्थ माननेकी– तो निरुपधिभक्तिभाववश विचार्यविषयविमर्शार्थ यदि विमर्शकारकी प्रवृत्ति होती तो समझनेमें किसी तरहकी कठिनाई न आती कि केवल वित्तसे, अर्थात् स्वकीय या परकीय तनुके साहित्यके बिना. भगवत्सेवाका अनुष्ठान शक्य ही नहीं. इसी तरह जबतक मानसी सिद्ध न हो तब तक केवल तनुसे भी, अर्थात् स्वकीय या परकीय वित्तके साहित्यके बिना, भगवत्सेवाका अनुष्ठान अशक्य न भी हो तो दु:शक तो अवश्य होता है. अत: स्वकीय या परकीय तनु या वित्त के साहित्यपूर्वक ही सेवात्मिका क्रियाका वस्तुस्वभावानुरोधविवश एकत्व तो त्रिकालाबाधित सत्य है. अतएव द्वित्व तो अकाम भी तनुवित्तनिष्ठ ही हो सकता है. तनुवित्तजा क्रियायें दो नहीं कही जा सकती तो द्वित्वाधिकरणीभूत साधनता प्रत्येक दो क्रियाओंमें नही परंतु पर्याप्तिसंबंधसे तनुवित्तमें ही आयेगी. वित्तसाहित्यरहिततनुजा या तनुसाहित्यरहितवित्तजा क्रियाओंमें स्वरूपासिद्धि दोष होनेसे तथा कथंचित् स्वरूपोपपत्ति देनेपर उन क्रियाओंमें द्वित्वाधान तनुवित्तपर्याप्तद्वित्वद्वारा ही सम्पादित होता होनेसे; तथा विमर्शकारद्वारा प्रदत्त चावल, चीनी, दूध आदिके उदाहरणानुसार भी यह

अप्रत्याख्येय होनेसे अकामगलेपतित है. अत: ''यल्लिंगं यद्वचनं या च... विशेषणस्यापि''नियम सार्वत्रिक या क्वाचित्क होनेकी विचारणा अकिंचित्कर है. वैसे 'साधने'का नपुंसकलिंगके द्विवचनमें प्रयुक्त होना नपुंसकलिंगके द्विवचनान्त 'तनुवित्ते'विशेषणके विशेषणतया सुसंगत है. फिर भी उत्थानिकामें तनुजा-वित्तजा सेवाको उद्देश्य बना कर ऐसे साधनत्वका विधान करना कि जिसका अव्यवहितोत्तर तात्पर्यनिरूपणमें निषेध करना है -एक असमंजस विचाररीति लगती है. उदाहरणतया कोई कहे -

मूलवाक्य : खीर बनती है चावल, चीनी, घी, दूध, पात्र, अग्नि, पाचक सामग्रीसे.

व्याख्या : खीर बनाने के साधन इतर सात हैं - यह निरूपित करते हैं ''खीर बनती है...'' वचनसे. कोई चावलके बिना चीनीसे या चीनीके बिना घीसे या घीके बिना दूधसे या दूधके बिना पात्रसे या पात्रके बिना अग्निसे या अग्निके बिना पाचकसे खीर बनाना चाहे तो खीर बनायी नहीं जा सकती. अत: इन कारणसामग्रीके जुटनेपर ही खीर बनती है.

विमर्श : खीरके पूर्वोक्त सात साधनोंके साहित्यका दुराग्रह रखना उचित नहीं है, क्योंकि इनमेंके प्रत्येक भी साधन तो होते ही हैं. फिर किसी एकसे केवल खीर सिद्ध हो जानी चाहिये - ऐसी आपत्ति नहीं देनी चाहिये, क्योंकि वह तो सातोंके मिलनेपर ही होगी. एतावता प्रत्येकको साधन न मानना कैसे सुसंगत हो सकता है?

विशोधनिका : खीरकी कारणतासामग्रीके घटकतया सिद्ध चावल, चीनी, घी, दूध आदिकी परस्पर इतरसापेक्ष साधनतासे अतिरिक्त इतरनिरपेक्ष साधनताके प्रतिपादनका प्रयोजन खीर बनाना तो हो नहीं सकता. अत: अन्य कुछ प्रयोजन स्वीकारना पडेगा. अत: ऐसी साधनता अप्रासंगिक होनेसे अनिरूपणीय ही है.

दार्ष्टान्तमें विमर्शकार भी केवल तनुजा या केवल वित्तजा को मानसीसाधिका न मानकर केवल अबाधिका मनवाना चाहते हैं. वहां यह प्रश्न

उठता है कि 'उक्तसेवासाधने'को उद्देश्य बनाकर द्वित्वविशिष्ट इतरतवका विधान यहां विमर्शकारको अभिलषित है या इतरे'को उद्देश्य बनाकर उनकी 'उक्तसेवासाधनता' का विधान अभिलषित है. प्रथम कल्पमें प्रभुचरणकृतविवृतिस्थ ''फलात्मकनामोक्त्या... नत्वन्यशेषत्वेनेति ज्ञाप्यते'' की व्याख्यामें ''ननु 'मानसी सा परे'त्यनेन मानस्या: फलत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् तदर्थत्वमेवैतत्सेवाया: सिध्यति अतो न स्वतो पुरुषार्थत्वं किन्त्वन्यशेषत्वमिति चेत्... प्रकृते तस्याएव सेवाया: अवस्थाभेदेन मानससेवारूपफलत्वेन विजातीयत्वाभावाद्'' (श्रीवल्लभजीकृत टिप्पणी) वचनवशात् इतरता ही अनुपपन्न है तो द्वित्वविशिष्ट इतरता भी सुतरां अनुपपन्न सिद्ध होगी. अत: 'इतरे'को उद्देश्य बनाकर उनके बारेमें 'उक्तसेवासाधनता'का यथोपदिष्ट विधान मानना पडेगा. यहां यह पृष्टव्य होता है कि विधास्यमान तनुवित्तजान्तर्भूत तनुजवित्तजाकी द्वित्वावच्छिन्नसाधनताका विधान अभिलषित है या तदनन्तर्भूत तनुजा एवं वित्तजा की एकैकत्वावच्छिन्नसाधनताका विधान अभिलषितै? प्रथम कल्पमें वदतोव्याघात दोष आ पडेगा. द्वितीय कल्पमें उत्थानिका और अभिप्रयाज्ञापिका अंशोमें ''आम्रान् पृष्टे कोविदारान् व्याचष्टे'' वाली निष्कर्षापर्यवसायिनी उत्थानिका होनेका दोष आ पडेगा.

केवल तनुजा या केवल वित्तजा कोई क्यों करना चाहता है? स्वकीय तनुविनियोग या स्वकीय वित्तविनियोग की अरुचि या असामर्थ्य के कारण उपदिष्ट तनुवित्तजास्वरूपपूर्त्यर्थ अथवा तदितरप्रयोजनपूर्त्यर्थ. यदि सेवेतर किसी भी प्रयोजनकी पूर्तिके लिये वित्तग्रहण किया जाता है तो वित्तदाता द्वारा किया जाता वित्तदान वित्तजा सेवा नहीं रह जायेगी, क्योंकि वित्त लेनेवाला दम्भ कर रहा है और देनेवाला अपना श्रद्धामौढ्यप्रदर्शन. यदि वह वित्त तनुवित्तजासेवाके स्वरूपनिर्वाहार्थ दिया-लिया जा रहा है ऐसा स्वीकारते हैं तो इस लेने-देनके लौकिक-अलौकिक, विहित-निषिद्ध एवं उत्सर्ग-अपवाद रूपोंके विवेकके बिना 'गोमय पायस' नहीं कर देना चाहिये.

एतदर्थ सर्वप्रथम एक सारणीपर दृष्टिपात कर लेना उचित होगा :-

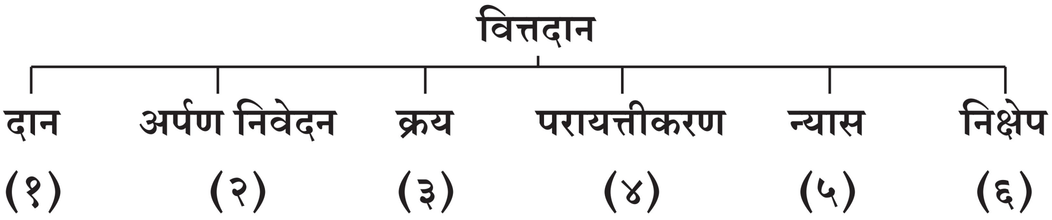
वित्तदान
दान
(१)
अर्पण निवेदन
(२)
क्रय
(३)
परायत्तीकरण
(४)
न्यास
(५)
निक्षेप
(६)

सहज सम्भव है कि इनके अलावा अन्य भी कुछ प्रकार वित्तदानके हो सकते होंगे परन्तु इन प्रभेदोंके लक्षण तथा उपभेदों को जाननेपर ही वास्तविकताका पता चला पायेगा.

(१) दान :

शास्त्रे निवेदनं दानं ह्यर्पणं त्रिविधं स्मृतम् ।
निवेदनं समुद्दिश्य द्रव्यस्य ज्ञापनं मतम् ।।
दानं स्वकीयतात्यागः परस्वापादनं विधेः ।
अर्पण स्वामिभोग्यस्य स्वामिने ज्ञापनं मतम् ।।

(सि.र.श्रीपुरु.वि.श्लो.४में उद्धृत)

इन कारिकाओंमें निवेदन तथा अर्पणसे भिन्न ‘‘दानं स्वकीयतात्यागः परस्वापादनं विधेः’’ कहकर जो ‘दान’की परिभाषा दी गई उस संदर्भमें यह अवधेय है कि–

दान

(स्वत्वपरित्यागपूर्वकपरस्वत्वोत्पादनानुकूल ‘तुभ्यमहं सम्प्रददे न मम’इत्यादिशब्दाभिव्यंग्यो मनोव्यापारः)

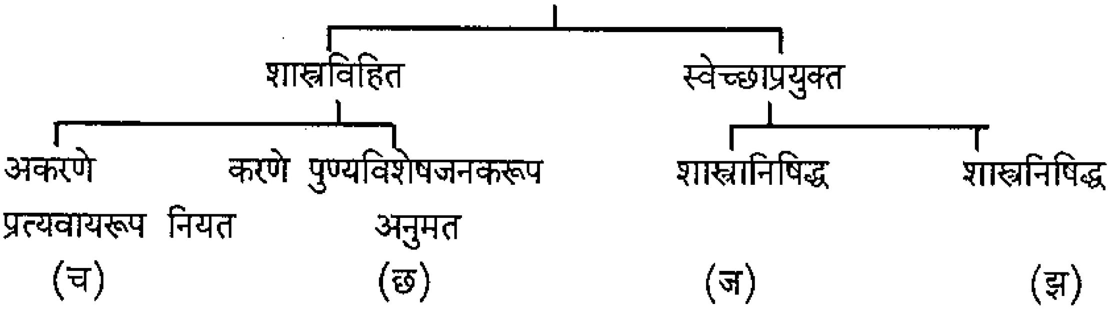
शास्त्रविहित
स्वेच्छाप्रयुक्त
अकरणे प्रत्यवायरूप नियत
(च)
करणे पुण्यविशेषजनकरूप अनुमत
(छ)
शास्त्रानिषिद्ध
(ज)
शास्त्रनिषिद्ध
(झ)

(च) कर्मदक्षिणा, गुरुदक्षिणा, प्रायश्चित्तार्थ गोदानादि, कन्यादान, राज्यको करदान आदि अनेक रूपोंमें शास्त्रविहित वित्तदान होता है.

(छ) तत्तद् देश-काल-कर्मादि निमित्तवशात् शास्त्रोंमें वित्तादि दानोंका वर्णन उपलब्ध होता है.

(ज) 'प्राभृत'=देवता-गुरु, राजा-मित्रादिको स्वेच्छया दिया जाता उपहार अर्थात् उपायन, 'यौतक'=यज्ञोपवीत, विवाहादि अवसरपर सगे संबंधि बटुक, वरवधू आदिको दिये जाते उपहार, 'सुदाय'=दहेज, 'दाय=अपन संपत्तिपर अपनी जीवितावस्था या मरणोत्तरता में अंशतया या पूर्णतया स्वत्वत्यागपूर्वक अपने पुत्रादिके स्वत्वका स्थापन, 'भिक्षा=दीन-दरिद्रोंपर दयाविवश दिया जानेवाला द्रव्यादि.

(झ) ज्येष्ठपुत्रदान, परद्रव्यदान आदि.

शास्त्रनिषिद्ध (स्वकुटुम्बाविरोधेन देयं दारसुतादृते नान्वये सति सर्वस्वं देयं यच्चान्यसंश्रितम् -याज्ञ.व्यव.११।१७९) प्रकारको छोडकर दानके अन्य सभी प्रकारोंमें दाताद्वारा शास्त्राविरुद्धतया स्वत्वपरित्यागपूर्वक परस्वत्वोत्पादन किया गया होनेसे प्राप्त वित्त विंत्तग्रहीताका ही होता है. सो ऐसे वित्तसे स्वयं की जाती सेवाके तनुवित्तजा सेवा होनेमें कोई विसंगति नहीं है.

वैसे वित्तदान सेवाकर्ताको अथवा उसके सेव्यस्वरूपको - यों दोनोंमेंसे किसी भी एकको सम्भव है. सेवाकर्ताको कोई कुछ देता है तो देनेवाला अपना स्वत्व खतम करके सेवाकर्ताका स्वत्व पैदा करता है और अन्यके सेव्यस्वरूपको देनेपर देनेवाला अपना स्वत्व खतम करके सेव्यस्वरूपका स्वत्व पैदा करता है. प्रथम कल्पमें तनुवित्तजाके स्वरूपका बाध नहीं होता जबकि दूसरेमें न केवल तनुवित्तजाका स्वरूप खंडित हो रहा है अपितु देवस्वापहरणदोष भी शक्य हो जाता है, देवस्वत्व पैदा हुआ होनेसे इसे स्वीकार न करनेपर गोस्वामी महाराजोंको धरी भेट भेटकर्ता स्वयं भले ही न ले सके परन्तु इतर वैष्णव या महाराजश्रीका समाधानी या खवास क्यों नहीं ले सकते - यह खुलासा देना पडेगा. पूछनेकी आवश्यकता जैसे देवस्वापहारी महाराजोंको नहीं वैसे महाराजस्वापहारी वैष्णव या खवास को भी नहीं होनी चाहिये! जैसे महाराजोंका स्वत्व अपने प्रभुपर है ऐसे ही वैष्णव या समाधानी का महाराजोंपर होता. ठाकुरजी बोलते नहीं पर महाराज तो बोल सकते हैं

अत: आज्ञाके बिना नहीं लेनेका नियम हो तो जो छोटे-छोटे बावा-बेटीजी बोल न पातें हो उनका तो कमसे कम लिया जा सकता है - ऐसे स्वीकारना चाहिये.

(२) निवेदनार्पण :

"निवेदनं तु तदीयत्वानुसंधानपूर्वक स्वत्वाभिमानत्यागानुकूल: 'तुभ्यं समर्पयामि निवेदयामि' इत्यादिशब्दाभिव्यंग्य: तद्विलक्षणो मनोव्यापार:" (श्रीपुरु.नव.विवृ.प्रका.१). अर्थात् जैसे देहादिविषयिणी आविद्यकी अहंता-ममताके त्याग करनेपर भी पांचभौतिक देह या उसपर स्वामित्व छूट नहीं जाता वैसे ही निवेदन और/अथवा समर्पण की प्रक्रियामें स्वस्वत्वके परित्याग बिना निवेदित और/अथवा समर्पित वस्तु या वित्त का अन्यार्थक विनियोग सम्भव है. इसमें विशेषतया अवधारणीय यही है कि-

अर्पण

तनुजसेवाकर्तृपुरुषार्थक (च)
परसेव्यभगवत्स्वरूपार्थक (छ)
स्वसेव्यभगवत्स्वरूपार्थक (ज)

(च) इस कल्पमें वित्तदाताका स्वत्व निवृत्त नहीं हुआ होनेसे ऐसे वित्तके विनियोगपूर्वक स्वतनुद्वारा की गई भगवत्सेवा तनुवित्तजा नहीं कही जा सकती. परन्तु जिन संबंधोंमें वित्तराशिपर किन्हीं दो जनोंका अविभक्त स्वत्व हो-यथा मातापिता-सन्तति, पति-पत्नी, भ्रातृत्रयी, मित्रद्वयी या अन्य भी यथायथका सम्भूय समुत्थान हो (द्रष्ट. "वाणिक्प्रभृतयो यत्र कर्म सम्भूय कुर्वते तत्सम्भूयसमुत्थानं व्यवहारपदं स्मृतम्" नारदस्मृतिवचन -व्यवहारमयूख संभू.समु.प्रक.-"बहूनां सम्मतो यस्तु दद्यादेको धनं नर: करणं कारयेद् वापि सर्वैरेव कृतं भवेत्" बृहस्पतिवचन-व्यवहारमयूख संभू.समु.प्रक.) तो किसी एकतरद्वारा अत्यतरको सेवार्थ द्रव्य देनेपर न तो देनेवालेका स्वत्व निवृत्त होता है न ही लेनेवालेके पूर्वसिद्धस्वत्वसे अधिक कोई स्वत्व पैदा ही होता है. अत: इन अपवादनके उदाहरणोंके छलसे विभक्त स्वत्ववाले किसी एक व्यक्तिद्वारा अन्यको सेवार्थ अर्पित किये गये धनसे तनुजासेवा करनेपर तनुवित्तजासेवा सिद्ध हुई नहीं मानी जा सकती; जैसा कि विमर्शकार छल

करना चाहते हैं, गुरुद्वारा शिष्यसे द्रव्य लेनेके संबंधमें. गुरु-शिष्योंकी सम्पत्ति यदि अविभक्त हो तो दोनोमेंसे किसी एकके पिताके दिवंगत होनेपर अन्यको दायभागी भी मानना पडेगा. जैसे गोस्वामि महाराजके नित्यलीलाप्रविष्ट होनेपर बहुजी-बालकोंकी तरह वैष्णवोंको भी उनके हिस्सेकी संपत्ति मिलनी चाहिये. किसी वैष्णवके भी गोलोकवासी होनेपर गोस्वामी महाराजोंको वहां दायभाग मिलना चाहिये. सम्भवत: ऐसी स्थितिमें जिनका दायभाग गोस्वामि महाराजोंको मिलता है उनउनका सांवत्सरिक श्राद्ध भी उनका आवश्यक कर्तव्य हो जायेगा. एवं मृतपुरुषका न चुकाया हुआ ऋण भी चुकाना पडेगा: ‘‘अविभक्तै: कुटुम्बार्थे यदृणं तु कृतं भवेद् दद्युस्तद् रिक्थिन: प्रेते’’ (याज्ञ.स्मृ.व्यव.२।४८).

(छ) भगवत्स्वरूपार्थक निवेदित-समर्पित द्रव्यपरसे क्योंकि निवेदन-समर्पणकर्ताका स्वत्वव निवृत्त नहीं होता अत: स्वसेव्यप्रभुकी सेवामें ऐसे परद्रव्यके विनियोगपूर्वक स्वयं तनुजासेवा करनेसे तनुवित्तजा सेवा सिद्ध हुई नहीं मानी जा सकती. स्वमार्गानुगामी अधिकांश वैष्णवजनोंको आज यह कह कर ही बरगलाया जा रहा है कि अपने यहां ‘‘भिन्नमार्गपरं मतम्’’ अज्ञानुरोधवश दान होता ही नहीं, अत: समर्पित द्रव्य-सामग्रीका प्रसाद लेनेमें दोष नहीं है. परन्तु उस स्थितिमें या तो गोस्वामिओंकी सम्पत्तिपर अनुगामि वैष्णवजनताका अविभक्त स्वत्व या अनुगामि वैष्णवजनताकी सम्पत्तिपर गोस्वामिओंका अविभक्त स्वत्व गलेपतित होगा. अन्यथा तनुवित्तजाके स्वरूपका बाध दुप्परिहार्य हो जाता है. अर्थात् इस आपत्तिसे बचनेके लिये यदि विभक्तस्वामित्ववाली सम्पत्तियां मानी जाती है तो तनुवित्तजाका स्वरूप ही घटित नहीं होता, जेसैकि किशोरीबाईकी वार्तामें है. और आधुनिक पुष्टिमार्गियोंके सौभाग्यसे, अपने गुटके अन्य अपठित गोस्वामिओंसे विपरीत, क्योंकि विमर्शकारने वार्तासाहित्यका प्रामाण्य स्वीकारा है अत: किशोरीबाईकी वार्ताके प्रामाण्यपर तो पराई सत्ताके द्रव्य अथवा सामग्री का अंगीकार ही पुष्टिप्रभु नहीं करते सो धरा गया भोग प्रसाद ही नहीं रह जाता है.

विमर्शकार एक गजबका छलावा यहां करना चाहते हैं कि ‘‘तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा’’द्वारा प्रतिपिपादयिषित तो केवल मानसीकी साधिका

कौनसी सेवा होती है और कौनसी नहीं होती है-यही है, जबकि पराये (अर्थात् अपारिवारिक या अशिष्य) व्यक्तिसे स्वसेव्यस्वरूपार्थ द्रव्य-सामग्रीके निषेधार्थ किशोरीबाईकी वार्ता है, अतः दोनोंकी प्रतिपाद्य विषयवस्तुमें अन्तर है. आजकी व्यावसायिक दुकानोंपर जैसे ग्राहककी धर्म-जाति नहीं पूछी जाती वैसे ही मंदिरोंमें भेटसामग्रीसंग्रहलोभविवश समाधानी दर्शनार्थी और मनोरथिओं की धर्म-जाति नहीं पूछते हैं. ऐसी स्थितिमें ऐसी सेवा पुष्टिमार्गीय कैसे हो सकती है? विमर्शकार छलावा करना चाहते हैं कि कोई पति पत्नीको भगवत्सेवार्थ जैसे द्रव्य देता है एतावता पति या पत्नी के द्वारा अनुष्ठित वित्तजा या तनुजा मानसीकी बाधिका नहीं बन जाती. ठीक इसी तरह गोस्वामी महाराजोंको धनिक वणिक् पुरुषोद्वारा गोस्वामी महाराजोंके सेव्यस्वरूपार्थ द्रव्य या सामग्री देनेपर भी (अकर्मण्य स्त्रैणोपम तनुजैकसेवार्थविवश) महाराजों अथवा वणिकों की मानसीसेवामें कोई प्रतिबन्ध नहीं आता.

द्रव्यसंग्रहैकाभिनिवष्टमति होनेके कारण एक इतनी मोटी बात यहां या तो विमर्शकारको समझमें नहीं आ रही है या फिर जानबूझकर छलावा किया जा रहा है. पति-पत्नीके सेव्यस्वरूप समान है तथा पति-पत्नीका वित्त अविभक्तस्वत्ववाला है अतः पतिद्वारा पत्नीको सेवार्थ प्रदत्त वित्त केवल पतिके ही स्वत्ववाला नहीं अपितु पत्नीके भी स्वत्ववाला है. क्या ऐसा अविभक्तस्वत्व महाराजों और बनियाओं की विभक्त संपत्तिओंपर स्वीकारा जा सकता है? यदि हां तो एकदूसरेके ऋणी पिताके देहत्यागके पश्चात् एकदूसरेका एकदूसरेकी सम्पत्तिमें दायभागी होनेसे ऋण चुकानेका उत्तरदायित्व भी स्वीकारना पडेगा ही! ‘‘रिक्थग्राहः ऋणं दद्याद्’’ (याज्ञ.समृ.व्यव.२।४७).

(ज) इससे सिद्ध होता है कि स्वसेव्य-भगवत्स्वरूपार्थ निवेदित-समर्पित द्रव्य या सामग्री परसे क्योंकि निवेदन-समर्पणकर्ताका स्वत्व नष्ट नहीं होता अतः प्रकृतमें इसी एक कल्पमें तनुवित्तजा सेवाका स्वरूप अबाधित रहता है.

(३) क्रय :

क्रयमें विक्रेताके स्वत्ववाली क्रय्य वस्तु क्रेताको क्रेय लगती हो तो वह क्रय्य वस्तुके मूल्यवाले वित्तके विनिमयद्वारा स्ववित्तपर स्वस्वत्व खतम करके विक्रेताका स्वत्व प्रकट करता है. उसी तरह विक्रेता अपने स्वत्ववाली क्रय्य वस्तुपरसे अपना स्वत्व खतम करके क्रेताका स्वत्व प्रकट करता है. फलत: द्रव्यका वस्त्वन्तरसे विनिमय होता है. अतएव विक्रीत वस्तुपर क्रेताका स्वत्व अबाधित होनेसे विक्रीत वस्तुका जब वह स्वयं भगवत्सेवामें विनियोग करता है तो तनुवित्तजाका बाध नहीं होता. ''बह्व्यस्समांशतो देवा दासानामप्ययं विधि: योगक्षेमवतो लाभ: समत्वेन विभज्यते'' (स्मृ.च.व्यव.अवि.प्रकट). पशु-भृत्य-दास-दासीकी भी क्योंकि विभाज्य वित्ततया गणना की जाती है अत: सेवोपयिक वस्तु या भृत्य गृहस्वामीके वित्तरूप होनेसे जैसे घरकी गायका दूध भगवानको भोग धरनेसे अथवा घरकी बैलगाडीमें प्रभुको कहीं पधरानेसे गाय या बैल की तनुजा मानी नहीं जाती तद्वत् गृहस्वामीके वेतनक्रीत या मूल्यक्रीत भृत्य गृहस्वामीके वित्तान्तर्गणित होनेसे उनका भगवत्सेवामें विनियोग तनुवित्तजाका बाधक नहीं होता. यदि आचार्यवंशज गोस्वामी भी दर्शनार्थी धनिक वणिक जनोंके वेतनक्रीत या मूल्यक्रीत दास हों तो इनकेद्वारा भगवत्सेवा करानेपर तनुवित्तजाका बाध नहीं होता. ऐसी स्थितिमें गोस्वामिओंके मंदिरोंकी वास्तविक स्वामी होगी दर्शनार्थी जनता. गोस्वामी बनेंगे वेतनक्रीत या मूल्यक्रीत दास. तब तो गोस्वामिओंके सेव्य भगवत्स्वरूपोंके उपर भी महास्वत्व गोस्वामिओंकी मालिक दर्शनार्थी जनताका सिद्ध हो जायेगा. उदाहरणतया तथाकथित षष्ठनिधिपर स्वत्वके दावेके आधारपर तथाख्यापित षष्ठपीठाधीशता भी दर्शनार्थी जनतामें निहित हो जायेगी! उस स्थितिमें चेतनवित्तरूप गोस्वामिओंका भी गोवृषभसदृश भगवतसेवार्थ विनियोग अनुमत हो पायेगा. क्योंकि उस स्थितिमें गोस्वामिओंद्वारा स्वतनुस्वनुष्ठित भी भगवद्वीषयिणी कृति गोवृषभकृतिन्यायेन न तनुजा और न वित्तजा सेवा ही रह जायेगी. गोस्वामी सभीके सभी बनियोंकी भगवत्सेवोपयिक सम्पत्ति बन जायेंगे!

अन्यथा सेवोपयिक वित्तद्वारा परिक्रीत सवोपयिक सामग्री, चाहे

चेतन हो या अचेतन, का स्वकीय भगवत्स्वरूपकी सेवामें विनियोग तनुवित्तजाका बाधक नहीं होगा. कर्ममार्गमें, परन्तु, ऋत्विजोंद्वारा अनुष्ठित कर्मका यजमान जैसे दक्षिणा प्रदानद्वारा परिक्रय करता है वैसे भक्तमार्गीय भगवत्सेवारूप कर्मार्थ अन्यका पौरोहित्य स्वमार्गमें अविहित होनेसे अकर्तव्य ही होता है. यही बात श्रीपुरुषोत्तमजीने कही है : ''नच यागो यजमानस्य वित्तदातु: फलतीति शंक्यं, तत्र ऋत्विग्दक्षिणावरणादिवद् अत्र तद्दानादे: भक्तिमार्गे भगवता अनुक्तत्वात्. अत: तथा न कार्यं किन्तु भगवदुक्तरीत्यैव कार्यम्.'' (सि.मु.वि.प्र.२) आधुनिक पुष्टिमार्गिओंके दुर्भाग्यवश विमर्शकार (पृ.१५० पर)ने इसका भावानुवाद देकर अपने कर्तव्यकी इतिश्री मान ली! फलितार्थका विचार ही नहीं किया!! उस फलितार्थकी भयंकरता विमर्शकारके विस्मयंकर मौनकी मुखर साक्षी है!!!

इससे सिद्ध होता है कि स्वयंके तनुसे अनुष्ठीयमाना भगवत्सेवामें स्ववित्तक्रीत चेतनाचेतन वस्तुओंपर स्वस्वत्व स्थापित हो जाता होनेसे उनका विनियोग तनुवित्तजा सेवाका बाधक नहीं होता. इस संदर्भमें यह वचन अनुसंधेय है : ''गृहजातस्तथा क्रीतो लब्धो दायादुपागत: अनाकालभृत: तद्वद् आहित: स्वामिना च य: मोक्षितो महतश्चर्णाद् युद्धप्राप्त: पणे जित: तवाहमित्युपगत: प्रवृज्यावसित: कृत: भक्तदासश्च विज्ञेय: तथैव वडवाहृत: विक्रेता चातमन: शास्त्रे पञ्चदश: स्मृता:'' (मिता.२।१८२). इसमें सिद्ध होता है कि परिक्रीत-दायादुपागतादि वित्तभेदसदृश दासोंके भी प्रभेद मान्य होते थे अतएव दास वित्तान्तर्गणित वित्तोपम उनका विनियोग तनुवित्तजाके स्वरूपका बाधक नहीं होता.

(४) परायत्तीकरण:

'परायत्तीकरण'का अर्थ न्यायकोशकारने यों दिया है : ''तत्कर्तृकनिर्णेजनेच्छाप्रकाशको व्यापार: यथा 'रजकस्य वस्त्रं ददाति' इत्यादौ 'ददाति' अर्थ:. 'निर्णेजनं' च मलापकर्ष:'' (न्या.को.दान.२). वैसे यह एक हकीकत है कि प्राय: धर्मवैतंसिक धनिक लोग अपनी कमाईका मलापकर्षण सार्वजनिक मंदिरोंमें प.भ.मनोरथी बनकर करवा लेते हैं. फिर भी

परायत्तीकरणको इतने सीमित अर्थोंमें न लेकर आभूषणनिर्माणार्थ स्वर्णकारके स्वरूपानुरोधवश गुणाधानार्थ भी स्वकीय वस्तु या द्रव्य को परायत्त बनाया जा सकता है. इन सभी उदाहरणोंमें, परन्तु, स्वत्वनिवृत्ति की नहीं जाती अत: परायत्तीकरणकी प्रक्रियाद्वारा प्रदत्त वित्तसे भगवत्सेवा करनेपर तनुवित्तजाका स्वरूप खंडित होता ही है, वित्तदाताका वित्तके उपरसे स्वत्व निवृत्त नहीं हुआ होनेसे. यह वित्तनिष्ठ अनिवेदितत्व-असमर्पितत्वरूप मलके अपकर्षणार्थ रजकोपस गोस्वामिहस्तमें परायत्तीकरण स्वीकारा जाये अथवा निवेदितत्वअसमर्पितत्वरूप गुणातिशयके आधानार्थ स्वर्णकारोपम गोस्वामिहस्तमें परायत्तीकरण स्वीकारा जाये, परिस्थितिमें कोई अन्तर नहीं पडता!

वैसे गुरुके मनोभिलषितकी पूर्तिके लिये गुरुके सेव्य भगवत्स्वरूपके सन्मुख दर्शनार्थी जनता अपनी भेट-सामग्री भगवदायत्त करती है -ऐसी क्लिष्टकल्पना करनेपर भी वित्तदाताने क्योंकि अपने वित्तपरसे स्वत्वनिवृत्तिपूर्वक गुरुस्वत्वापादन नहीं किया है एतावता श्रीपुरुषोत्तमजीके स्ववृत्तिवादस्थ ''तेन गुरुत्वमेव वृत्तित्वेन फलति. युक्तं चैतद्, अनुपकृत्य परस्वग्रहणे ऋणित्वेन बन्धस्य प्रसंजनात्. किञ्च ऋतोत्तरम् अमृताख्याया: अयाचितवृत्ते: उक्तत्वात् तस्यामपि शिष्यस्यैव ग्राह्यं न इतरस्य तु -एवं संकोचे तस्यामपि प्रशस्ततवसिद्धि:.'' वचनानुरोधवश अगौरवमयी परद्रव्योपजीविनी वृत्तिके अपराधवश ऋणित्वेन बंधप्रसंग तो वज्रलेपायित ही है. स्वयं बद्धतैकरुचि अन्यका उद्धार क्या करेगा! ''आजीवन् स्वेच्छया दण्डयो दाप्यस्तच्चापि सोदयं याचितान्वाहितन्यासनिक्षेपेप्वप्ययं विधि:'' (याज्ञ.स्मृ.व्यव.३।६९) की व्याख्यामें यहां स्पष्टतया कहा गया है कि 'याचित'=किसी छोटे-मोटे कामके लिये मांगी गई कोई वस्तु. 'अन्वाहित'= किसी आर्थिक कष्टमें फंसे हुए व्यक्तिद्वारा गिरवी रखी हुई वस्तु; अथवा किसी वस्तुके प्रतिग्रहप्रसंगमें केवल प्रतिग्रहीतनयनार्थ ही उपकरणत्वेन प्रदत्त अन्यथा अप्रदत्त वस्तु. 'न्यास'=किसी निर्दिष्ट स्वरूपवाली वस्तु जो केवल रक्षणार्थ सौंपी गई हो. 'निक्षेप'=किसी एक व्यक्तिद्वारा किसी दूसरेको देनेके लिये तीसरेके हाथोंमें सौंपी गई वस्तु. इनसे जो अपनी आजीविका चलाता हो

तो शासकका कर्तव्य है कि ऐसे व्यक्तिको दण्डित करके उसके पाससे द्रव्य या वस्तु खौंसकर सच्चे मालिकको लौटा दे.

इससे सिद्ध होता है कि परायत्तीकरणकी प्रक्रियाद्वारा लब्ध वित्त प्रतिदेय होनेसे तनुवित्तजाका स्वरूपसाधक नहीं है.

अतएव शास्त्रमें कहा गया है–

''वर्तते यस्य यद् हस्ते तस्य स्वामी स एव न ।
अन्यस्वमन्यहस्तेषु चौर्याद्यैः किं न वर्तते ? ।।
तस्माच्छास्त्रतएव स्यात् स्वाम्यं नानुभवादपि ।
नच स्वमुच्यते तद्वत् स्वेच्छया विनियुज्यते ।।
विनियोगोपि सर्वस्य शास्त्रेणैव नियम्यते ।''

(स्मृतिचन्द्रिका व्यव.कां.पृ.६००-६०१)

कहां धर्मशास्त्रोंका यह उदात्त आदर्श और कहां विमर्शकारका अधोलिखित कैतव–

(ट) ''गुरुकी आज्ञा प्राप्त होनेपर गुरुघरमें जब वैष्णव गुरुघरके ठाकुरजीका दर्शन करते हैं तब...**उपायनद्रव्यका अर्पण–ये दोनों गुरुकी आज्ञाके पालनके रूपमें होनेसे गुरुसन्तोषजनकक्रियात्मक होनेसे गुरुसेवाके अनतर्गत ही है, गुरुसेवाके बहिर्भूत नहीं**. गुरुघरके ठाकुरजीके लिये वैष्णवोंद्वारा गुरुको अर्पण किये जानेवाले द्रव्यपर स्वत्व नहीं रहता और न तो ठाकुरजीका ही स्वत्व रहता है. इस विषयमें सबसे दृढ प्रमाण यह है कि गुरुघरमें ऐसे द्रव्यको पृथक् रखनेकी व्यवस्था नहीं रही न है.'' (विमर्श पृ.१३८)

(ठ) ''गुरुका पूर्णस्वत्व स्थापित होनेपर देवद्रव्यभक्षण किंवा देवद्रव्यग्रहणका प्रसंग नहीं है. जहांपर गुरुका पूर्णस्वत्व स्थापित न होता हो वहांपर मनोरथसंपादनके लिये प्राप्तद्रव्यका भगवत्सेवामें विनियोग होनेपर महाप्रसादग्रहणमें कोई दोष नहीं. परन्तु यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि मनोरथसंपादनके लिये प्राप्तद्रव्य **ठाकुरजीका उपानयनद्रव्य न हो, तथा ठाकुरजीको 'तुभ्यमहं सम्प्रददे न मम' कहकर दान किया न हो**.''(विमर्श पृ.१४०)

(ट) वचनमें देवार्थ उपायनपर गुरुका निर्हेतुकस्वतव मान लिया गया है. **(ठ)** वचनमें उपायन न हो तो देवद्रव्य नहीं होता ऐसा कहा जा रहा है. पृ.१४६पर श्रीमहाप्रभुने क्यों नहीं सोनेकी कटोरी गिरवी धरनेपर प्रसाद लिया उसका श्रुतकारण –''जो कटोरी धरिके सामग्री आई सो तो भोग श्रीठाकुरजी आपहीके द्रव्यको आपही आरोगे सो आपहीको भयो. जो श्रीठाकोरजीको द्रव्य खायेगो सो मेरो नाहि अरु मेरो सेवक भगवदीय (क्योंकि आधुनिक गोस्वामी तो भगवदीय नहीं होते, स्वयं पुरुषोत्तम होते हैं) होयगो सो देवद्रव्य कबहू न खायेगो. जो खायेगो सो महापतित होयगो. तातें वा प्रसादमेंते भोजन करवेको अपनो अधिकार न हतो.''–छोडकर प्रकृतमें सर्वथा अश्रुतकारणकी कल्पना कि ''दाने हि न स्वविनियोग:''नियमवशात् आपने प्रसाद न लिया और श्रीमहाप्रभुके दु:खी होनेसे दु:खित वैष्णवोंने भी नहीं लिया! इसी तरह जहां न्यासप्रलेखद्वारा गुरुने स्वत्व निवृत्त कर दिया हो वहां निवृत्ति अज्ञानकृत एवं बलकृत होनेसे स्वत्व अनिवृत्त ही रहता है. स्पष्ट है कि यह अज्ञान पैसा कैसे कमाना उसका नहीं है क्योंकि उसके तो अनेकानेक उपायोंक आधुनिकगुरु महाविज्ञ होते हैं. अज्ञान केवल सिद्धान्तका होता है और निर्बलता अर्थोपार्जनार्थ मिथ्याप्रलेख कर स्वात्मा, स्वानुगामी तथा स्वदेशशासनको छलनेमें नहीं परन्तु केवल अपनी शुद्ध चरणभेटपर यदृच्छालाभसंतुष्ट होनेकी निर्बलता विवक्षित है. अन्यथा अज्ञानी अस्वधर्मपरायण अर्थैकाभिनिवेशी और गुरु तो तम:प्रकाशवान् होने जैसी विरुद्धधर्माश्रयी पुरुषोत्तमता ही हो सकती. अपना तो भागवतमूलक प्रोज्झितकैतव धर्म (!) है न? अस्तु. भगवदिच्छैव बलीयसी सर्वोद्धारविरोधिनी!

अत: परायत्तीकरणकी प्रक्रियाद्वारा प्राप्तद्रव्यसे न तो तनुवित्तजा संपन्न हो सकती है और न स्वोपभोग और न किसी दूसरे कीर्तनियाजीके सदृशको दान ही.

वैसे यदि गुरुको ही उद्देश्य बना कर दिये जानेवाले वित्तदानको गुरुके सेव्य भगवत्स्वरुपके सन्मुख परायत्त किया जा रहा है –ऐसी अद्ययावत् किसी भी दर्शनार्थी वित्तदाताके मनोव्यापारकी अविपयीभूता कल्पना भी ''तुप्यतु

दुर्जन'' न्यायेन करते हैं, तब भी स्वयं मेरे पास सुरतकी हवेली तथा यहां श्रीयदुनाथजीकी हवेलीकी रसीद एक व्यक्तिने दोनों मंदिरोंके समाधानीके आवाजकी केसेट रेकोर्डके साथ सौंपी है, जिनमें यहां बंबईमें गुरुभेटके अलावा श्रीठाकुरजीकी भेट-सामग्रीकी अलग अलग रसीदें हैं जो इस बातका प्रमाण है कि गुरुसेवान्तर्गत श्रीठाकुरजीकी भेट-सामग्री नहीं ली जा रही. सुरतके समाधानीने केसेटमें यह कहा है कि महाराजश्रीको भेट धरनी हो तो उपर जाओ, यहां तो श्रीठाकुरजीकी ही भेट-सामग्रीके रुपये लिये जाते हैं. पर श्रीठाकुरजीकी किस सेवाके लिये ले रहे हैं -ये लिखके नहीं देंगे क्योंकि कानूनी लफडे हो जाते हैं. अस्तु.

वैसे इस सारे कैतवका घटस्फोट श्रीपुरुषोत्तमजीकी यह पंक्ति कर देती है : ''दानं नाम स्वत्वपरित्यागपूर्वक: परस्वत्वोत्पादनानुकूल: ''तुभ्यमहं संप्रददे न मम'इत्यादिशब्दाभिवयंग्यो (न तु शब्दोच्चारनैयत्यरूपो, अन्यथा समर्पणेपि तादृशशब्दोच्चाराभावे समर्पणाभावप्रसक्ते: दुरुद्धरत्वात् - गो.श्या.म.) मनोव्यापार: (न तु वाग्व्यापार: - गो.श्या.म.) तस्मिन् कृते सति 'हि' निश्चयेन 'न स्वविनियोग:' दत्तापहारदोषोत्पादकत्वात्. निवेदनं तु तदीयत्वानुसंधानपूर्वक: स्वत्वाभिमानत्यागानुकूल: 'तुभ्यमहं समर्पयामि निवेदयामि' इत्यादिशब्दाभिव्यंग्य तद्विलक्षणो मनोव्यापार:. तस्मिन् कृते तु न स्वविनियोगो दोषाय, दत्तापहारदोषानुत्पादकत्वात् तत्र गमकमाहु: 'अन्यथे' त्यादि. यदि स्वत्वत्यागपरस्वोत्पत्यानुकूल्ययो: दाने निवेदने च तु तुल्यतायामपि कश्चिद् विशेषो न स्याद् तदा पुराणेषु अनिवेदितस्य निषिद्धत्वात् निवेदितान्नादे: भोजनं नोकतं स्यात्.'' (नव.विवृ.प्रका.१) इस विमर्शकैतवकी धर्मवत्सलता(!) का यह मुखर प्रमाण है कि दान-निवेदन दोनोंमें ही विमर्शकार भगवद्विनियोगानन्तर उपभोगको प्रशस्त मान रहे हैं. ऐसे ही 'न स्वनियोग:' और 'न विनियोग:'का महान विमर्शाडम्बर भी एकत्र दत्तापहारदोषोत्पत्ति अपरत्र दत्तापहारदोषानुत्पत्ति के वैलक्षण्यसे स्वत: प्रत्याख्यात हो जाता है. क्योंकि यहां स्व-परोपभोगके स्वकृत या परकृत उभयत्र ही समानभावसे प्रवृत्त एवं निवृत्त होता है. शब्दोच्चारके कर्माडंबरनियतिकी हास्यास्पद कल्पना तो केवल बाललीला ही है!

(५) न्यास :

‘‘राजचौरभयाद् दायादानाञ्च वञ्चनात् स्थाप्येतेऽन्यगृहे द्रव्यं न्यासः तत्परिकीर्तितम्’’ (द्र.बृहस्पतिवचन-स्मृ.चन्द्रि.निक्षे.स्था.) वचनानुसार यह स्पष्ट है कि न्यासी वित्तदाता अपने स्वत्वकी सुरक्षाके लिये किसी दूसरेको जब वित्त देता है-सौंपता है, तब वित्तपरसे उसका स्वत्व निवृत्त नहीं होता. अतः ऐसे वित्तका भगवत्सेवामें विनियोग मानसीसाधिका तनुवित्तजाके स्वरूपका नाशक होनेसे तथा परद्रव्यापहरणके दोषका भी जनक होनेसे यह कल्प तो प्रकृतविचारोपयोगी नहीं है.

फिर भी धर्मशास्त्रामूलक आधुनिक कराधान कानूनोंसे अपनी सेवोपयोगिसम्पत्तिकी सुरक्षा करनेको बनाये गये सार्वजनिक ट्रस्टडीड कि जिसमें ट्रस्टनिर्माता गोस्वामी स्वयं प्रलेख कर देते हैं कि सेवास्थल उनका निजी गृह नहीं -सार्वजनिक देवालय है -सेवोपयिक वित्त कराधानार्ह नहीं क्योंकि उनका नहीं प्रत्युत जनताका जनताके प्रतिनिधि ट्रस्टिओंके सहयोगसे संचालित भगवत्स्वामिक वित्तसे अनुष्ठीयमाना सेवार्थ है इत्यादि-इत्यादि. ऐसे सब मिथ्या प्रलेख अज्ञानवश या प्रशासनभयवश निर्मित हुए होनेसे उनके वास्तविक स्वरूपके बाधक नहीं होते. इस सन्दर्भमें विमर्शकारके द्वारा किया गया कुशकाशावलम्बन जितना अविचारितरमणीय है वह विमर्शवक्तव्यके समान अन्य वक्तवयको बिम्बप्रतिबिम्बभावसे देखनेपर पता चलेगा.

विमर्शबिम्ब	विशोधनप्रतिबिम्ब
जो लोग समझते हैं कि बंद कमरेमें भगवत्सेवा करना ही भगवत्सेवा है वे स्वयं भ्रममें हैं. क्योंकि बंद कमरेमें जो भगवत्सेवा होती है वह न्यायालयकी परिभाषामें सदा गृहसेवा ही रहेगी-इस बातकी कोई शाश्वती नहीं है... मान लीजिये कि कल ऐसा नियम बना कि ‘‘भगवत्सेवा जहां होती हो वह स्थल	जो पति समझते हैं कि बंद कमरेमें पत्नीका पुरे रहना. पत्नीके शीलकी सुरक्षा है...वे स्वयं भ्रममें हैं क्योंकि बंद कमरेमें जो पत्नीयां पुरी रहती हैं वहा लंपट बलात्कारी गुंडे कभी पहोंच नही पायेंगे -इस बातकी कोई शाश्वती नहीं है...मान लीजिये कि कल ऐसे लंपट बलात्कारी गुंडे ऐसी दुर्भावना बांध ले कि बंद कमरोंमें पुरी रहनेवाली किसी भी सुशील पत्नीके

सार्वजनिक होता है.'' फिर भगवत्सेवा बंद कमरेमें हो या बंद कमरेमें न हो, वहां दर्शनार्थ लोग आये या न आये वह सेवा सार्वजनिक ही है. तब क्या करना? (विमर्श पृ.१८२)

...देवदर्शनके लिये लोगोंके आने मात्रसे स्थल सार्वजनिक नहीं हो जाता. सार्वजनिक स्थल एवं गृहकी परिभाषा धर्मशास्त्रानुसार ग्राह्य है न कि अधार्मिक न्यायालयीय निर्णयानुसार (परिभाषा) ग्राह्य है. अत: सम्प्रदायमें आज भी तत्तत् स्थलोंमें होनेवाली सेवा गृहसेवा ही है, सार्वजनिक नहीं. जिन स्थलोंमें आपत्तिकालीन व्यवस्थाके रूपमें भगवत्सेवोपयुक्त सम्पत्तिके रक्षणार्थ ट्रस्टका बाह्य स्वरूपमात्र दिया गया तथा मनसे ट्रस्ट न बनाया गया हो वहांकी सेवा गृहसेवा नहीं -ऐसा भी नहीं कहा जा सकता. जिन स्थलोंमें अज्ञानसे या बलजबरीसे ट्रस्ट बनाये गये हों वहांके ट्रस्टका तो कोई अस्तित्व ही नहीं. अत: ऐसे स्थलमें होनेवाली सेवा गृहसेवा नहीं -ऐसे भी कहा नहीं जा सकता है.

(विमर्श पृ.१८३)

शीलको भ्रष्ट ही करना तो फिर कोई पत्नी बंद कमरेमें पुरी रहती हो या न हो, उसके घरमें वह लंपट बलात्कारी गुंडोको घुसने दे या न दे, उसका शील तो लंपट बलात्कारी भ्रष्ट करेंगे ही. (एक स्वैरिणीकी डायरीके पृ.१८२ पर).

...लंपट बलात्कारी गुंडोंको अपने घरमें आनेमात्र देनेमें किसी सुशील गृहवधूको दु:शीलता की परिभाषा धर्मशास्त्रानुसार ग्राह्य है न कि शंकाशील पतिकी कल्पित परिभाषाके अनुसार. अत: पासपडौस में आज भी जिन गृहिणिओं के पास लंपट बलातकारी गुंडोंका आना-जाना बना हुआ है उन सभीको सुशील गृहवधू ही समझना चाहिये, वारवधू नहीं. जहां कहीं आपत्तिकालमें किसी गृहवधूको लंपट बलात्कारी गुंडोंको अपना तन बाह्यरूपसे मात्र समर्पित करना पडा परन्तु मनसे लंपट बलात्कारी गुंडोंको अपना तन समर्पित न किया हो उन्हें भी वे सुशील गृहवधू नहीं -ऐसा भी कहा नहीं जा सकता. जिस गृहवधूका पातिव्रत्यधर्मके अज्ञानवश या [१]बलजबरीसे शीलभ्रष्ट किया गया हो वहां तो चरित्रभ्रष्टताका कोई प्रसंग ही नहीं है. अत: ऐसी सभी गृहवधू परमसुशील पातिव्रत्य-धर्मपरायणा नहीं-ऐसे भी कहा नहीं जा सकता है. (एक स्वैरिणीकी डायरीके पृ.१८३ पर)

१. **‘‘बलाद् दत्तं बलाद् भुक्तं बलाद् यच्चापि लेखितम् सर्वान् बलकृतानर्थानकृतान्मनुरब्रवीत्’’** (मनुस्मृ.८।१६८)

वैसे मयूखकार स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं कि ‘‘(दायनिर्णयोपयोगिस्वत्वं) तच्च क्रयप्रतिग्रहादिजन्यशक्तिविशेषः तत्कारणता तु लोकव्यवहारादेव गम्यते, न शास्त्रात्. तदनभिज्ञानामपि तद्दर्शनाद् इति तल्लोकसिद्धकारणानुवादकं स्वामित्वध्वंसमात्रेण यत्स्वस्य भवति तस्मिन् रिक्थमिति प्रयुञ्जते लोकः’’ (व्यवहारमयूख.स्वत्वनिरूपणम्).

यदि धर्माचार्य स्वयं न्यासप्रलेख करता है – न्यासप्रलेखानुसार स्वयं आचरण करता है तथा अन्योंको भी वैसा ही उपदेश देता है तो ३–४ पीढीमें उसका शिष्टाचारप्रामाण्य भी सिद्ध हो ही जायेगा, जो विमर्शकारका विचारसर्वस्व है. जबकि धर्मशास्त्रके अनुसार कोई धार्मिक प्रशासक निर्णय भी लेने जायेगा तब ‘‘प्रमाणं [१]लिखितं [२]भुक्तिः [३]साक्षिणश्चेति कीर्तितम्’’ (याज्ञ.स्मृ.व्यय.१।२२) वचनानुसार [१]न्यासप्रलेखपत्र तदनुसार [२]जनसाधारण द्वारा उस स्थलका धार्मिक उपभोग और [३]साक्षि –तीनों ही मिल जायेंगे. तब धर्मतः क्या न्याय्य था और क्या अन्याय्य कैसे पता चलेगा? क्योंकि धार्मिक प्रशासक भी धर्मशास्त्रानुसार ही न्याय देगा. यथा–

‘‘पश्यतोऽब्रुवतो भूमेर्हानिर्विंशतिवार्षिकी ।
परेण भुज्यमानाया धनस्य दशवार्षिकी ।।’’

तो जहां पचीस–पचीस वर्षोंसे सार्वजनिक अर्थात् सर्वजनस्वामित्वके विरुद्ध अर्थलोलुप–स्त्रैण–कापुरुष भीरु बनकर आवाज न उठाई जाये और बादमें ऐसे अधर्मका समर्थन खुदपर हुए अत्याचारके बहानेके द्वारा किया जाये कि ‘‘सर्वान् बलकृतानर्थानकृतान् मनुरब्रवीत’’ तो वह धर्मनिर्णय होगा कैसे?

क्यों मनुके–‘‘नेहेतार्थान् प्रसंगेन न विरुद्धेन कर्मणा । न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्त्यामपि यतस्ततः (मनुस्मृ.४।१५)’’ वचनानुसार अपनी चरणभेटसे सन्तुष्ट रह कर अपने सेव्यप्रभुपर अपना कानूनी स्वत्व रखनेकी विशुद्ध भावना नहीं है? क्यों सेवोपयोगि सम्पत्तिकी सुरक्षाके लिये सेव्यपरसे

कानूनी दावा निरस्त हो जाये इस हद तककी अर्थाभिनिवेशिता रखी जाती है? क्या कोई पति, अपनी स्वर्वाभरणभूषिता पत्नीका अपहरण कोई गुंडे अर्थ-कामवासनापूर्त्यर्थ कर रहे हों तो, ''पत्नीको चाहे ले जाओ परन्तु उसे सुख पहुंचानेवाले आभूषणोंको छोड दोगे तो यह स्त्री मेरी पत्नी नहीं तुम्हारी है'' - ऐसा प्रलेख करेगा? यदि नहीं तो स्वसेव्य प्रभुस्वरूपसे अधिक क्या सेवोपयोगी सम्पत्ति हो सकती है? यह कैसा कैतवजाल फैलाया जा रहा है! इसके दुष्परिणाम क्या होंगे यह कभी स्वार्थान्ध्यको त्याग करके हमें विचारना है कि नहीं?

अत: विमर्शकैतव धर्मार्थ नहीं परन्तु धनार्थ है यह सुस्पष्ट है. अन्यथा पुत्रोपम शिष्योंकी कहीं बहुजीओंपर कुदृष्टि न पडे अत: अपनी बहुजीओंको गोस्वामिगण जनानेमें=परदेमें रखते हैं! अपने ठाकुरजीका गाममें प्रदर्शन वह धर्मानुमोदित है या नहीं -के विचारको भूलकर भी देखें तो कुछ और ही बात समझमें आती है. जनताके लिये जनताके द्रव्यसे चलते मंदिर सार्वजनिक ही होते हैं ऐसे कानूनोंके रहते हुए भी अपने सेव्य भगवत्स्वरूपकी रक्षाके लिये व्यग्र होनेके बजाय जनाताके लिये जनताके द्रव्यसे जनताके स्वत्वका न्यासप्रलेख भी करनेकी वकालत करते आज हम लज्जित नहीं होते - यह आश्चर्यकी बात है! प्रतीत होता है हमारी परम आराध्य जनता है और जनार्दन तो केवल जनाराधनार्थ एक वृत्त्युपाय!

(६) निक्षेप:

निक्षेपकी परिभाषा याज्ञवल्लक्यस्मृतिके व्यवहाराध्यायके उपनिधिप्रकरणमें ६९वें श्लोककी व्याख्यामें, ''निक्षेपो अन्यहस्तएव यद् अन्यस्मै देयत्वेन निक्षिप्तम्'' कहकर दी है. परन्तु व्यवहारमयूखने नारदोक्त ''स्वद्रव्यं यत्र विश्रंभान्निक्षिपत्यविशंकितो निक्षेपं नाम तत्प्रोक्तं व्यवहारपदं बुधै:, असंख्याततमविज्ञातममुद्रं यन्निधीयते तं जानीयाद् उपनिधिं निक्षेपं गणिकं विदु:'' वचन देकर ''यो निक्षेप नार्पयति यश्चानिक्षिप्य याचते तावुभौ चौरवत् शास्यौ दाप्यौ वा तत्समं दमम्'' मनूक्त वचनद्वारा निक्षेपापहारीको चौरवद् दण्डनीय भी माना है. अत: अन्यार्थनिक्षेप अथवा स्वार्थनिक्षेप - यों

दो प्रभेद भी उनके मान लें तो अन्यार्थ निक्षिप्त तत्स्वामिक बन जाता है; जहां निक्षेपदाता या निक्षेपग्रहीता के स्वामित्वका कोई प्रसंग नहीं. स्वार्थ निक्षेपमें निक्षेपदाताने अपना स्वत्वत्याग नहीं किया होता है. अत: ऐसे निक्षिप्त वित्तका भगवदर्थ विनियोग तनुवित्तजाके स्वरूपका तो विघातक होता ही है. अन्तर इसमें केवल यही है कि अपवादरूपेण भगवदर्थ निक्षिप्त वित्तसे भी आपत्तिकालमें अपवादरूपेण भगवत्सेवाका अनुष्ठान संभव है. विमर्शकारद्वारा, परन्तु, 'गोमयपायस'न्यायेन प्रस्तावित ''भगवद्रुपभोगात्प्राक् देवद्रव्यत्वेन अनुपभोगार्हता तथा भगवदुपभोगानन्तर भगवत्प्रसादत्वेन उपभोगार्हता'' व्यवस्था तो शुद्ध अकाण्डताण्डव है. क्योंकि उस स्थितिमें निवेदन-समर्पण और दान (अपने समस्त अवान्तर उपभेदों सहित) के बीच कोई अन्तर ही नहीं रह जायेगा. फिर तो श्रीमहाप्रभुद्वारा उसे ''दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरे: न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्'' (सि.र.६) कहना और ''असमर्पितवस्तूनां तस्माद् वर्जनमाचरेद्'' (सि.र.४) कहना सर्वथा निष्प्रयोजन कथन सिद्ध होगा क्योंकि समर्पणानन्तर अर्थात् भगवद्रुपभोगानन्तर दत्त निक्षिप्त उपाहृत उपायनीकृतका अन्तर पूजा तथा भक्तिके मार्गभेदवश नहीं परन्तु भगवद्रुपभोगवश तथा भगवदनुपभोगवश ही सारी बातोंका समाधान हो जाता है.

भगवदर्थ निक्षिप्त भेट-सामग्रीपर जो गोस्वामिओंका निरंकुश स्वत्व हो, जैसा कि आभास विमर्शकार पैदा करना चाहते हैं, तो आगामी संसकरणोंमें घरुवार्ताका सोनाकी कटोरीवाला प्रसंग, चौरासी वैष्णववार्ताके अन्तर्गत संतदासकी वार्ता, २५२ वैष्णवोंकी वार्ताके अन्तर्गत किशोरीबाईकी वार्ता, आशकरणदासकी वार्ता प्रसंगोंको मनस्वी संशोधन-परिवर्धन-परिवर्तनके साथ प्रकाशित करवाना पडेगा. जैसे २५२ वैष्णवोंकी वार्ताकी किसी भी प्रतिमें सातस्वरूपान्तर्गत स्वसेव्य श्रीबालकृष्णलालजीका नाम न होनेपर भी कुछ वर्ष पहले संशोधित-परिवर्धित संस्करण प्रकाशित करवा दिया था! (इस षष्ठनिधिप्रयुक्त षष्ठपीठाधीशतावादका विस्तृत विचार ''पुष्टिमार्गीय पीठाधीश: स्वरूप और कर्तव्य'' नाम्ना प्रकाशित ग्रंथमें श्रुतिप्रकरणके प्रकाशनके बाद अब स्मृतिप्रकरण-सदाचारप्रकरण का विचार

क्रोडाक्रीडनकक्रीडाविभंगके परिशिष्टतया आगामी परिच्छेदोंमें किया जायेगा.)

प्रकृतमें अवधेय यही है कि स्वत्वकी प्रामाणिक परिभाषा क्या होनी चाहिये–इसपर शास्त्रकारोंके प्रस्थानभेद दृष्टिगोचर होते हैं :

स्वत्वम्–(क) यथेष्ट विनियोगयोग्यता –ऐसा प्राचीनोंका कहना है. जेसे ''चैत्रका धन'' कहनेपर धनपर चैत्रनिरूपित स्वत्वका निरूपण हो रहा है. यथेष्ट विनियोगयोग्यता शास्त्रत: अनिषिद्ध विनियोगयोग्यता, जो क्रय प्रतिग्रह आदि हम करते हैं, उसका विषय (अर्थात क्रीत या प्रतिग्रहीत) होना है. यह बहिरिन्द्रियवेद्य गुण नहीं होता क्योंकि प्रतिग्रहादि मानसज्ञानविशेषरूप होते हैं अत: बहिरिन्द्रियग्रहणयोग्य नहीं होते.

यहां कुछ विविध प्रस्थान दिखलाई देते हैं यथा 'स्वत्व' वस्तुनिष्ठ गुणधर्म है या अलौकिक गुणधर्म? स्वत्व शास्त्रैकसमधिगम्य होनेसे वस्तुनिष्ठ है –ऐसा जीमूतवाहनादिका पक्ष है. लोकप्रसिद्ध होनेके कारण लौकिक गुणधर्म ही है–ऐसा विज्ञानेश्वरमित्र मिश्र आदिका पक्ष मिताक्षरावीरमित्रोदयमें निरूपित हुआ है....

(ख) 'स्वत्व' क्रय–विक्रय क्रियाओंमें किसी भी द्रव्यका यथेष्ट विनियोजक धर्मविशेषरूप होता है. इसे यथेष्टविनियोगयोग्यतारूप केवल नहीं माना जा सकता –ऐसा दीधितिकार आदिका नवीन पक्ष है. यह स्वत्व दानादिसे नष्ट होता है तथा प्रतिग्रहादिसे जन्य होता है. प्रतिग्रहादि क्रियाओंके नाशके बाद भी स्वत्वव्यवहार होता होनेसे दानसे स्वत्व नष्ट होता है तथा प्रतिग्रहादिसे उत्पन्न होता है. अतएव भाविवस्तुपर स्वत्व सम्भव है. अन्यथा प्रतिमास प्रतिवर्ष देयत्वेन प्रतिश्रुत धान्यादि भावि पदार्थ हैं वहां स्वत्व उत्पन्न हो नहीं पायेगा. कुछ लोग ''मैं अपने स्वत्ववाले घरको देख रहा हूं'' अनुव्यवसायके आधारपर इसे प्रत्यक्षगम्य मानते हैं और कुछ लोग अनुमानगम्य. (न्यायकोश : 'स्वत्वम्')

कुल मिलाकर बात इतनी इस विवेचनाके आधारपर समझी जा सकती है–धर्मोपयिक अलौकिक स्वत्व धर्मशास्त्रसिद्ध ही होता है लोकसिद्ध

नहीं तथा शास्त्रत: अनिषिद्ध लौकिक व्यवहारोपयिक स्वत्व लौकिक प्रत्यक्ष, अनुमान या ऐतिह्य आदिसे सिद्ध होता है. यथा धर्मपत्नीत्व धर्मपुत्रत्व धर्मोपयोगिशुद्धि धर्मशास्त्रसिद्ध विवाहसंस्कार दत्तकविधि मार्जनादिशुद्धिविधि द्वारा होती है तथा लौकिकभार्यात्व लौकिकक्रीतपुत्रत्व लौकिकशुद्धि लौकिकप्रमाणोंसे गम्य होती है. शास्त्रत: अनिषिद्ध लोकव्यवहारका औचित्य अथवा अनौचित्य लौकिक प्रमाणोंसे ही सिद्ध होता है. अतएव षष्ठनिधित्वमूलक षष्ठपीठाधीशत्वसिद्धिके लिये लौकिक न्यायालयोंकी शरणमें जानेको अपने अनुयायिओंको प्रेरित करना पडा था, जब बडौदामें गो.श्रीद्वारकेशजीकी षष्ठपीठाधीशतया तिलकविधि हुई थी.

अत: लोकमें अन्यार्थ निक्षिप्त भेट-सामग्रीपर गोस्वामिओंका अकारण निरंकुश स्वत्व स्वीकार लेना न शास्त्रसिद्ध है और न लोकसिद्ध है. ऐसी स्थितिमें विमर्शकारका यह कथन कि गोस्वामिओंके घरमें उनकी आज्ञासे उनके ठाकुरजीके लिये उपायन गुरुसेवाके अन्तर्भूत होता है -केवल छल है. क्योंकि (१) स्वनिमित्तक भगवत्संप्रदानक उपायनीकृत परवित्तका यह परिग्रह है या (२) भगवन्निमित्तक स्वसंप्रदानक प्रतिग्रह?

(१) यदि स्वनिमित्तक भगवत्संप्रदानक उपायनीकृत परवित्तका परिग्रह हो तो जैसे स्वनिमित्तक स्वकन्यासंप्रदानक स्वबन्धुबान्धवकर्तृक उपायनपर स्वयं पिताका नहीं परन्तु कन्याका स्वत्व उत्पन्न होगा जिसका उपभोग करनेपर कन्याद्रव्यापहारी पिता बनता है. वैसे ही गोस्वामीका स्वत्व नहीं परन्तु श्रीठाकुरजीका ही स्वत्व उत्पन्न होगा. गोस्वामीके हाथोंमें वह केवल निक्षिप्त ही माना जायेगा. ऐसी स्थितिमें -

मूल : **गुर्वर्थे दारमुज्जिहीर्षन् अर्चिष्यन् देवतातिथीन् ।**
सर्वत: प्रतिगृह्णीयात् नतु तृप्येत् स्वयं तत: ।।

अनुवाद : गुर्वर्थ, विवाहार्थ, देवतार्चनार्थ, अतिथ्यर्चनार्थ किसीसे भी प्रतिग्रह किया जा सकता है परन्तु उसके उपभोगसे स्वयंको तृप्त नहीं करना चाहिये. (वासिष्ठवचन याज्ञ.स्मृ.बा.क्री.आचार. ९।२१३में उद्धृत).

मूल : य: स्वदत्तां परै: दत्तां हरेत सुरविप्रयो:
वृत्तिं स जायते विडभुग् वर्षाणामयुतायुतम् ।। (भाग.११।२७।५४)

अनुवाद : स्वप्रदत्त या परप्रदत्त सुरवृत्ति (अर्थात् देवताराधनार्थ निक्षेप) का अथवा विप्राजीविकार्थ निक्षेपका जो हरण करता है वह अयुतायुत वर्षोपर्यंत विष्ठा खानेवाला (शूकर) बनता है.

मूल : चिकित्सकान्देवलकान्मांसविक्रयिणस्तथा ।
विपणेन च जीवन्तो वर्ज्या: स्यु: हव्यकव्ययो: ।।
(मनुस्मृ.३।१५२)

यहां व्याख्या करते हुए (१) मेघातिथि (२) सर्वज्ञनारायण (३) कुल्लुक (४) राघवान्द (५) नन्दन (६) रामचन्द्र (७) मणिराम तथा (८) गोविन्दराज –सभी व्याख्याकार एकमत हैं. यथा क्रमश: (१)...‘देवलका:’ प्रतिमापरिचारका: आजीवनसम्बन्धेनेतौ प्रतिषिध्येते. (२) ‘देवलकान्’ धनार्थं देवार्चकान्. (३) ‘देवल:’ प्रतिमापरिचारक: वर्तनार्थमेवैतत्कर्म कुर्वतोऽयं निषेधो नतु धर्मार्थम्. (४) ‘देवकोशोपभोजी च नाम्ना देवलको भवेद्’ इति देवलेन निर्णीता:. (५) ‘‘देवकोशोपजीवी तु नाम्ना देवलको भवेद्’’ इति स्मृत्यन्तरवचनम्. (६) धर्मार्थे तु चिकित्सकदेवलकयो: दोषाभा:. (७) ‘देवल:’ प्रतिमापरिचारक: ‘देवकोशोपभोगी च नाम्ना देवलको भवेद्’’ इति देवलवचनात् एतत्ककर्म कुर्वत एवायं निषेधो ज्ञेय:. (८) ‘देवलक:’, प्रतिषेधो न धर्मार्थं तत्र विहिततवात्.

ये स्वार्थप्रतिष्ठापित देवकी आजीविकार्थ आराधना करनेवाले अर्थात् स्वार्थप्रतिष्ठापित देवसंप्रदानक निक्षेपके उपभोग करनेवालोंको उद्देश्य करके हैं, उत्सर्गतया. अपवादतया परार्थप्रतिष्ठापित देवसंप्रदानक अन्न-वस्त्र-पुष्प निवेदित-समर्पित या मालासदृश भगवद्रुपभुक्त वस्तुओंके भगवत्प्रसादत्वेन उपभोगकी निंदनीयताका प्रमाण नहीं है अर्थात् पूर्वोक्त उत्सर्गका अपवाद है. परन्तु परार्थप्रतिष्ठापित देवमूर्तिको ही किसी वित्तदाताद्वारा देवमूर्तिस्वत्वोत्पत्त्यर्थ उपाहृत-उपायनीकृत रजतसुवर्णभूमिकूपक्षेत्रादिका अपहरण देवद्रव्यापहारदोषोत्पादक होता ही है.

अत: या तो गोस्वामिओंको अपने आराध्य भगवत्स्वरूपको परार्थप्रतिष्ठापित सार्वजनिक देवालयमें बिराजमान मानकर स्वयंको पूजारी मानना पडेगा. ऐसी स्थितिमें किसी भी प्रधान द्वितीय या षष्ठ, सप्तम पीठोंकी षष्ठपीठाधीशताका दावा खण्डित हो जायेगा. और स्वार्थप्रतिष्ठापित भगवत्स्वरूप स्वीकारनेपर भगवदर्थ निक्षिप्त उपाहृत-उपायनीककृत भेट-सामग्रीको सोनकी कटोरी, संतदास, किशोरीबाई की वार्ताके अनुसार देवद्रव्य मानकर अपने उपभोगमें लानेकी लालसापर काबु पाना पडेगा. अन्यथा देवलकत्व या देवद्रव्यापहार वज्रलेपायित ही होगा.

(२) एतदर्थ भगवन्निमित्तक स्वसंप्रदानक उपायनीकृत परवित्तका प्रतिग्रहका कल्प अंगीकार करनेपर अधोलिखित दोषापत्ति आती है -

मूल : **न तीर्थे प्रतिगृह्णीयात् प्राणै: कण्ठगतैरपि ।**
अपि कामातुरो जन्तुरेकां रक्षति मातरम् ।।
तीर्थे प्रतिग्रहो यस्तु तीर्थविक्रयएव स: ।
विक्रीतायां तु गंगायां विक्रीत: स्याज्जनार्दन: ।।
जनार्दने तु विक्रीते विक्रीतं भुवनत्रयम् ।
यस्तु लौल्याद् द्विज: क्षेत्रे प्रतिग्रहरुचि: भवेत् ।
नैव तस्य परो लोको नायं लोको दुरात्मन: ।।

(प्रायश्चितमयूखोद्धृत पाद्मवचन)

अनुवाद : तीर्थमें प्राण कण्ठमें अटके हो तब भी प्रतिग्रह नहीं करना चाहिये, कोई कितना भी कामातुर हो परन्तु अपनी मांको तो छोडता ही है. तीर्थमें अर्थात् तीर्थनिमित्तक प्रतिग्रह तीर्थविक्रय ही है. (जेसे आधुनिक गोस्वामी व्रजयात्राद्वारा अर्थोपार्जन करते हैं) गंगाको बेचनेपर तो जनार्दनको ही बेचा समझना चाहिये. जनार्दनको बेचा तो भुवनत्रयको बेच खाया! अत: लोभवश तीर्थक्षेत्रनिमित्तक प्रतिग्रहरुचिवाले दुरात्मा ब्राह्मणका ऐहिक पारलौकिक सब कुछ बिगडा हुआ समझना चाहिये.

अतएव सर्वनिर्णयनिबन्ध तथा भागवतार्थनिबन्ध को

भागवतपुराणनिमित्तक प्रतिग्रहकी निन्दाके ये वचन भी मननीय है –''... ततो भागवतं कृतं, एतदभ्यसनाल्लोको मुच्यतेऽनुपजीवनात् ।।६७।।

साधनं परमेतद्धि श्रीभागवतमादरात् ।
पठनीयं प्रयत्नेन निर्हेतुकम–दम्भत: ।।२४२।।
पठनीयं प्रयत्नेन सर्वहेतुविवर्जितम् ।
वृत्त्यर्थं नैव युञ्जीत प्राणै: कण्ठगतैरपि ।।
तदभावे यथैव स्यात् तथा निर्वामाचरेत् ।।२५३–४।।

इदं भागवतं नामात्मकं भगवतो रूपं तत् स्वविक्रेतरि विक्रयसाध्यातिरिक्तं फलं न प्रयच्छति. (भागवतार्थप्रका.१।२७)

लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा ।। (सि.मु.१६)

'लोकार्थी'ति श्लोकस्तु संसारिमध्येपि ययो जघन्याधिकारी तत्परइति उपेक्षित:. परं तत्र अयमर्थ:–लाभपूजार्थयत्नस्य उपधर्मत्वदेवलकत्वादिसम्पादकत्वात् तद्व्यतिरिक्तेन अनिषिद्धप्रकारेण 'ऐहिकं मे भवतु' इति अनुसन्धाय प्रवृत्तो लोकार्थी. (सि.मु.वि.प्र.१६)

ऐसी स्थितिमें एकत्र नहीं किन्तु अनेकत्र तीर्थ भागवतादिमें निर्णीततया निन्दित तीर्थादिनिमित्तक भागवतादिनिमित्तक प्रतिग्रह उनका विक्रय ही होता हो तो ''असति बाधके अन्यत्र (सेवायाम्) अपि युज्यते.'' (द्रष्ट.विमर्श.पृ.१५१) क्यों नहीं स्वीकारा जाता? क्योंकि यदि साक्षात् भगवत्स्वरूपनिमित्तक स्वसंप्रदानक प्रतिग्रहको धर्म्य मान लेते हैं तो पुन: ''एकत्र निर्णीत: शास्त्रार्थ: असति बाधके अन्यत्रापि युज्यते''न्यायसे तीर्थ–भागवतादिपर भी लागू होगा. यदि तीर्थ–भागवतादिमें कण्ठोक्त निषेधको बलवान मानते हैं तो यहां भी कण्ठोक्त निषेध तो अनेक उपलब्ध होते ही हैं. फिर अन्तर केसे आयेगा?

अत: स्वार्थप्रतिष्ठापित भगवत्स्वरूपनिमित्तक स्वसंप्रदानक प्रतिग्रहको भी स्वमार्गमें अत्यन्त गर्ह्य मानना चाहिये –यह सिद्ध होता है.

इस तरह ‘‘वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारिका एका’’ वचनांशके विवेचनतया वित्तदानके अनेकविध विहित अनुमत अनिन्द्य तथा कुछ निन्द्य प्रकारोंके भी स्वरूपोंका विचार कर कैसे वे उपदिष्ट तनुवित्तजा सेवाके स्वरूपघटक हो सकते हैं या नहीं यह हमने देखा. उसके बाद ‘‘एतादृशेन (वित्तग्रहीत्रा). पुंसा कृता च अपरा’’ वचनांशके विवेचनतया वित्तग्रहणके कुछ प्रकारोंका भी स्वरूप समझ लेना उपकारक होगा–

वितागम या वित्तपरिग्रहण

दाय	**लाभ**	**क्रय**	**जय**	**प्रयोग**	**कर्मयोग**	**सत्प्रतिग्रह**
(१)	**(२)**	**(३)**	**(४)**	**(५)**	**(६)**	**(७)**

यहां व्याख्याकारोंमें प्रस्थानभेद है. तदनुसार कुछ व्याख्याकारोंके मतमें ब्राह्मणके लिये दाय–लाभ–क्रय–सत्प्रतिग्रह –यों वित्तपरिग्रहके चार धर्म्य प्रकार हैं. क्षत्रियके लिये दाय–लाभ–क्रय–जय, वैश्यके लिये दाय–लाभ–क्रय–प्रयोग–कर्मयोग; तथा क्षुद्रके लिये दाय–लाभ–क्रय. अन्य व्याख्याकारोंके अनुसार जय–प्रयाग–कर्मयोग भी क्रमश: वादिजय, अध्यापन, याजनके रूपोंमें ब्राह्मणके ही वित्तागमके धर्म्य प्रकार हैं.

वैसे इन सात विभागोंके धर्म्यत्वनिरूपणका शास्त्रीय तात्पर्य यह तो लेशमात्र भी नहीं है. ब्राह्मण इन धर्म्य उपायोंसे केवल वित्तोपार्जनपरायण ही बन जाये क्योंकि श्रीमद्भागवत तथा मनुस्मृति दोनोंका स्पष्ट आदेश है.

मूल : **इज्याध्ययनदानानि सर्वेषां च द्विजन्मनाम् ।**
प्रतिग्रहोऽध्यापनं च ब्राह्मणस्यैव याजनम् ।।
प्रतिग्रहं मन्यमानस्तपस्तेजोयशोनुदम् ।
अन्याभ्यामेव जीवेत शिलैर्वा दोषदृक्तयो: ।
ब्राह्मणस्य हि देहोयं क्षुद्रकामाय नेष्यते ।।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रत्यानन्तसुखाय च ।।
शिलोञ्छवृत्त्या परितुष्टचित्तो धर्मं महान्तं विरजं जुषाण: ।
मय्यर्पितात्मा गृहएव तिष्ठन् नातिप्रसक्त: समुपैति शान्तिम् ।।...

यस्त्वासक्तमतिर्गेहो पुत्रवित्तेषणातुरः ।
स्त्रैणः कृपणधीर्मूढो ममाहमिति बध्यते ।।
एवं गृहाशयाक्षिप्तहृदयो मूढधीरयम् ।
अतृप्पस्तानुध्यायन् मृतोऽन्धं विशते तमः ।।

(भाग.११।१७।४०-५८)

अनुवाद : यजन शास्त्राध्यायन और दान सभी द्विजोंके कर्तव्य है; याजन शास्त्राध्ययन और प्रतिग्रह ब्राह्मणके ही. जितना अधिक प्रतिग्रहमें रचता पचता है उतने ही ब्राह्मणके तप तेज और यश का नाश होता है. अतएव अध्यापन और याजन द्वारा ही आजीविका चलाना ब्राह्मणके लिये श्रेयस्कर होता है. अथवा उनमें भी दोषदर्शन होता हो तो शिलोञ्छवृत्तिसे जीना चाहिये. क्योंकि यह ब्राह्मणयोनि क्षुद्र (लाभपूजाकामनाओं जैसी) कामनाओंकी पूर्तिके लिये नहीं मिलती है. यह तो मिलती है भूतलपर कृच्छ्र-तपके लिये तथा देह छूटनेपर अनन्त (पारमात्मिक) सुख पानेके लिये. शिलोञ्छवृत्तिसे परितुष्ट चित्तवाला महान विरज धर्मका सेवन करनेवाला परमात्माको आत्मसमर्पण करनेवाला गृहमें रहनेपर भी गृह्यकृत्योंमें अतिप्रसक्त न होनेवाला ही शान्तिको पाता है... परन्तु घरमें जिसकी मति आसक्त है, पुत्रैषणा और वित्तैषणा से जो आतुर है ऐसा स्त्रैण कृपणधी मूढ अहन्ता-ममतामें बन्ध जाता है...यह मूढ घर भरनेके चक्करमें कभी तृप्त हो नहीं पाता और घरके लोगोंका ध्यान करते करते मरनेपर अन्धंतमनरकको प्राप्त करता है.

अतएव मनुस्मृतिमें भी यही कहा गया है -

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चैव षट्कर्माण्यग्रजन्मनः ।।
षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका ।
याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ।। (१०।७५-७६)

''विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः'' का वास्तविक स्वरूप समझनेके लिये

याज्ञवल्क्यका यह वचन मननीय है–

अयाचिताहृतं ग्राह्यमपि दुष्कृतकर्मण: ।
अन्यत्र कुलटाषण्डपतितेभ्यस्तथा द्विष: ।। (याज्ञ.आचा.९।२१२)

अतएव मनुस्मृतिमें कहा गया है –

अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुन: ।
या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि ।।
यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वै: कर्मभिरगर्हितै: ।
अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसंचयम् ।।
ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा ।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन ।।
ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम् ।
मृतं तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ।।
सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते ।
सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत् ।। (मनुस्मृ.४।२–६)

अतएव श्रीपुरुषोत्तमजीने शिलोञ्छादि ऋतवृत्तिको अपना पानेकी आधुनिक ब्राह्मणोंकी असामर्थ्यको लक्ष्य करके अध्यापनोपदेशपूर्विका अमृताख्या अयाचितवृत्तिद्वारा आगत चरणभेटसे जीवननिर्वाहकी नियमविधि स्ववृत्तिवादमें प्रतिपादित की है. वहां वृत्त्यर्थ भगवदपायनीकृत भेट–सामग्रीका, यद्यपि, स्पष्ट निषेध नहीं किया किन्तु उस वादग्रन्थको तथा ‘‘न च यागो यजमानस्य वित्तदातु: फलतीति शंक्यं, तत्र ऋत्विग्दक्षिणावरणादिवद् अत्र तद्दानादे: भक्तिमार्गे भगवता अनुक्तत्वात्. अत: तथा न कार्यं किन्तु भगवदुक्तरीत्यैव कार्यम्’’ (सि.मु.वि.प्र.२) और ‘‘लाभपूजार्थयत्नस्य उपधर्मत्वदेवलकत्वादिसम्पादकत्वात् तद्व्यतिरिक्तेन अनिषिद्धधप्रकारेण...’’ (सि.मु.वि.प्र.१६) वचनोंके परस्पर समन्वयपूर्वक तात्पर्योन्नयन करनेपर विहित–निषिद्ध प्रकारोंका बोध सर्वथा सुलभ है. फिर भी श्रीपुरुषोत्तमजीके ही घरमें उनके ही उत्तराधिकारियोंका यह कहना कि – ‘‘यहां यह ध्यातव्य है

कि अपने निर्वाहके लिये की जानेवाली सेवा... **महद्विमृग्य भक्तियोगकी दृष्टिसे उपधर्म है या नहीं यह सन्दिग्ध है.** परन्तु इस दृष्टिसे वह परधर्म अवश्य है.'' (विमर्श.पृ.५७-५८) एक विलक्षण अकाण्डताण्डव है.

आश्चर्य होता है कि यहां श्रीपुरुषोत्तमजीका खण्डन विमर्शकारको चिकीर्षित है या श्रीपुरुषोत्तमजीके वचनाभिप्रायावगममें स्वासामर्थ्य!

यदि खण्डन अभिप्रेत हो तो तब तो ''ततो भागवतं कृतम् एतदभ्यसनाल्लोको मुच्यतेऽनुपजीवनात् परमत्रैको महान् दोषः तदुपजीवनमिति. अतस्तदभावमाह अनुपजीवनादिति. वृत्त्यर्थमुपायो न कर्तव्यः'' (सर्वनि.प्र.६७). ''**पठनीयं प्रयत्नेन सर्वहेतुविवर्जितं वृत्त्यर्थं नैव युञ्जीत प्राणैः कण्ठगतैरपि** तदभावे यथैव स्यात् तथा निर्वाहमाचरेत्'' (सर्वनि.२५३-४). ''सूतत्वाद् वृत्तिरेषा हि तस्मान्न फलितं तथा यद्यप्येषा न विक्रीता नामविक्रयणात्तथा नामात्मकं **भगवतो रूपं,** तत् स्वविक्रेतरि विक्रयसाध्यातिरिक्तं फलं न प्रयच्छति.'' (भाग.नि.प्रका.१।२७). भागवतके वृत्त्यर्थ उपजीवनमें हेतु श्रीमहाप्रभुने 'भगवतो रूपम्' अर्थात् 'भगवद्रूपत्वात्' दिया है. अतः ''एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थः असति बाधके अन्यात्रापि युज्यते'' (विमर्श. पृ.१५१) स्वाभ्यूपेत न्यायानुसार स्वाराध्य श्रीबालकृष्णलालजीको भगवद्रूप मानते हो तो शीघ्र ही वृत्त्यर्थ उपजीवनका त्याग करना चाहिये अन्यथा स्वाराध्यकी भगवद्रूपता अभिप्रेत न हो तो श्रीपुरुषोत्तमजीके वचनका खण्डन श्रीमदाचार्यवचनके खण्डनमें पर्यवसित हो रहा है. इस स्वारूढशाखोच्छेदनकी विचित्र अर्थाभिनिवेशितात्मताके बारेमें क्या कहना?

यदि श्रीपुरुषोत्तमजीके वचनोंके अभिप्रायावगममें खुदके असामर्थ्यका द्योतन विवक्षित हो तो निर्लोभ निर्दम्भ होकर यहां भी ''क्योंकि प्रकृतिमें आनेवाले अंगोंको विकृतिमें लेना या नहीं -इस विषयमें मीमांसाशास्त्रका सिद्धान्त है कि वे अंग प्रधानके उपकारक हो तो उन्हें लेना. (अर्थात् उपकारक न हो तो न लेना) प्रकृतमें यह ध्यातव्य है कि प्रधान भगवत्सेवा है.'' (विमर्श पृ.१७५). अतः देवलकप्रकरणप्रदत्त वे सारे शास्त्रवचन जो वृत्त्यर्थ विष्णुपूजनमें भी देवलकता नहीं आती ऐसा प्रतिपादन करते हें वे

स्वत: अप्रासंगिक हो जायेंगे. क्योंकि ‘‘वचनात्प्रवृत्ति: वचनात् निवृत्ति:’’ही एकमात्र शरण होती है. वैसे इन सारे वचनोंके आधारपर किये गये विमर्शका विशोधन आगामी द्वितीयादि परिच्छेदोंमें तो सविस्तर होगा ही.

अत: वित्तागमके दायादिके सातोंके सात धर्म्य प्रकारोंद्वारा स्वस्वत्वापन्न वित्तद्वारा सेवा करनेपर ही तनुवित्तजा स्वरूप अखण्डित रहेगा. अन्यथा स्वनिमित्तक भगवत्संप्रदानक अथवा भगवन्निमित्तक स्वसंप्रदानक वित्तके स्वोपभोगपर्यवसायी परिग्रह करनेपर या तो देवस्वापहरण या देवलकता दोष वज्रलेपायित है.

ऐसी स्थितिमें श्रीमत्प्रभुचरणकी विवृत्तिके (७।ख) वचनांश, जो श्रीमहाप्रभुके ‘‘तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा’’अंशके अभिप्रायज्ञापनार्थ है, उसमें वित्तदान तथा वित्तपरिग्रहके वर्जितावर्जितप्रकारोंकी व्यवस्था स्पष्ट हो जानेपर तदनुरोधसे निष्कर्षरूप (ग) ‘‘एतेन भगवदर्थं निरुपधिस्वसर्वस्वनिर्वदनपुर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवति इति भाव:’’ विधानका आशयोन्नयन करना चाहिये न कि निष्कर्षानुरोधवश मूलवचनाभिप्रयाका अन्यथानयन. व्याप्तिवचनके अनुरोधसे पक्षमें साध्यनिर्णय की प्रतिज्ञा की जाती है न कि प्रतिज्ञानुरोधवश व्याप्तिस्वरूपका उपपादन. न्यायशास्त्रके इस सामान्यनियमका उल्लंघन विमर्शकारद्वारा स्वगृहमें विश्रुत नयायिकोंको संरक्षण देनेकी उपयोगितापर एक प्रश्नचिह्न लगाता है !

(ग) तदनुसार इस प्रभुचरणप्रदत्त निष्कर्षमें कुल कितनी बातें आयी हैं उनका अंकविन्यासपूर्वक परिग्रहण उचित होगा–

***एतेन ‘‘(१) भगवदर्थं (२) निरुपधि: (३) स्वसर्वस्वनिवेदनपूर्वकं (४) तत्रैव स्वदेहविनियोगे (५) प्रेम्णि जाते (६) सा भवति’’* इति भाव:.**

(*‘‘**एतेन इति भाव:**’’अंशोंसे प्रस्तुत पंक्ति स्वाव्यवहितपूर्वोक्तिका निष्कर्षरूप है – यह द्योतित करता है.)

(१) ‘**भगवदर्थं**’पदका अभिप्राय सेवाके प्रयोजनका परिष्कारक है यथा–

न लौकिक: प्रभु: कृष्णो मनुते नैव लौकिकम् ।
भावस्तत्राप्यस्मदीय: सर्वस्वश्चैहिकश्च स: ।।

परलोकश्च तेनायं सर्वभावने सर्वथा सेव्य:..। (शिक्षाश्लोकी).
लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा ।

ननु कश्चिद् जीविकार्थमपि भजते तस्य का गति:? इत्यत: आहु: लोकार्थी इति. लोकपदेन लौकिको अर्थ: युज्यते. तदर्थी चेत् कृष्णं भजेत् तदा व्यापारवद् अर्थे सिद्धे तस्यापि अनर्थरूपत्वेन तत्कृतभजनस्य भक्तित्वाभावात् तत्कृतं सर्वं क्लेशरूपमेव अत: क्लिष्टो भवति इति अर्थ:. न केवलं ऐहिक: क्लेश: किन्तु परलोकोपि नश्यति निषिद्धाचरणाद् इति सर्वथा इति उक्तम्. यस्य स्वल्पमपि ज्ञानं स नैवं करोति सर्वथा तद्रहित: कश्चिद् एवं कुर्यादपि इति चेद् इति उक्तम्. (सि.मु.वि.श्रीमत्प्रभुचरणकृत स्वोपज्ञप्रक्षेप श्लो.१६)

तस्य सेवां प्रकुर्वीत यावज्जीवं स्वधर्मत: ।
न फलार्थं न भोगार्थं न प्रतिष्ठाप्रसिद्धये ।।
श्रीमदाचार्यमार्गेण नान्येनापि कदाचन ।
न कल्पितप्रकारेण न दुर्भावसमन्वयात् ।।
(श्रीहरिरायजीकृत शि.प.१८।१२-१३)

''**लाभपूजार्थयत्नस्य उपधर्मदेवलकत्वादिसम्पादकत्वात् तद्व्यतिरिक्तेन अनिषिद्धप्रकारेण...**'' (सि.मु.वि.प्र.१६)

(२) 'निरुपधि' : 'निरूपधिता'का सुगमतम स्वरुप तो श्रीप्रभुचरणने ''फलात्मकनामोक्त्या स्वत: पुरुषार्थत्वेन सेवाकृति: स्वसिद्धान्तो न तु अन्यशेषत्वेन इति ज्ञाप्यते'' कहकर समझा ही दिया है.

यहांपर श्रीवल्लभजी तथा श्रीव्रजनाथजी के वचन भी अनुसंधेय हैं. यथा-

''फलरूपस्य तस्य स्वत:पुरुषार्थत्व (न तु वृत्यर्थत्व-पीठाधीशत्व-प्रतिष्ठार्थत्व-कहाडीभेटप्राप्त्यर्थत्व :गो.श्या.म.) धर्मावच्छिन्नसेवाकृति:

...फलसेवनं हि स्वत:पुरुषार्थ: यथा कामिन्या:...कामप्रयत्न्यो: एक (भगवत्प्रवणचित्तत्वरूप) विषयत्वेन इति (अर्थात् एतदितविषयकत्वे निरुपधित्वभंग:) अर्थ:.''(सि.मु.वि.टि.१)

इसी तरह श्रीव्रजनाथजीका स्पष्टीकरण भी नितान्त मननीय है- ''फलसेवनं हि स्वत:पुरुषार्थ: इति. अतएव धर्मार्थयो: काममोक्षद्वारा पुरुषार्थता. काममोक्षयोरेव साक्षात् सुखहेतुत्वात् स्वत:पुरुषार्थत्वम्.'' (सि.मु.वि.टि.१)

(३) 'स्वसर्वस्वनिवेदनपूर्वकम्'के अवलोकनसे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि सर्वप्रथम तो वित्तका स्वप्रभुसंप्रादनक दान-निक्षेप-न्यास-परायत्तीकरण नहीं किन्तु निवेदन-समर्पण ही इतिकर्तव्यतया अभीष्ट है. ताकि स्वयंका 'स्वत्व' उसपरसे निवृत्त न हो जाये. अत: 'स्व-स्व(वित्त)निवेदन' किया जाता है. दूसरे कुछ अपनी स्वनिमित्तक-स्वसंप्रदानक चरणभेटका स्वार्थोपयोग तथा भगवन्निमित्तक-स्वसंप्रदानक अथवा स्वनिमित्तक-भगवत्संप्रदानक वित्तका भगवत्सेवार्थ उपयोग करना, इसी तरह एवं देवलकतारूपनिषिद्धवृत्तिलब्ध अथवा देवस्वका ही भगवत्सेवार्थ उपयोग करना -इस तरह अंशत: नहीं किन्तु 'स्व'=स्वत्वविशिष्ट-'सर्व'=सकलचेतनाचेतनरूप 'स्व'= वित्तके निवेदन (तदुपलक्षित समर्पण/विनियोग)पूर्वक भगवत्सेवा कर्तव्य है.

अथवा 'स्व'=देहप्राणेन्द्रियान्त:करणतद्धर्मविशिष्ट आत्मा स्वयं तथा 'सर्वस्व'=दारागारपुत्राप्तवित्तेहापरका निरूपधि निवेदन-अर्थ भी शक्य है. अत: यहां ब्रह्मसंबंधदीक्षाका ही प्रभुचरण परामर्श कर रहे है.

(४) 'तत्रैव स्वदेहविनियोगे' : यहां स्वयं तथा सकलस्वकीय के निरुपधि निवेदनोत्तर अवश्यकर्तव्यताक स्वस्वीयके विनियोगकी बातपर भार दिया जा रहा है, अन्यत्र विनियोगपरिहारार्थ. 'असमर्पितवस्तूनां तस्माद् वर्जनमाचरेत् निवेदिभि: समर्प्यैव सर्वं कुर्याद् इति स्थिति:'' (सि.रह.४-५) वचनसे वह आगे विवक्षित है ही.

यद्यपि विमर्शकारने इस अंशका दुरुपयोग तनुजा-वित्तजाके पार्थक्य सिद्ध करनेको महापुरुषार्थतया किया है. फिर भी उस वाक्छलमें एक सत्य, जो बहोत सुन्दर रीतिसे उभरकर आया है, वह यह कि 'निरुपधि'=फलाकांक्षा-कापट्य-रहितता को दोनों तनुजा एवं वित्तजा के साथ जोडना चाहिये - यों कहा गया है. (विमर्श पृ.५) यद्यपि शब्दमर्यादया यह शक्य नहीं फिर भी तात्पर्यानुरोधवश सर्वथा उचित ही है. ऐसी स्थितिमें वृत्त्यर्थ सेवाको धर्म्य मानना साथ ही साथ फलाकांक्षाकापट्यरहित तनुजा और वित्तजा का भी समर्थन करना ''मम माता वन्ध्या''सदृश वदतोव्याघात है!

(५) 'प्रेम्णि जाते' : 'प्रेम्णि'की सप्तमी वैषयिकी, नैमित्तिकी अथवा सतीसप्तमी भी हो सकती है. वैषयिकी लेनेपर प्रेमविषयक स्वदेहविनियोग-ऐसा अर्थ होगा. नैमित्तिकी लेनेपर भगवत्प्रेमोपलब्धिनिमित्तवशात् भगवत्सेवामें स्वदेहविनियोग-ऐसा अर्थ होगा. अथवा सतीसप्तमी लेनेपर भगवत्सेवामें स्वदेहविनियोग होनेपर प्रेम प्रकट होता है. प्रेम होनेपर चित्त भगवत्प्रवण होकर मानसीसेवाके हेतु समर्थ बनता है. वृत्यर्थ प्रेम तथा प्रेमार्थ वृत्ति के बीच महान अन्तर होता है. पतिव्रता गृहवधू स्वपतिस्नेहार्थ पोष्य बन कर पतिवित्तोपजीविनी होती है. जबकि दुश्चरित्रा वारवधू आजीविकार्थ वित्तदाताको प्रेम करती है. स्पष्ट है कि फलाकांक्षा-कापट्य-रहित जब तनुजा या वित्तजा नहीं होती तब तो अभिलषित भेट-सामग्रीरुप फललाभार्थ अथवा पीठाधीशतारूप प्रतिष्ठार्थ ही चित्त तत्प्रवण बनेगा; वह भगवत्प्रवण नहीं बन पायेगा. इसका स्पष्ट उदाहरण विमर्शकारके इस विधानसे मिलता है -''निर्वाहके लिये की जानेवाली सेवा...महद्विमृग्य भक्तियोगकी दृष्टिसे उपधर्म है या नहीं सन्दिग्ध है. परन्तु उस दृष्टिसे वह परधर्म अवश्य है'' (पृ.५७-५८) इस स्वीकारोक्तिके बावजूद न केवल सुरतकी हवेलीमें स्वनिर्वाहार्थ दर्शनार्थिओंकी भेट-सामग्री स्वीकारी जा रही है प्रत्युत आलोच्य विमर्शग्रन्थमें उसका निर्लज्ज समर्थन और किया गया है. जबकि श्रीमद्भागवतमें स्पष्ट कहा है-''विधर्मः परधर्मश्च आभासः उपमा छलः, अधर्मशाखा पञ्चेमा धर्मज्ञोऽधर्मवत् त्यजेत्, सन्तुष्टस्य निरीहस्य स्वात्मारामस्य

यत्सुखं-, कुतस्तत्कामलोभेन धावतोऽर्थेहया दिश:।।'' (भाग.७।१५। १२,१६)

परधर्मानुष्ठानका अनुमोदन यदि धर्मस्थानोंसे शुरु हुआ तो कल वैष्णव अन्याश्रय भी करनेकी छूट लेंगे; ''शिवदुर्गागणपतिभजन उपधर्म नहीं है'' कहकर. जसे गोस्वामिसजातीयभट्टवर्ग गोस्वामिओंके बेटीजीका पाणिग्रहण करते हैं तो वह भी उपधर्म कहा हैं? सो उसमें दोषबुद्धि खतम हो जायेगी. वैष्णव भी पाणिग्रहणका प्रस्ताव लेकर आने लगेंगे ! इतना अविचारित विधान कैसे कोई धर्माचार्य कर सकता है-यह विस्मयका विषय है!

(६) 'सा भवति' : 'सा'का अर्थ मानसी सेवा या भगवत्प्रवणता यथेष्टतया लिया जा सकता है. इस तरह अत्यधिक विवादास्पद ७वे अंशकी विवेचनाके बाद श्रीप्रभुचणोत्तरकालीन सभी मान्य व्याख्याकारोंद्वारा विशेषोल्लेखनीय अंशोंके मननार्थ अब प्रवृत्त होना चाहिये.

(III) प्रभुचरणोत्तरकालीन व्याख्याएं

(१) स्वसिद्धानतविनिश्चय: यहां श्रीगोकुलनाथजीने 'विनिश्चय'के 'वि'उपसर्गका तात्पर्य साक्षात् श्रुतिनिरूपित अर्थका ही निरूपण श्रीमहाप्रभु करना चाहते हैं -इस अर्थमें लिया है. इसी रह 'स्वसिद्धान्त'पदगत 'स्व'का तात्पर्य स्वमत श्रुत्यर्थ ही है ऐसे प्रयोजनवश स्वीकारा है. यही बात श्रीकल्याणरायजीने भी स्वीकारी है. श्रीपुरुषोत्तमजीके अनुसार 'शास्त्र'=काण्डद्वयात्मक वेद अथवा तदर्थनिश्चायक वेदान्त है. '(तद्-)अर्थ'= प्रयोजन या तात्पर्य के बारेमें संशयनिरासार्थ प्रकृत उपदेश श्रीमहाप्रभु दे रहे हैं. तत्पश्चात् द्वितीयस्कन्ध-एकादशस्कन्धोक्त भक्तिके संदर्भमें यह सारा निरूपित हुआ है ऐसा विधान करते हैं. स्पष्ट है कि यह आजीविकार्थ उपदेश हो नहीं सकता. श्रीवल्लभजीने 'शास्त्रार्थ'तया गीताभागवतार्थका परिग्रहण किया है. श्रीलालुभट्टजीने श्रुतिगीतासूत्रसमाधिभाषारूप शास्त्रोंसे सिद्ध स्वकीय सिद्धान्त निरूपणार्थ प्रकृत उपदेशारंभ मान्य किया है. श्रीलालमणिसुत श्रीविट्ठलरायजीकी तथा श्रीनरसिंहलालजीकी टीकाएं क्रमश:

गुजरातीभाषा तथा व्रजभाषामें श्रीपुरुषोत्तमजीके प्रकाशका ही अनुवाद हैं या सार हैं सो यथापेक्षित सन्देहनिरसनार्थ ही उनका उद्धरण दिया जायेगा.

(२) कृष्णसेवा : श्रीपुरुषोत्तमजीने यहां स्पष्टीकरण दिया है कि कृष्ण परब्रह्म, भूमविद्योक्तनित्यनिरवधिसुखरूप होनेसे परमफलरूप है. ऐसे फलात्मक भगवान कृष्णकी सेवाको फलबुद्धिसे करना सिद्धान्त है. (अर्थात् आजीविकोपार्जनके साधनतया नहीं -यह पृष्ठलग्नायात है) साथ ही साथ श्रीपुरुषोत्तमजीने यह खुलासा भी दिया है कि मोक्षपर्यंत पुरुषार्थमें उपेक्ष्यबुद्धि जगानेवाली भक्तिलक्षणा सेवा है. (अर्थात् वित्तप्रतिष्ठादि क्षुद्र लाभोंके हेतु उसका प्रयोग स्वरूपविघातक ही होगा). श्रीवल्लभजी कहते हैं-फलरूप श्रीकृष्णकी स्वत:पुरुषार्थत्वधर्मावच्छिन्नसेवाकृति स्वसिद्धान्त है. (अर्थात् आजीविकार्थ वृत्त्यर्थ तनुजा सेवा स्वत:पुरुषार्थत्वधर्मावच्छिन्नकृति ही नहीं-यह समझ लेना चाहिये). श्रीव्रजनाथजीने अतीव महत्वपूर्ण स्पष्टता ‘‘कामप्रयलयो: एकविषयत्व’’के रूपमें स्वत:पुरुषार्थताको परिभाषित किया है. ऐसी स्थितिमें पेंफलेट छापकर दर्शनार्थिओंको आकृष्ट करनेका प्रयत्न वित्तविषयक हो और कामना भगवत्सेवाविषयिणी हो अथवा प्रयत्न भगवत्सेवा करनेके हों और विमर्शकारोक्तरीतिसे कामना वृत्ति कमानेकी हो. अर्थात् प्रयत्न सेवाविषयक हो और कामना वित्तविषयिणी हो तो उसकी स्वत:पुरुषार्थता स्वत: ही खण्डित हो जाती है. श्रीलालुभट्टजी भी मोक्षावधि पुरुषार्थको तुच्छ मानकर भगवत्सेवामें प्रवृत्त होनेकी बात कर रहे हैं. श्रीद्वारकेशजीने यहां फलात्मक श्रीकृष्ण और फलात्मिका कृष्णसेवाके बीच कार्यकारणभाव अर्थात् जन्यजनकभाव संबंध भी निरूपित किया है. स्पष्ट है कि दोनोमें भेद दिखलानेके लिये यह निरूपण नहीं प्रत्युत अभेदनिरूपणार्थ ही है. जैसे सर्वनिर्णयमें श्रीमहाप्रभुने ‘‘अग्निहोत्रं तथा दर्शपूर्णमास:...क्रमात् पञ्चविधो हरि: तत्साधनं च स हरि: प्रयाजादिस्रुगादि यत्’’ (सर्वनि.२।३) द्वारा कर्मकी ब्रह्मात्मकता समझाई है. वैसे ही यहां भी कृष्णसेवाकी कृष्णात्मकताका अभिप्राय समझना चाहिये. अत: आजीविकार्थ कृष्णसेवा आजीविकार्थ कृष्णविक्रयोपम ही होता है. ‘‘तत् स्वविक्रेतरि विक्रयसाध्यातिरिक्तं फलं न प्रयच्छति.’’ न्याय यहां भी अनुसन्धेय है.

(३) **'सदा'** : श्रीगोकुलनाथजीने सभी जीवोंका सहजदासत्व है इसमें संकुचितवृत्तिसे आसुरजीवातिरिक्त सभी जीव सहजदास हैं यह दिखलाया है. 'सदा'पदकी उत्थानिकामें अंशी परमात्माके अंश होनेसे जीवात्माके आत्स्वरूपविचारवश सेवाकी सहज कर्तव्यताका निरूपण किया है. अर्थात् किसी कालिक निमित्तवशात् नहीं प्रत्युत जीवात्माके साहजिकस्वरूप-विचारवश सेवाकी कतृव्यता है. अतएव जो जीव सेवा नहीं कर पाते उन्हें 'आसुर' इसी अर्थमें कहा जाता है कि उनका सहज स्वभाव अन्य अर्थ-कामादि सम्पादित करनेकी अहंता-ममतासे ग्रस्त हो गया है-ऐसा श्रीपुरुषोत्तमजीका तात्पर्य है. श्रीवल्लभजीने तथा श्रीव्रजनाथजीने यहां यह स्पष्टीकरण विशेषतया दिया है कि 'सहज'पदमें 'ज'का अर्थ 'जन्य' न लेकर 'सत्ता'लेना चाहिये, क्योंकि नित्य होनेके कारण जीवात्माके जनन-मरण होते नहीं. 'सहज' यानि सहजात नहीं परन्तु सहसत्ताक. अत: जैसे जीवकी सत्ता जीवसे पृथक् नहीं उसी तरह दासत्व भी उससे पृथक् नहीं हो सकता. इससे स्पष्ट हो जाता है कि वृत्त्यर्थ भगवद्दास्य संभव नहीं; भगवद्दास्यभावार्थ वृत्ति हो सकती है. दास्यधर्म ही सेवा है. शास्त्रीय कर्म देहाधिकारक कालाधिकारक है. एक ही जो कर्म ब्राह्मणदहोपेत होनेपर हम कर सकते हैं वह शूद्रदेहोपेत होनेपर नहीं कर सकते. एक ही ब्राह्मण जो कर्म गृहस्थाश्रममें कर सकता है वह ब्रह्मचर्य या संन्यासाश्रममें नहीं कर सकता. ऐसा देहकालपरिच्छेद भगवत्सेवामें नहीं है. अधिकमासके कालमें रुपये ऐंठनेके लिये अधिकमासका माहात्म्य आज पुष्टिमार्गमें दिखलाया जाता है -वह अन्य कथा है. अन्यथा ''न कालोत्र नियामक:'' वचनका क्या होगा?

(४) **'कार्या'** : यहां व्याख्या करते हुए श्रीपुरुषोत्तमजी कहते हैं कि सेवा करनी आवश्यक है यह 'कार्या' कहकर सूचित किया. वहां आवश्यक वह होता है कि जिसके एक बार किसी भी रूपमें अवगत होते ही बादमें उसके न होनेपर हमारा अनिष्ट हो जायेगा - ऐसा भाव मनमें जगना, अथवा ऐसी कोई बात कर पाना. किसी भी बातके आवश्यक होनेका यह केवल मतलब नहीं होता कि वैसा करनेकी हमें अनुल्लंघनीय आज्ञा मिली है. कृष्णसेवा हमारा आवश्यक कर्तव्य है अत: न करनेपर हम प्रत्यवायी अर्थात्

भक्तिमार्गसे भ्रष्ट हो जाते हैं. अतः अपने आपके बारेमें ''मैं भगवद्दास हूं'' ऐसा भान रखते हुए सेवा स्वतन्त्रपुरुषार्थ (अर्थात् धर्मार्थकाममोक्षमेंसे किसी भी एकके साधनतया नहीं; आजीविकाके लिये तो नहीं ही) है अतः दास होनेके नाते आवश्यक धर्म मानकर सर्वदा सेवा करनी चाहिये. श्रीवल्लभजी और श्रीव्रजनाथजी ने भी करीब करीब यही बात कही है. श्रीद्वारकेशजीने एक बहोत सुन्दर स्पष्टीकरण दिया है कि वैसे तो मानसी सेवा जीवकृतिसाध्य नहीं, जैसे अलौकिकसामर्थ्य भगवानके द्वारा प्रदान करनेपर ही सिद्ध होता है अन्यथा नहीं वैसे. मूलमें श्रीमहाप्रभुद्वारा 'कार्या' ऐसे विधिवचनका प्रयोग करना तथा नहीं करनेपर जीव प्रत्यवायी बनता है ऐसा विवृत्तिमें प्रभुचरणद्वारा स्पष्टीकरण देनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि पिता-पुत्र अपने शरणागत जीवोंको सेवा कर पानेका वरदान दे रहे हैं. (इससे यह सिद्ध होता है कि जो देवलक भगवत्स्वरूपनिमित्तक स्वसंप्रदानक वित्तोपार्जन कर रहे हैं अथवा जो देवद्रव्यादि स्वनिमित्तक भगवत्संप्रदानक वित्तका उपभोग कर रहे हैं वे दोनों ही ''मेरो होयगो सो देवद्रव्य कबहू न खायगो अरु खायेगो सो महापतित व्है जायेगो मेरो नाहि कहावेगो'' घोषणाके अनुसार श्रीमहाप्रभु-प्रभुचरणद्वारा पुष्टिमार्गबहिष्कृत ही हैं.)

(५) 'मानसी सा परा मता' : श्रीगोकुलनाथजीने यहां एक स्पष्टीकरण यह दिया है कि व्रजभक्तोंके भजनप्रकारसे अतिरिक्त किसी प्रकारसे मानससेवाकी भी फलरूपता नहीं है. (व्रजभक्तोंने प्रदर्शनार्थ आजीविकार्थ या पीठाधीशत्वप्रतिष्ठालाभार्थ भगवत्सेवा नहीं की थी अतः मानसी भी किसीको ऐसे विचित्र प्रकारोंसे सिद्ध हो गई हो तो उसे फलरूप नहीं मानना चाहिये.) साथ ही साथ यह भी खुलासा श्रीगोकुलनाथजीने दिया है कि क्योंकि सर्वात्मभाव एक मनोधर्म है अतः सर्वात्मभावपूर्विका सेवाका मानसी होना उचित ही है.

श्रीपुरुषोत्तमजीने यहां प्रश्न उठाया है कि सेव्यसन्तोषजनिका पूर्वोक्तप्रकारककायादि-व्यापाररूपा क्रिया ही यदि सेवा हो; उदाहरणतया राजसेवा या गुरुसेवा, तो उसका सर्वदा अनुष्ठान शक्य नहीं. इसका समाधान, परन्तु, यह है कि वैसे तो सेवाके, कायिकी वाचिकी और मानसी के रूपमें

त्रिविध होनेपर भी, विचार करनेपर, बाह्य एवं आभ्यन्तर होनेके रूपोंमें दो मुख्य प्रभेद है. यहां आभ्यन्तरी मानसी बाह्य सेवाकी फलरूपा है और बाह्य उसकी साधनरूपा है. यह बाह्या कायिकी-वाचिकी सेवा अवान्तरफलरूपा है सर्वदा अवश्यकर्तव्यताक. अत: साधनरुपा बाह्या सेवाका पुन:पुन: आवर्तन ही उसका सदा कार्या होना है. मानसी तो स्वयमेव भगवानके प्रति अविच्छिन्न मनोगतिका होना है, जो बाह्यावर्तनसे सिद्ध होगा. श्रीव्रजनाथजी कहते हैं कि दास्यधर्मविशिष्टा साधनरूपा सेवा होती है तथा सर्वांशमें कृष्णसंबंधविशिष्टा होनेपर फलरूपा मानसी होती है. उदाहरणतया जैसी सेवा व्रजगोपिकाओंकी थी वही मानसी सेवाका स्वरूप है. प्रभुचरणने भगवद्वचनको उद्धृत करके जो व्रजगोपिकाओंकी सेवाका निरूपण किया है उसमें ''मय्यनुषंगबद्धधिय'' अंशसे साधनरूपा सेवाके अनुवादपूर्वक ''तानाविदन् स्वामात्मानमदस्तथेदम्'' अंशद्वारा उस सेवारूपा सेवाके अन्यानुसंधानरहित होनेपर मानसीत्व संपन्न होनेका विधान किया जा रहा है.

दूसरे शब्दोमें भगवदासक्तिवशात् जब प्रपञ्चविस्मृति हो जाये तब उस भगवदासक्तिको व्यसनदशापन्न मानसी फलरूपा अलौकिक सामर्थ्य समझना चाहिये. इसे ही निरोधके रूपमें भी परिभाषित किया गया है. यहां इस सन्दर्भमें यह अवधेय है कि भगवत्सेवोपधिक अहंता-ममताका तो प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका भगवदासक्तिमें पर्यवसान हो सकता है परन्तु पीठाधीशत्वरूपप्रतिष्ठैषणाजनिका अहन्ता तथा शिष्य-वितैषणाजनिका ममताकी पोषिका भगवदासक्तिका प्रपञ्चविस्मृतिमें पर्यवसान शक्य नहीं.

(६) **'चेतस्तत्प्रवणं सेवा'** : यहां श्रीपुरुषोत्तमजी कहते हैं कि मूलमें मानसीका स्वरूपनिरूपण ''चेतस्तत्प्रवणं सेवा''द्वारा कहा. यहां 'प्रवण'के कोशार्थविचारवश प्रवणताकी तीन अवस्थाएं दिखलाते हैं कि चित्त पहले कुछ भगवानकी तरफ झुकता है या मुडता है, बादमें भगवानके अधीन हो जाता है; और तब भगवदेकतान वृत्यन्तररहित तल्लीन हो जाता है. भक्तिवर्धिनीमें इन्हीं तीन अवस्थाओंको प्रेम आसक्ति और व्यसन कहा गया है. श्रीलालुभट्टजीने यहां सर्वप्रथम 'तत्प्रवण' में पयुक्त 'तत्'पदको 'कृष्णसेवा'न्तर्गत 'कृष्ण'पदका परामर्शी माननेकी उपपत्ति दी है. अत:

चित्तका कृष्णप्रवण होना ही कृष्णसेवा है. एतदर्थ अनिमित्ता स्वाभाविकी मनोवृत्तिरूपा भागवती भक्तिहोती है. (अत: आजीविका=वृत्तिनिमित्तवशात् अनुष्ठीयमाना कृष्णसेवा अपने स्वरूपलक्षणसे च्युत हो जाती है). श्रीलालुभट्टजीने ऐहिक या पारलौकिक किसी भी फलकी आशा रखे बिना भगवानके साथ मन जोडनेवाला भजन भक्ति है इस आशयकी श्रुति भी उद्धृत की है. तदनुसार वित्तार्थ तनुजा सेवा भक्ति ही नहीं रह जाती तो आगेकी तो बात ही क्या? 'भज'सेवायाम् से 'भक्ति'शब्द बनता है जो भक्ति पुरुषोत्तमके बारेमें अहैतुकी और अव्यवहिता होनी चाहिये-ऐसा उल्लेख किया गया है. अत: 'भक्ति'पदसे मुख्यतया मानसी सेवाका बोध स्वीकारा गया है.

श्रीद्वारकेशजीने यहां उदाहरण दिया है कि जैसे मोती या मणि में धागा पिरोते हैं वैसे भगवदीयका चित्त भगवानमें पिरोया हुआ बन जाता है. भगवानमें अथवा भगवानको प्रसन्न करनेवाले व्यापारमें चित्तका इस तरह प्रवण होना कि भगवान, मुक्तामणि जैसे धागाके अधीन बन जाती है ऐसे, भक्ताधीन बन जाये-यह समझाया है.

(७) **'तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा'** : आधुनिक जीवात्माओंका तो व्रजभक्तों जैसा उत्तमाधिकार नहीं है सो तन्मार्गप्रवर्तक आचार्यचरणद्वारा उपदिष्ट प्रकारसे की जाती सेवा निरुपयोगी हो जायेगी. इसके समाधानार्थ श्रीप्रभुचरणने 'उक्तसेवासाधने'पदका प्रयोग किया है -ऐसा श्रीगोकुलनाथजी कहते हैं. अत: वैसा अधिकार न होनेपर भी श्रीमदाचार्योक्तप्रकारसे सेवा करनेपर वह फल मिलता ही है. यहां यह अवधेय है कि 'उक्तसेवासाधने'के द्विवचनका बावेला मचानेवाले 'क्रियमाणसेवाया:' एकवचनके बारेमें कुछ नहीं बोलते. आचार्य-प्रभुचरणोक्तप्रकार तनुवित्तजाका ही होनेसे स्वनिमित्तक भगवत्संप्रदानक अथवा भगवन्निमित्तक स्वसंप्रदानक परवित्तका परिग्रह करके जो तनुजा सेवा करते हैं वह शुद्ध अपसिद्धान्तभरी वञ्चना ही है.

आधुनिक पुष्टिजीवोंमें व्रजभक्तोंके जैसी निरुद्धता यदि न हो तो भगवत्सेवन निरुपयोगी सिद्ध होगा इसी आपत्तिके परिहारार्थ श्रीगोकुलनाथजी श्रीमदाचार्यचरणकी कृपाको भी एक सहकारी कारणके रूपमें प्रस्तुत कर रहे

हैं. अर्थात् चित्तकी वैसी अवस्थाके बिना भगवत्सेवा अनुपयोगी सिद्ध हो सकती है. आजीविकार्थ की जाती तनुजा अथवा प्रतिष्ठार्थ या प्रायश्चित्तार्थ की जाती वित्तजाकी तो क्षुद्र निन्दनीय कथा है परन्तु यथोक्त तनुवित्तजा भी अनुपयोगी ही रहती यदि श्रीमदाचार्यचरणने कृपा करके ''प्रवाहेण क्रिया रता'' (पु.प्र.म.१५) ''उभयोरभावे श्रवणादीनां पापनाशकत्वं धर्मत्वं वा नतु भक्तिमार्ग:'' (निब.प्रका.१।१०२) वचनोंद्वारा पापनाशक केवल क्रियारूप पुष्टिधर्मका उपदेश न दिया होता. अतएव श्रीगोकुलनाथजी कहते हैं कि व्रजभक्तोंकी तरह हमारा चित्त भगवदैकपरायण न भी हो तब भी श्रीमदाचार्यचरणोक्त-आत्मनिवेदनपूर्वक (सि.र.) स्वगृहमें (भ.व.) भार्यादि सकल परिचाारकोंके निवेदन-समर्पणपूर्वक (निब.२।२३१) भावप्रदर्शनवृत्तिरहित स्वकीयतनु तथा स्वकीयवित्त से कृष्णसेवात्मिका - क्रियामात्रका अनुष्ठान करेंगे तब ही चित्त उस अवस्थाको प्राप्त हो पायेगा.

फलत: विचारणीय है कि इस क्रियामात्रके अनुष्ठानमें भी श्रीमदाचार्यचरणोक्त प्रकारसे वैपरीत्य बरतनेपर तो उस क्रियाका स्वरूप भी खण्डित हो जाता है. अतएव तनुवित्तजा सेवाका श्रीगोकुलनाथजीको अभिप्रेत प्रकार तनुजा एवं वित्तजा के पार्थक्यपूर्वक नहीं --यह सिद्ध हो जाता है. श्रीकल्याणरायजीने इस अंशपर यहां कुछ विशेष विवेचन दिया नहीं है.

श्रीपुरुषोत्तमजीने यहां एक अतिशय महत्वकी बात समझाई है और वह यह कि यहां उपदिश्यमान कर्तव्यका मूल श्रीमद्भागवतके ये श्लोक है:

भक्तियोग: पुरैवोक्त: प्रीयमाणाय तेऽनघ ।
पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्ते: कारणं परम् ।।
श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम् ।
परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभि: स्तवनं मम ।।
आदर: परिचर्यायां सर्वांगैरभिवन्दनम् ।
मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मति: ।।
मदर्थेष्वंगचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम् ।
मय्यर्पणं च मनस: सर्वकामविवर्जनम् ।।

मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च ।
इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद् व्रतं तपः ।
एवं धर्मैर्मनुष्याणाम् उद्धवात्मनिवेदिनाम् ।।
मयि सञ्जायते भक्तिः कोन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते ।
यदात्मन्यर्पितं चित्तं शान्तं सत्त्वोपबृंहितम् ।।
धर्मज्ञानं सवैराग्यम् ऐश्वर्यं चाभिपद्यते ।
यदर्पितं तद्विकल्पे इन्द्रियैः परिधावति ।।
रजस्वलं चासन्निष्ठं चित्तं विद्धि विपर्ययम् ।
धर्मो मद्भक्तिकृत् प्रोक्तो ज्ञानं चैकात्म्यदर्शनम् ।।
गुणेष्वसंगो वैराग्यमैश्वर्यं चाणिमादयः ।

(भाग. ११।१९।१९-२७)

इनमें कहीं भी भक्त्यर्थ पौरोहित्यकी अनुमति दिखलाई नहीं देती.

यद्यपि यहां एक शंका यह अवश्य की जा सकती है कि इन श्लोंकोमें तनुवित्तजाका भी तो कहीं निरूपण नहीं है, प्रत्युत 'तनुजा'=''मदर्थेष्वंगचेष्टा'' तथा 'वित्तजा'='मदर्थेऽर्थपरित्यागो'' --इस तरह पृथक्-पृथक् ही प्रतिपादन हुआ है. समानतया, परन्तु, सावधानीपूर्वक यह विचारणीय है कि केवल वित्तजा अर्थात् स्वकीय-तनुसाहित्यके बिना अथवा परकीय तनुसाहित्यके बिना तो कृत्यर्ह ही नहीं. अतः सेवाका तनुवित्तजा होना तो मानसीकी सिद्धिसे पूर्व सर्वथा-सर्वथा-सर्वथा ही दुष्परिहर है --इसमें किसी भी तरहके अन्यथाकल्प, विकल्प या अनुकल्प की संभावनाकी गंध भी नहीं है.

अन्यथाकल्प विकल्प या अनुकल्प शक्य हैं इस पक्षमें कि अनुष्ठीयमाना तनुवित्तजा स्वकीय वित्तसे ही करनी चाहिये, जो श्रीमहाप्रभु-प्रभुचरणप्रभृति प्राचीन ग्रंथकारोंके द्वारा उपदिष्ट मत है; अथवा परकीय वित्तसे ही, जिसकी लालसाके विवश गोस्वामिगण दर्शनार्थिओंके समक्ष भगवत्सेवाप्रदर्शनको अपना भगवत्सेवासे भी प्रमुख श्रेयस्कर स्वधर्म मानते हैं; अथवा उभयके वित्तसे, अर्थात् दर्शनार्थिओंके भी तथा स्वयंके भी; अथवा

अनुभयके, अर्थात् कराधानसे बचनेके चक्करमें स्वपरायन्तर वित्तके देवस्वीकरणकी ट्रस्टनिर्मितिकी प्रक्रियासे; अथवा इनके विवेक रखनेके आग्रहको भगवत्सेवाविरोध मानकर अन्यतरके वित्तसे भी यथाकथंचित् सेवाप्रदर्शन चालु रहनो चाहिये. क्योंकि आज अधिकांश पुष्टिमार्गिओंकी, विमर्शकारसहित, यह धारणा अतिसुदृढ है कि भगवत्सेवाप्रदर्शनके अभावमें पुष्टिमार्गोच्छेद हो जायेगा. मानो पुष्टिमार्ग पुष्टिप्रभुकी पुष्टिभक्ति करनेका मार्ग न होकर पुष्टिप्रभुके पुष्टिमार्गीय भजनरूप विश्वधर्म(!)के सार्वजनिक प्रदर्शनका ही मार्ग हो!

परन्तु विमर्शकारप्रमुख सभी पुष्टिमार्गीओंका कर्तव्य है कि उल्लिखित श्लोकोंमें तथाकथित पृथक्-पृथक् तनुजा एवं वित्तजा का वर्णन जैसे उनके द्वारा खोजा जा रहा है, वैसे ही आधुनिक पुष्टिमार्गीओंको प्रभुके ये वचन भी खोज रहे हैं कि ''मय्यर्पणं च मनस: सर्वकामविवर्जनं, यदात्मन्यर्पितं वित्तं शान्तं सत्त्वोपबृंहितम्, धर्मज्ञानं सवैराग्यम् ऐश्वर्यं चाभिपद्यते, यदर्पितं तद्विकल्पे इन्द्रियै: परिधावति, रजस्वलं चासन्निष्ठं चित्तं विद्धि विपर्ययम्.'' अत: मूल बात न मानसी सेवाकी रह जाती है और न तनुवित्तजाकी अथवा तनुजा या वित्तजा की ही! मूल बात है सर्वविध (आर्थिकलाभ-पीठाधीशप्रतिष्ठापूजा आदि-आदिकी) कामनाओंसे विवर्जित चित्तको भगवत्प्रवण बनानेकी. एतदर्थ न केवल ''मदर्थेष्वंगचेष्टा'' अर्थात् अहंतापरित्यागविषयक--''मदर्थेऽर्थपरिग्रह:'' नहीं किन्तु ''मदर्थेऽर्थ-परित्याग:'' अर्थात् ममतापरित्यागविषयक ही केवल उपदेशवचन नहीं है अपितु भगवदर्थक भोग-सुख-परित्यागविषयक भी उपदेशवचन हैं. चित्तको आत्मार्पित=भगवदर्पित रखनेके बजाय जब कोई आत्मविकल्प=भगवद्विकल्पोंमें अर्थात् भगवत्स्वरूपको धर्मोपायतया अर्थोपायतया कामोपायतया या मोक्षोपायतया इष्ट मानकर जब तादृशविकल्पार्थ अर्पित करता है तो भगवद्वचनप्रामाण्यानुरोधवश ऐसे चित्तको रजस्वल असन्निष्ठ विपर्यस्त मानना पडता है. इसी भगवदभिप्रायके विचारवश प्रभुचरणने कहा है--''वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारिता एका एतादृशेन पुंसा कृता च अपरा, एतादृश्यौ ते तत्साधिके न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम्.'' और

इसी विवृतिके आशयका अवगाहन करते हुए श्रीपुरुषोत्तमजीने सुस्पष्ट कहा है कि सेवार्थ वित्तप्रदान राजसभावोपद्दीपक होता है तथा सेवार्थ वित्तपरिग्रह अविहित होनेसे निष्फल कर्मार्थ कालक्षेप है. अत: सिद्धान्तमुक्तावलीके उपदेशको भक्तिवर्धिनी तथा निरोधलक्षणके उपदेशसे समन्वित करके देखना हो तो यों कहा जा सकता है :

(क) प्रपञ्चमाहात्म्यज्ञानरहित भगवन्माहात्म्यज्ञान

(ख) प्रपञ्चव्यसनरहिता भगवद्रुचिपूर्विका तनुवित्तजा

(ग) प्रपञ्चासक्तिरहिता भगवत्प्रेमपूर्विका तनुवित्तजा

(घ) प्रपञ्चप्रेमरहिता भगवदासक्तिपूर्विका तनुवित्तजा

(ङ) प्रपञ्चरुचिरहिता भगवद्व्यसनपूर्विका तनुवित्तजा

इस पांचवी अवस्थाको प्राप्त भगवत्सेवा अंतमें पुष्टिजीवको कृतार्थ बनानेवाली सर्वात्मभाव, मानसी सेवा या प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक-भगवद्व्यसनभावापन्न चित्तकी तल्लीनतामें पर्यवसित होती है. यहां हम स्पष्ट देख सकते हैं कि प्रापञ्चिक लाभपूजाके व्यसनोंमें ग्रस्त चित्त लेशत: भगवानमें रुचि भी लेता है तो या तो पीठाधीशत्वोपयिक प्रतिष्ठा अर्थात् राजस अहंताके पोषणार्थ ही अथवा अर्थोपार्जनोपयिक लाभ अर्थात् निष्फल ममताके पोषणार्थ ही. ऐसी प्रापञ्चिकव्यसनवती अहंता-ममता न हो तो 'तनुवित्तजा'के अनुष्ठानमें विग्रहकी आवश्यकता ही नहीं. व्युत्पत्तिबोधमें विग्रह तो निर्दोष हो ही सकता है.

इसके अलावा श्रीपुरुषोत्तमजीने तो स्पष्टतया यहां श्रीमत्प्रभुचरणविवृतिके द्वारा प्रयुक्त 'उक्तसेवासाधने' द्विवचनका पुन: श्रीमत्प्रभुचरणाभिप्रायके अन्यथानयनकी संभावनाकी भीतिके वश तथा श्रीगीताभागवतादि शास्त्रीय संदर्भानुरोधवश भी पुन: एकवचनमें विभक्तिविपरिणाम किया है : ''यद्यपि एकादशस्कन्धे 'पुनश्च कथयिप्यामि मद्भक्ते: कारणं परम्' इति उपक्रम्य 'एवं धर्मैर्मनुप्याणाम् उद्धवात्मनिवेदिनाम् मयि सञ्जायते भक्ति:' इत्यन्तोक्तरीत्या क्रियमाणं साधनं (नतु साधने) तत्परिपाकदशायां तु स्नेहेन क्रियमाणं तत्साधनम् (नतु साधने). तत् (साधनं नतु साधने) चेत् वित्तं वेतनत्वेन दत्वा कार्यते तदा चित्तस्य राजसत्वं कुर्वन्ती

चित्तस्य तत्प्रवणत्वं न करोति.''

यहां सर्वत्र एकवचनसे साधनाभिधान हो रहा है, द्विचनसे नहीं.

वैसे यह कोई बहोत बडी बात नहीं है क्योंकि एकवचन द्विवचन या बहुवचन वस्तुस्वरूपानुरोधवश नहीं प्रयुक्त होते किन्तु वक्तुर्विवक्षानुरोधवश ही. (द्रष्ट. '' 'द्वयेक्योः द्विवचनैकवचने बहुषु बहुवचनम्'सूत्रयोः.... द्वित्वविवक्षायां द्विवचनस्य बहुत्वविवक्षायां बहुवचनस्य विधायकं सूत्रमिति निरर्थकेभ्योऽसंख्येभ्य एकत्वसंख्याविरहेप्येकवचनं सिद्ध्यति इति'' टिप्पणी म.म.शिवदत्तविरचिता.) परन्तु यह तो 'उक्तसेवासाधने'में प्रयुक्त द्विवचनका बावेला मचानेवालेको केवल प्रतिबन्दी उत्तर है.

महत्वपूर्ण तो यहां यही है --सेवार्थ वित्तप्रदानसे अनिष्ट राजसत्वाभिवृद्धिप्रसक्ति तथा सेवार्थ वित्तप्रतिग्रहसे निष्फलत्वप्रसक्ति ही सर्वविध कुविमर्शोपशमनी है. विमर्शकारद्वारा पृष्ठ ४-६ तथा १०४-१३२ पृष्ठोंपर भी विस्तृत विचार इस विषयमें किया गया है जिन सबका उत्तर तो यथायथ क्रोडाक्रीडनकक्रीडाविभंगमें तत्तद् अंशोकी वशोधनिकामें दिया ही जायेगा. यहां प्रकृतमें केवल दो बातें जान लेनी जरूरी हैं.

(१) विमर्शकार वित्तप्रदानके अनेकविध शास्त्राभिमत प्रकारोंसे या तो सर्वथा अनवगत है या अधीत विषयोंको भूल गये लगते हैं या स्वार्थवश जानबूझ कर वास्तविक्ताको छिपाना चाहते हैं. अन्यथा अविभक्तस्वत्ववालोंका एकदूसरेको वित्त देना, स्वस्वत्वत्यागरूप या परस्वत्वोत्पादनरूप न होनेसे, 'वेतन'पदके प्रयोगसे पतिद्वारा पत्नीको सेवार्थ दिये जाते वित्तदानके वारण करनेकी आवश्यकता ही क्या थी? तिसपर भी मुखिया-भीतरियाकी बटालियनको पगारके रूपमें दिये जाते वित्तको भावप्रत्ययके कुविमर्शसे ''वेतनबुद्धि रखकर दिया गया वित्त दोषावह होता है; आजीविकार्थ नहीं'' --ऐसा और कहते हैं. इससे अधिक अकाण्डताण्डव और क्या हो सकता है?

यदि सेवार्थ वेतनबुद्धि रखकर वित्त देने-लेनेपर ही दोष होता हो; अन्यथा नहीं तो कोई धनिक वणिक् उसके घरमें बिराजते श्रीठाकुरजीकी

सेवामें किसी धनहीन या धनलोलुप गोस्वामी महाराजको मुखिया या भीतरिया के रूपमें नियुक्त करना चाहें और कहें कि ‘‘वेतन नहीं, प्रतिमास आपके चरणारविन्दोंमें १००० या २००० भेट धर दी जायेगी’’ तो वह आचार्यवंशजोके स्वरूपविचारसे निन्दनीय कथा होगी कि अभिनन्दनीय? क्योंकि बनियाके घरमें भी तो भगवत्सेवा करने ही जाना हे; बनियाकी सेवा करने तो नहीं. और भगवत्सेवा स्वगृहमें ही करनी और परगृहमें नहीं करनी ऐसा भी कोई सैद्धान्तिक बंधन तो विमर्शकारने स्वीकारा नहीं है. इस तरह गोस्वामी महाराजोंको मुखिया-भीतरियाके रूपमें नियुक्त करके दर्शनार्थी जनतासे कोई बनिया उसके सेव्यस्वरूपकी सेवाके नित्यक्रमार्थ मंगलभोग-पलना-राजभोग आदिकी भोग-सामग्री स्वीकारे, हिंडोला-फूलमंडली आदिके मनोरथोंकी भी सेवा ले तो उस अवस्थामें भी, दर्शनार्थी क्योंकि परिवारजन या गुरुशिष्यान्यतर नहीं हैं अतः, स्वयं नहीं ले सकता हो तो न लें परन्तु उसके घरमें बिराजमान प्रभुके लिये क्यों नहीं ले सकता उपायनीकृत भेट-सामग्री? और क्योंकि बनियाके घरमें बनियाकी आज्ञासे बनियाके पुष्टिप्रभुकी सन्तोषजनिका सेवार्थ उपाहृत भेट-सामग्रीपर भी बनियाका भी पूर्ण अबाधित स्वत्व तो, कुविमर्शनीतिवश, होगा ही. अतः उससे, महाराज जैसे कीर्तनियाको देते हैं वैसे ही, वह बनिया गोस्वामी महाराजोंका भी परिपालन क्यों नहीं कर सकता है? वेतनबुद्धिसे न देकर चरणारविन्दमें रखनेकी शर्त तो स्वीकृत है ही! यदि ‘‘कोई महाराज इतने अर्थकाश्चर्यसे पीडित नहीं होता अतः ऐसा प्रस्ताव स्वीकारेगा नहीं ही’’ यह सफाई दी जाती है तब तो स्वीकारना पडेगा कि गोस्वामिओंके यहां आते मुखिया-भीतरिया अर्थकार्श्यवश ही भगवत्सेवाकी नौकरी तथा पगार स्वीकारते हैं. तब तो वेतनबुद्धि अकाम गलेपतित है!

(२) रही बात ‘‘ ‘वेतन’ वित्तदानका उपलक्षण या उदाहरण हो नहीं सकता, परन्तु ‘वित्तं दत्वा’विधानका प्रभुचरणाभिप्रेत निष्कृष्ट अर्थ या विशेषण है’’ --ऐसे कुविमर्शकी. तो वहां यह अवधेय है कि मैने कभी भी इस आशयमें उसे उपलक्षण नहीं कहा कि वेतनदानकी विशेषोक्तिद्वारा वित्तदानकी सामान्योक्ति अभिप्रेत है. अतः विमर्शकार यहां अज्ञान एवं

अनवधान से विजृंभित नितान्त हास्यास्पद विधान कर बैठे हैं : ‘‘पूर्वपक्षियोंका कथन अप्रामाणिक है. श्रीपुरुषोत्तमजीने ‘वित्तं वेतनत्वेन दत्वा’ इस वाक्यमें उदाहरणबोधक ‘तद्यथा’ आदि शब्द नहीं लिखा है. अत: उन्होंने उदाहरणके रूपमें ‘वित्तं वेतनत्वेन दत्वा’ लिखा है --यह बात स्वीकारी नहीं जा सकती. ‘वित्तं वेतनत्वेन दत्वा’ यह ‘वित्तं दत्वा’का उपलक्षण है यह कहना हास्यास्पद है. क्योंकि जब मूलमें ‘वित्तं दत्वा’ है ही तब कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति उसके उपलक्षणके रूपमें ‘वित्तं वेतनत्वेन दत्वा’ यह नहीं लिखेगा.’’ (पृष्ठ १३२).

इस परमकाष्ठापन्न हास्यास्पद कुविमर्शके बारेमें क्या कहना समझमें नहीं आता! तृतीया विभक्तिके ११ अर्थ विद्वानोंने स्वीकारे हैं : (१) कर्तृत्व (२) करणत्व (३) वृत्तित्व (४) विशेषण (५) उपलक्षण (६) कारकहेतुत्व या ज्ञापकहेतुत्व (७) फल (८) अभेद (९) अवच्छेदकत्व या अवच्छेद्यत्व (१०) अधिकरणत्व (११) वैशिष्ट्य. इनमें ‘‘रामेण बाणेन हतो बालि:’’ की तरह कर्तृत्व-करणत्वकी तो यहां संभावना ही नहीं. इसी तरह ‘‘अक्ष्णा काण:’’ की तरह वृत्तित्व अर्थ भी उपपन्न नहीं होगा. ‘‘इत्थंभूतलक्षणे= कंचित्प्रकारं प्राप्तस्य लक्षणे तृतीया स्यात्’’ और क्योंकि कोई भी लक्षण या प्रकार विशेषण भी हो सकता है या उपलक्षण भी. यथा ‘‘ज्ञायमानत्वेन लिंगं करणम्’’ के उदाहरणमें ज्ञायमानता ‘अतद्व्यावर्तक’विशेषण है और लिंग विशेष्य. इसी तरह ‘‘जटाभि: तापस:’’ उदाहरणमें जटा तापसका उपलक्षण होती है. उपलक्षण ‘‘अतद्व्यावृत्त्यनवच्छेदकत्वे सति अतद्व्यावृत्तिसमानाधिकरण’’ होता है. क्योंकि वस्तुत: अन्यूनातिरिक्तवृत्ति होनेके कारण तापसके मुख्य लक्षण तो शमदमादि ही किसी व्यक्तिको तापस बनाते हैं. शमदमादि साधनाकी प्रक्रियामें यदृच्छया बढी जटाएं नहीं. जटाओंके अतापसव्यावृत्तिकी अनवच्छेदिका होनेपर भी अतापसका व्यावर्तन तो जटाओंद्वारा होता ही है. अत: जटाएं उपलक्षण बन जाती है.

प्रकृतमें ‘वेतनत्व’को वित्तदानका विशेषण मानना या उपलक्षण-इस विषयमें विमर्शकारकी किसी तरहकी विप्रतिपत्ति होनी कोई अनुचित कथा

नहीं. परन्तु अनवधानविजृंभण या अज्ञानविजृंभण की पराकाष्ठा तब होती है कि जब एक और विमर्शकार पृष्ठ ४ पर स्थित अनुच्छेदका अनुशीर्षक दे रहे हैं : ''वेतनत्वेन यह विशेषण क्यों?'' और पृष्ठ ५वें तक उसकी उपपत्ति दे रहे हैं कि वेतनत्वाविशिष्ट वित्तदानको निषेध्यकोटिमें नहीं गिनना चाहिये कयोंकि वेतनत्वविशिष्ट वित्तदान ही श्रीपुरुषोत्तमजी तथा श्रीप्रभुचरण के वचनोंकी एकवाक्यतासे निष्कृष्ट अर्थ है. और देखिये! १०-२० पृष्ठ बाद नहीं; इसी ५वें पृष्ठपर स्थित अनुच्छेदका अनुशीर्षक है : ''क्रीत एवं विक्रीत सेवाएं मानसीसाधक तनुजाके अन्तर्गत नहीं''(!) ईश्वर-अल्ला तेरे नाम सबको सन्मति दे भगवान!

क्या ''वेतनत्वेन वित्तदान'' और ''मूल्यत्वेन=क्रयत्वेन वित्तदान'' और ''स्तोमत्वेन वित्तदान'' और ''सेवकीत्वेन वित्तदान'' और ''चरणभेट-पधरावनीभेटत्वेन'' और ''देवलकप्रसादनार्थ मंगला-पलना-राजभोग-फूलमंडली-छप्पनभोगकी भेट-सामग्रीत्वेन वित्तदान'' आदि सभीमें ''सर्वं सर्वमयम्'' का शुद्धाद्वैत है? यदि नहीं तो भृत्यको वेतन दिया जाता है, विक्रेताको मूल्य या क्रयोपयिक वित्त, भूमि या गृहके वास्तविक स्वामीको खेती-कारखाना-दुकान-ओफिस-मकान-घर आदिका स्तोम=भाडा दिया जाता है, किसीकी सेवाभक्तिसे प्रसन्न होकर सेवकीत्वेन वित्तोपहार या वस्तूपहार सेवकको दिया जाता है. गोस्वामी भी क्या भगवत्सेवा नहीं करते? यदि करते हैं तो उन्हें सेवकी क्यों नहीं दी जाती? यदि कहा जाये कि वैष्णव धनपति स्वयं अन्तमें महाराजश्रीओंके सेवक हैं अत: महाराजश्रीओंको अपना सेवक तो मान नहीं सकते. तब भी महाराजश्रीको भगवत्सेवामें परायण होनेके कारण भगवत्सेवक तो मान ही सकते हैं. अत: जैसे मंदिरके मुखिया-भीतरियाको देते हैं, वे भी धनपतिके सेवक तो नहीं होते, तो ऐसे भगवत्सेवकोंमें पू.पा.महाराजश्रीके प्रसादनार्थ उन्हें भी निरपक्ष सेवकी क्यों नहीं दे सकते? यदि कहा जाये कि महाराजश्री गुरुकल्प होते हैं अत: उनकेद्वारा स्वधर्मतया अनष्ठित भगवत्सेवापर प्रसन्न या अप्रसन्न होनेका अधिकार भगवानका ही होता है, सेवकोपम शिष्योंका नहीं तो फिर गुरुत्वोपाधिसे दैनिक चरणभेट-बहुधा पधरावनीभेट-प्रदेशभेट-जन्मदिनभेट-

उपनयनभेट–विवाहप्रस्तावभेट–उनके खवास जलघरिया आदिओंको खवासी–सेवकीकी भेट आदि अनेकानेक प्रकारोंमें सेवककल्प अनुगामिनी जनता स्ववित्तदानद्वारा गुरुकल्प महाराजश्रीओंका प्रसादन तो कर ही रही है. तो ''अपि कामातुरो जन्तुरेकां रक्षति मातरम्'' न्यायसे केवल स्वाराध्य भगवत्स्वरूपार्थक अत: परवित्तैषणा न रखें तो बहोत हानि नहीं होनी चाहिये. क्योंकि ''परद्रव्याण्यभिध्यायन् तथानिष्टानि चिन्तयन् वितथाभिनिवेशी च जायतेऽन्त्यासु योनिषु... अदत्तदाननिरत: परदारोपसेवक: हिंसकश्चाविधानेन स्थावरेषूपजायते'' (याज्ञ.स्मृ.प्राय.४।१२४–१२६). यदि कहा जाये कि अन्य अनेक विधाओंसे वित्तदान करनेपर भी जब तक गोस्वामी महाराजश्रीओंके आराध्यको देवनिमित्तक या देवसंप्रदानक वित्तदान शिष्यगण नहीं करते तब तक महाराजश्रीओंका उतना प्रसादन नहीं हो पायेगा. क्योंकि सेव्यसन्तोषजनिका महावैभवशालिनी सेवा किये बिना महाराजश्रीओंका मन भरता ही नहीं है. तदुपयोगि वित्त पूर्वोल्लिखित चरणभेट आदिके अनेकानेक वित्तोपार्जनके प्रकारोंके बावजूद उस खर्चेका बोझा महाराजश्री उठा नहीं पाते हैं.

तो भी कुछ अधिक चरणभेटप्रदानार्थ, कुछ अधिक पधरावनीभेटप्रदानार्थ, कुछ अधिक प्रदेशभेटसंग्रहार्थ स्वत: अथवा स्वाश्रित समाधानिओं जैसे एजेंटोके द्वारा वैष्णवोंको प्रेरित करनेपर अधिक वित्तसंग्रह भी अवश्य शक्य हे ही. परन्तु यदि कहा जाये कि उसमें वैसी निस्पृहता अथवा सरलता नहीं निभेगी जैसी सरलतासे अपने ठाकुरजीके नामपर नित्य–नैमित्तिक सेवामनोरथोंकी भेट–सामग्रीके रूपमें परवित्तग्रहण करनेपर पू.पा.महाराजश्रीओंका प्रसादन हो पाता है. तब तो फिर यह निश्चित हो गया कि ''देवलकप्रसादनार्थ मंगला–पलना–राजभोग–फूलमंडली–छप्पनभोगकी भेट–सामग्रीत्वेन वित्तदान'' भी एक पृथक ही प्रकार है!

अत: ''सर्वं सर्वमयम्''न्याय तो स्वयं विमर्शकार को भी मान्य नहीं तब ''भृत्यसंप्रदानक वेतनत्वेन वित्तदानात्मिका सेवा'' और ''सेवारूपकर्मविक्रेतृसम्प्रदानक मूल्यत्वेन वित्तदानात्मिका सेवा'' एक ही

प्रकारकी सेवा नहीं होती. क्योंकि भृत्य होना और विक्रेता होना एक ही बात नहीं है. ऐसी स्थितिमें मुखिया भीतरिया आदि भृत्योंको दिये जाते वेतन तथा स्वाराध्य भगवत्स्वरूपको सेवाके विक्रेता पू.पा.महाराजश्रीओंको दिये जाते सेवामूल्य तथा सेवकोंको दी जाती एतन्निरपेक्ष सेवकी में एकवद्भाव कैसे किया जा सकता है? क्योंकि स्वयं विमर्शकारको 'वेतनत्व' वित्तदानरूप विशेष्यके विशेषणतया अभिमत है, उसे मूल्यप्रदानपूर्वक सेवाक्रय तो नहीं माना जा सकता. शमदमादिसाधनाकी प्रक्रियामें यदृच्छया अभिवृद्ध जटाओंकी तरह सेवा कर्ममूल्यत्वेन दीयमान वित्तमें यदृच्छया अभिवृद्ध वेतनत्वबुद्धि या क्रयबुद्धि के निवारणार्थ ही यहां 'वेतनत्वेन' पदप्रययोग श्रीपुरुषोत्तमजीने किया है ऐसा स्वीकार लेते हैं तब तो घट्टकुटीमें प्रभात हो गया! क्योंकि स्वयं विमर्शकार 'वेतनत्व'को विशेषण नहीं प्रत्युत उपलक्षण ही मान रहे हैं, और बावजूद इसके उसका प्रत्याख्यान भी करते हैं! तो जो स्वविक्षितार्थर्थावबोधक्षम न हो उससे अन्यविवक्षितार्थावबोधक्षमता की अपेक्षा क्या रखनी!! और ऐसी स्थितिमें शास्त्रविवक्षित गंभीरार्थावबोधकी अपेक्षा तो केवल मृगतृष्णा ही सिद्ध होगी!!!

इससे सिद्ध होता है कि 'वेतनत्व'पद वित्तदानका उपलक्षण ही है. अत: जटाएं जैसे प्रत्याय्यव्यावृत्त्यधिकरणतावच्छेदक शमदमादि साधनसे भिन्न होनेपर भी कहीं विद्यमानतया और कहीं अविद्यमानतया भी व्यावर्तक बन जाती हैं, ऐसे ही 'वेतनत्व'रूप उपलक्षणसे सामान्य वित्तदान नहीं किन्तु अन्य भी वेतनसदृश; अर्थात् स्तोमत्वेन, मूल्यत्वेन, दक्षिणात्वेन, सन्मुखभेटत्वेन, सामग्रीभेटत्वेन, मनोरथभेटत्वेन आदि अनेकानेक वित्तदानके, प्रकार भी यहां विवक्षित हैं ही. ऐसी स्थितिमें तृतीया विभक्तिका अर्थ विशेषण लेनेपर 'वेतनत्वेन वित्तदान'का अर्थ वेतनत्वविशिष्ट वित्तदान होगा. ऐसे ही उपलक्षण अर्थ लेनेपर 'वेतनत्वोपलक्षित वित्तदान' भी अकथित ही सिद्ध होता है. उन अनेक प्रकारोंसे वित्तदान करनेपर वित्तग्रहण करनेपर ''एतादृश्यौ ते तत्साधिके न'' द्वारा विवक्षित निषेध्यता आती है --यह तो स्पष्ट ही है. सेवाकर्ताको सेवाकर्तृत्वोपाधिसे न देकर पत्नीत्वोपाधि-पुत्रत्वोपाधि-गुरुत्वोपाधि-भृत्यत्वोपाधिसे जब भी कुछ भी दिया जाता है तो वह कथान्तर है. उन

उपाधिओंको सेवाकर्तृत्वोपाधिके साथ 'गोमयं पायसं''करनेपर तो गोस्वामी महाराजश्रीओंकी प्रसन्नताके लिये दी जाती चरणभेटको भी 'सेवकी' ही कहना उचित होगा! यह कभी भी भूलना नहीं चाहिये कि तब तो गुरुपदाधिष्ठित गोस्वामी महाराजश्रीओंके खवास-जलघडियाओंको दी जाती सेवकी भी 'गुरुभेट' ही कहलायेगी गुरुओंके पूर्ण स्वत्ववाली. इसी तरह क्योंकि अन्तमें गोस्वामी महाराजश्री भी बंह्मसंबंधदीक्षान्तर्गत भगवद्दास्यको अंगीकार कर चुके हैं, अत: ''दासेनोढा त्वदासी या सापि दासीत्वमाप्नुयाद् यस्माद् भर्ता प्रभुस्तस्या: स्वाम्यधीन: प्रभुर्यत: दासस्य तु धनं यत् स्यात् स्वामी तस्य प्रभुर्मत:'' (व्यवहारमयूख : अभ्यूप्येत्य शुश्रूषाप्रकरणस्थ कात्यायनवचन). अत: गोस्वामिओंको चरणभेटके रूपमें या गोस्वामिओंके सेव्यस्वरूपकी सन्मुखभेटके रूपमें या मेहताखाना-पेढीओंमें भेट-सामग्रीके रूपमें या अन्य किसी भी रूपमें वित्त दिया जाये, सबके स्वामी गोस्वामीके प्रभु ही होंगें, स्वयं गोस्वामी नहीं; जैसीकि विमर्शकारको भ्रान्ति है.

रही बात वेतनत्व'के उदाहरणार्थ होनेकी, तो उसमें भी यह अवधेय है कि परार्थानुमित्यर्थ प्रयुक्त दृष्टान्त या उदाहरण एवं काव्यात्मकवर्णनार्थ प्रयुक्त दृष्टान्त उदाहरण या उपमामें 'इव' 'यथा' 'वत्' आदिका प्रयोग आवश्यक होता है. परन्तु एतावता ''अपनी ममतास्पदीभूत सकल वस्तुओंका भगवानको समर्पण करना चाहिये'' विधानकी व्याख्या करते हुए ममतास्पदीभूत वस्तुओंके निदर्शनार्थ यदि कोई व्याख्याकार ''पुत्रत्वेन ममतास्पदीभूत'' अर्थ करता हो तो वहां भी 'तद्यथा'को खोजना तो अतद्यथार्थकी ही खोज है! इतनी इतनी छोटीसी बातें तो समझाते हुवे भी लज्जा आती है परन्तु कहते-लिखते विमर्शकारको नहीं आती! किमाश्चर्यमत: परम्!! ''दण्डकी दण्डत्वेन घटकारणता होती है, पार्थिवद्रव्यत्वेन नहीं'' विधानमें अथवा ''शर्कराकी शर्करात्वेन खीरकारणता है, इक्षुजन्यत्वेन नहीं'' इन वचनोंमें दण्डत्व-शर्करात्व कारणतासामग्रीघटकके उदाहरणार्थक हैं या कारणतासामग्रीस्वरूपनिरूपणार्थक? यदि उदाहरणार्थक तो 'तद्यथा'शब्द यहां क्यों नहीं है? यदि कारणतासामग्रीस्वरूपनिरूपणार्थक तो केवल दण्ड या शर्करासे भी घट या खीर उत्पन्न हो जानी चाहिये. प्रतीत होता है परम्परया

अधीत शास्त्रोंमें कहीं उदाहरणतया निदर्शनका प्रभेद विमर्शकोंके पढनेमें शायद आया नहीं होगा! अस्तु.

श्रीपुरुषोत्तमजीके बाद श्रीवल्लभजी तथा श्रीव्रजनाथजीने 'उक्तसेवासाधने इतरे' की व्याख्यामें " 'उक्तसेवा' मानसीसेवा, 'इतरे' तनुवित्तजे"कहकर विमर्शकार और उनके सहयोगिओंको अत्यन्त क्षुद्र कुशकाशावलम्बनका अवसर तो अवश्य दिया है, इसमें सन्देह नहीं. फिर भी विमर्शकार उसपर अवलम्बित हो नहीं पाते! इसका मुख्य रहस्य तो इसीमें निहित है कि टिप्पणीकारके द्वारा प्रदत्त प्रचलित पाठ " 'इतरे'=तनुवित्तजे" के बारेमें पाठशुद्धि विमर्शकारने प्रस्तावित की है. वैसे यदि यह अशुद्ध पाठ ही हो तो संभवत: " 'इतरे'=तनुवित्ते" ही अधिक सुसंगत पाठशुद्धि स्वीकारनी चाहिये, पूर्वोक्त अनेकानेक हेतुओंके कारण. फिर भी विमर्शकारद्वारा प्रस्ताविता पाठशुद्धि तो स्वयं विमर्शकारको भी विवक्षितार्थानवबोधविजृंभित ही है.

विमर्शकारके शब्दोंमें : "यहांपर 'इतरे तनुजवित्तजे' यह शुद्धपाठ है. 'इतरे तनुवित्तजे' यह प्रकाशित पाठ अशुद्ध है. क्योंकि 'तनुवित्तजे'पदका विग्रह इस प्रकार होगा: (१) तनुश्च वितं च तनुवित्ते, तनुवित्ताभ्यां जाता तनुवित्तजा, तनुवित्तजा तनुवित्तजा च तनुवित्तजे अथवा (२) तनुश्च वित्तं च तनुवित्ते, तनुवित्ताभ्यां जाते तनुवित्तजे. एवं च 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इस नियमके अनुसार 'तनुवित्तजे'पदसे दो-दो तनुजा वित्तजा सेवाओंका बोध होगा.' (पृष्ठ ११८).

यहां इस विमर्शग्रन्थकी सबसे बडी एक कॉमॅडी उभरी है! विमर्शकार स्वयं यह तो कह नहीं रहे हैं कि सेवात्रैविध्यवादी सभी गोस्वामी स्वयंके वित्तका विनियोग अथवा स्वयंके तनका विनियोग अपने आराध्यकी सेवामें करते ही नहीं है. फलत: सेवात्रैविध्यवादी गोस्वामिओंद्वारा अनुष्ठित स्वतनु-स्ववित्तजन्य भगवत्सेवा एक तनुवित्तजा. इसी तरह विमर्शकारद्वारा सिद्धान्ततया अभिमत दर्शनार्थिओंके द्वारा उपाहृत सन्मुखभेट तथा महेताखाना (पेढीमें) जमा होती मंगलभोग*-पलना-राजभोग-फूलमंडली-छप्पनभोगकी

भेट-सामग्रीरूपा वित्तजा सेवा तथा मुखिया-भीतरियाकी बटालियनोंद्वारा अनुष्ठित तनुजासेवा--यों दूसरी तनुवित्तजा. अत: ‘‘तनुवित्तजा च तनुवित्तजा तनुवित्तजे सेवे’’ तो अभीष्टतम है ही फिर भी क्यों अभीष्ट नहीं माना है? अत: ‘‘स्वप्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगिता’’रूप मिथ्यात्व विमर्शाभिमत निरूपणका सिद्ध होता है!

(*मेरे पास इसकी रसीदें सुरतकी मोटी हवेलीकी तथा यहां मुंबईके यदुनाथभुवन मंदिरकी क्रमश: स्वीकृतिप्रयोजनोल्लेखरहित नं.३२९८ तथा स्वीकृतिप्रयोजनोल्लेखसहित नं.२४४0 हैं. वैसे समाधानीने केसेटमें स्वीकृत किया है कि श्रीबालकृष्णलालजीके मंगलभोगके लिये यह राशि स्वीकारी गई है.)

इसके अलावा भी एककर्तृका मानसीसाधिका तनुवित्तजासेवा तथा मानसी-अबाधिका अनेककर्तृका तनुवित्तजा सेवा--यों दो तरहकी तनुवित्तजा तो स्वयं विमर्शकार डिंडिमघोषसे कह रहे हैं. फिर भय, ऐसा लगता है कि, केवल त्रैविध्यप्रतिज्ञाहानिका ही होना चाहिये! तो परम्परयाधीत ग्रन्थोंके पुनरभ्यासद्वारा आगामी संस्करणोंमें त्रैविध्यकी जगह ‘‘याश्च ह्यनन्तस्य सेवा: ह्यनन्ता:’’पक्ष प्रस्तावित कर देना चाहिये! हानि क्या है; वैसी भी अध्ययनपरम्परा स्तोत्रादिनिर्माणद्वारा भी प्रचारित तो हो ही जायेगी!

इसी तरह प्रभुचरणकृतविवृतिके ‘‘एतादृश्यौ ते तत्साधिके न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम्’’ अंशकी श्रीवल्लभजी तथा श्रीव्रजनाथजी की टिप्पणीके आशयोंके साथ विमर्शकारने जो बाललीला प्रदर्शित की है उसका भी आनंद लेने लायक है :

‘‘एतादृश्यौ ते तत्साधिके नेत्यभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम्’’ इस श्रीप्रभुचरणोंके वाक्यमें ‘तत्साधिके’ यह पद आया है उसका अर्थ ‘फलरूपसेवासाधिके’ किया है और आगे स्पष्टीकरण किया है कि ‘‘तथा चैककर्तृकएव ते तत्साधिके इति फलितार्थ:’’ ‘‘एककर्तृके एव ते तत्साधिके’’ इस वाक्यमें ‘ते’शब्दसे मानसीसाधन तनुजा वित्तजा सेवाएं ग्राह्य हैं. ‘तनुवित्तजा’ इस समस्तपदसे दोनों (तनुजा और वित्तजा) सेवाएं एककर्तृक होनी चाहिये, अर्थात् तनुजा और वित्तजा सेवाओंको करनेवाला एक हो--यह सूचित किया गया है. ऐसी स्थितिमें ‘‘एतादृश्यौ ते तत्साधिके न’’ इस

वाक्यमें 'ते'शब्दसे वे ही सेवाएं ली जायेगी जो मानसीसाधिका न होती हों. अब जो व्यक्ति अपने शरीरसे भगवत्सेवा करता है और अपने धनका भी भगवत्सेवामें विनियोग (वैसे आधुनिक श्रीवल्लभवंशज तो प्राय: करते नहीं; उन्हें तो दर्शनार्थिओंके ही वित्तसे भगवत्सेवा करनी सुहाती है: गो.श्या.म.) करता है उसने सेवाक्रम विस्तृत होनेसे नौकर-चाकरोंको रखा और उन्हें मजुरी देकर उनसे सेवा कराई. वहांपर मजूरी देकर करायी गयी सवा मजूरी देनेवालेकी वित्तजा है वह मानसीसाधन वित्तजाके अन्तर्गत हो सकती है. उसे मानसीसाधन वित्तजाके बहिर्भूत करनेमें कोई प्रमाण नहीं है. तो वह सेवा भी ''एतादृश्यौ ते'' इन दो सेवाओंमेंसे प्रथमसेवामें आ जाती है. अर्थात् ''वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारितैका'' कहकर आयी उसमें मानसीसाधकता नहीं यह कहना बाधित है. तब श्रीप्रभुचरणोंने किस आशयसे ''एतादृश्यौ ते तत्साधिके न'' कहा यह प्रश्न उठता है. उसका उत्तर यह है कि 'ते'पदका अर्थ 'तनुजे' कर उसे 'एतादृश्यौ' और 'तत्साधिके' इन दोनोंमें अन्वित करनेसे समाधान हो जाता है...तदनुसार निष्कर्ष निकला कि खरीदी हुई तनुजा और बेची हुई तनुजा मानसीसेवासाधन तनुजा नहीं इस अभिप्रायका ज्ञापक 'तनुवित्तजा' यह समस्त पद है.'' (विमर्श पृष्ठ : १२१-१२२).

यहां सर्वप्रथम तो यह विचारणीय है कि ''उक्तसेवासाधने इतरे इत्याहु: तदिति'' अंशकी कुविमर्शसंशोधित टिप्पणीके अनुसार भी शुद्ध पाठ होगा ''इतरे=तनुवित्तजे इति आहु: तत् (सिद्ध्यै तनुवित्तजा) इति.'' अत: प्रक्रान्त सेवा तनुजा वित्तजा हुई. उन वित्तजा और तनुजाके अन्तर्गत किसी दूसरे पुरुषको वित्त देकर करायी गयी सेवा, सेवाका एक प्रकार है, जिसे श्रीवल्लभजी-श्रीव्रजनाथजी एक स्वरमें 'वित्तजा' कह रहे हैं. इसी तरह दूसरे किसीसे वित्त लेकर की गयी सेवा, सेवाका अपर प्रकार है, जिसे श्रीव्रल्लभजी, श्रीव्रजनाथजी एक स्वरसे 'तनुजा' कह रहे है इस तरह पूर्वक्रान्त तनुजा और वित्तजा को उद्देश्य बनाकर उनके मानसीकी असाधिका होनेका विधान ''एतादृश्यौ ते तत्साधिके न''द्वारा हो रहा है. इसका प्रमाण श्रीवल्लभजी-श्रीव्रजनाथजी दोंनोके द्वारा समानतया प्रदत्त निष्कर्षनिरूपक वचन है ''तथा च एककर्तृके ए ते तत्साधिके'' बावजूद इसके पूर्वप्रक्रान्त

तनुजा एवं वित्तजा मेंसे वितैकचित्त होकर वित्तजाको अनिषिद्ध बनाना हो तो समानन्यायसे तनुजाको भी अनिषिद्ध मानना पडेगा. क्योंकि सेवाके विस्तृत प्रकारके निर्वाहार्थ मुखिया भीतरिया बालभोगिया दूधघरिया जलघडिया कीर्तनिया पखावजिया हारमोनिया झापटिया फूलघरिया पानघरिया समाधानी भेटिया की बटालियनको मजूरी महाराजोंको देनी पडती है. इसी तरह दर्शनार्थिओंको भी अपने गाममें पू.पा.(देवलक) महाराजश्रीको भगवत्सेवार्थ सन्मुखभेट मनोरथभेट महेताखानामें भेट-सामग्री आदि अनेक रूपोंमें वित्त देना ही पडता है. जैसे मुखियाओंसे तनुजासेवा करवानेको महाराजोंद्वारा की गई वित्तजा सेवा दोषावह नहीं, ऐसे ही पू.पा.महाराजश्रीओंसे तनुजासेवा करवानेको बनियाओंद्वारा की गई वित्तजासेवा भी दोषावह तो नहीं है. फिर जैसे मुखिया आदि सेवाका विक्रय नहीं करते क्योंकि वे वेतनबुद्धिसे वित्त नहीं ले रहे हैं, किन्तु सेव्यसुखार्थ ही, वैसे ही वैष्णव बनिया भी (देवलक) गुरुबुद्धिसे ही देते हैं तथा पू.पा.गुरु भी उसे छलकपटके बिना केवल स्वसेव्यप्रभुसन्तोषजननबुद्ध्या ही लेते हैं. ऐसी स्थितिमें यह क्यों नहीं कहा जाता कि वेतनबुद्ध्या प्रदत्त वित्तप्रदाताकी वित्तजा तथा वेतनबुद्ध्या ग्रहीत वित्तग्रहीताकी तनुजा --यों वित्तजा और तनुजा दोनों ही सेवाओंका यहां निषेध हो रहा है. एतावता श्रीपुरुषोत्तमजीके साथ श्रीवल्लभजी-श्रीव्रजनाथजी की एकवाक्यता भी सिद्ध हो जायेगी. फिर व्यर्थ ऐसे द्राविडप्राणायामके कुविमर्शकी आवश्यकता क्या है? जहांतक श्रीवल्लभजी-श्रीव्रजनाथजीद्वारा प्रदत्त फलितार्थ कि ‘‘एककर्तृके एव ते फलरूपमानससेवासाधिके’’ की भी उपपत्ति विमर्शकारने पृष्ठ १२२-१२३ पर दे ही दी है कि छलकपटरहित होकर सेवा करना ही अपना मुख्य सिद्धान्त है. अन्यथा इतने वैभवविस्तारसे सेवा हो ही नहीं पायेगी!

यदि वेतनत्वबुद्धिसे वेतनदान या वेतनग्रहण दोषावह है और स्वयं वेतनदानग्रहण नहीं; तब तो मद्यबुद्ध्या मद्यपान दोषावह होगा, ‘‘सर्वं खलु इदं ब्रह्म’’ श्रुत्युक्त ब्रह्मबुद्ध्या नहीं. सगोत्रकन्योद्वाह भी सगोत्रबुद्ध्या दोषावह होगा, कन्यबुद्ध्या नहीं. इसी तरह अन्याश्रय भी कृष्णेतर देवोंमें द्वैतबुद्ध्या ही अन्याश्रय होगा, शुद्धाद्वैतबुद्ध्या नहीं. तब इतरसंप्रदाय भी द्वैतबुद्ध्या ही

अननुसरणीय होंगें, सर्वबुद्धिप्रेरककृष्णप्रेरित धर्मबुद्ध्या नहीं. और तब तो -- ''आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि सर्वत्र च त्रिविधभेदविवर्जितात्मा''की अनुभूति हो ही जायेगी!

प्रतीत होता है कि ८४ तथा २५२ वैष्णवोंमें जो अकिंचन होनेपर भी तनुवित्तजा कर रहे थे उनमें अपने सेव्यको सन्तुष्ट करनेकी छलकपटरहित भावना ही नहीं थी! अन्यथा वे भी इस तरह व्यावसायिक मंदिर स्वसेव्यसन्तोषार्थ चलाकर उनमें दर्शनार्थी जनताके द्रव्यसे मुखिया-भीतरियाओंकी फौज रखकर स्वसेव्यसन्तोषजनिका वैभवपूर्ण सेवा क्यों नहीं करते! विमर्शकारोक्त सारेके सारे स्पष्टीकरणद्वारा कि शिष्टाचारप्राप्त महद्विमृग्य भक्तिप्रकार तो उसे भी कहा ही जा सकता! इससे सिद्ध होता है कि ८४-२५२के अन्तर्गत जितने भी निष्किंचन भगवदीय तनुवित्तजा सेवा करनेवाले थे वे उत्तमाधिकारी नहीं रहे होंगें!! कमसे कम श्रीवल्लभवंशज आधुनिक पू.पा.गोस्वामिओंकी तुलनामें तो अवश्य ही हीनाधिकारी पुष्टिजीव होंगें!!!

इसके बाद श्रीलालुभट्टजीने, यद्यपि, ''भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैराश्येन मन:कल्पनम्''-''अहैतुकक्यवयवहिता या भक्ति: पुरुषोत्तमे''-''गृहशुश्रुषणं मह्यं दासवद् यद् अमायया''-''सर्वलाभोपहरणम्'' वचनोंके सन्दर्भमें शब्दत: तनुजा एवं वित्तजा सेवाओंका पृथक्-पृथक् निरूपण किया है, परन्तु ''एककर्तृका (तनुजा+वित्तजा) =तनुवित्तजा''सूत्रको हृद्गत रखकर ही किया है. यह उनके आगामी अंशगत '' 'तत:'=तनुवित्तजसेवातएव''व्याख्यानसे सुस्पष्ट है.

श्रीद्वारकेशजीकी व्याख्या या तो विमर्शकारने देखी ही नहीं है या देखकर भी अनजान बने रहना चाहते हैं. अन्यथा विमर्शकारके पक्षका इससे अधिक सक्षम प्रत्याख्यान तो श्रीपुरुषोत्तमजीकी टीकाके आधारपर भी शक्य नहीं है. यहां उल्लेखनीय है ''द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते'' इस व्याकरणनियमका 'तनुवित्तजा'पदके व्याख्यानार्थ प्रयोग करनेवाले मूलत: श्रीद्वारकेशजी हैं.

श्रीद्वारकेशजीके अनुसार चित्तकी भगवत्प्रवणतासिद्धिके लिये तनुवित्तजा ही करणीय है. वे कहते हैं :

‘‘टीकायां समस्तपदमिति ‘तनुवित्तजा’ इति समस्तम्. तनुश्च वित्तं च ‘तनुवित्ते’ ताभ्यां ‘जा’ता=कृता स्वतः प्रादुर्भूता वा=‘तनुवित्तजा’. द्वन्द्वन्ते श्रूयमाणत्वात् तनुजा वित्तजा च.’’

इससे सर्वथा करतलामलकवत् स्पष्ट हो जाता है कि श्रीद्वारकेशजी तनुवित्तजा सेवाके स्वरूपगत ऐक्यको खण्डित करनेको तनुजा और वित्तजा का द्वन्द्वान्त नहीं सुना रहे हैं, जैसा कि विमर्शकारने कुविमर्शपूर्वक करना चाहा है. अपितु ‘तनुवित्तजा’में ‘जा’ द्वन्द्वान्तमें श्रुत होनेके कारण तनुजा और वित्तजा का तनुवित्तजाके साथ अनवाचय कर रहे हैं, ‘‘भिक्षाम् अट गां च आनय’’न्यायसे. विमर्शकारने जबकि स्वार्थमूलक अनवधानवश इस अन्वाचयार्थ प्रस्तुत गौण तनुजा और वित्तजा के कल्पसे प्रधान तनुवित्तजाकी प्रधानताको खतम करनेकी अभक्तिमयी अज्ञानमयी तथा क्षुद्रस्वार्थैकपरायणा अपनी मनोवृत्ति उजागर कर दी है! न केवल इतना अपि तु श्रीद्वारकेशजी जहां मानसीसेवाकी सिद्धिके लिये प्रधान तनुवित्तजा तथा तदानुषंगिक तनुजा और वित्तजा को मानसी सेवाके अवान्तरफल ब्रह्मबोधकी तथा संसारनिवृत्तिकी सिद्धिदायिनीके रूपमें ही प्रस्तावित करना चाहते हैं. इसका आगे खुलासा करेंगें. बिचारे श्रीद्वारकेशजीको इसकी लेशमात्र कल्पना भी नहीं होगी कि उनके इस ‘‘व्याख्याविन्यासवैचित्र्य’’के कारण आगामी पुष्टिमार्गियोंमें ऐसी कुमति प्रकट हो जायेगी कि अंगानुष्ठानार्थ प्रधान अंगीके विलोपनकारी विमर्शकारसदृश पक्षघर (मिश्र) प्रकट हो जायेंगें!

इसके बाद श्रीपुरुषोत्तमजीकी व्याख्याका गुजरातीमें अनुवाद तथा सारांश देनेवाले श्रीविठ्ठलरायजी तथा श्रीनरसिंहलालजी यहां क्या कहना चाहते हैं वह भी देख लेना चाहिये. श्रीवल्लभजी तथा श्रीव्रजनाथजीकी टिप्पणी में हम देख चुके हैं कि ‘‘एककर्तृके तनुजवित्तजे सेवे’’ = ‘‘तनुवित्तजा’’ और ‘‘तनुवित्तजा’’=‘‘एककर्तृत्वे सेवे’’ मान्य समीकरण है. तदनुसार एककर्तृक तनुवित्तजसेवाद्वय अथवा एक तनुवित्तजा सेवा ही

मानसीरूप परमफलकी साधिका होती है इस अंशमें किसी भी संस्कृतभाषामें व्याख्या लिखनेवालोंको मतभेद नहीं है. वैसे ही यथारुचि व्याख्यानशैलीका भेद इन गुर्जरभाषामें तथा व्रजभाषामें व्याख्यानकर्ताओंका भी स्पष्ट दिखलाई देता है. व्याख्येय अनुष्ठाके प्रकारमें तो मतभेदका कोई प्रश्न ही नहीं उठता है. तदनुसार सर्वप्रथम श्रीविठ्ठलरायजीने यद्यपि ''चित्त भगवानमां प्रवण थवुं तेनुं नाम सेवा. ते थवासारु तनुजा अने वित्तजा करवी.'' कहकर ''तेथी साध्यरूपी मानसीनो सार कहीने साधनरूपी सेवानी वात करे छे. एम श्रीगुसांईजी जाणीने आगला पदनुं वर्णन करे छे के कहेली जे मानसी सेवा तेना साधनो बे बीजा छे. वळी मूलमां श्रीआचार्यजीए आज्ञा करी छे के चित्तनुं प्रवण थवुं ते मानसी अने मानसी सिद्ध थवासारु तनुजा अने वित्तजा छे.'' यहां तनुजा एवं वित्तजा का पार्थक्य कण्ठत: निरूपित किया है परन्तु यह पार्थक्य व्याख्यानोपयिक है या अनुष्ठानोपयिक इसका खुलासा उनके अगले अनुवादसे हो जाता है : ''ए कहेली रीते कराय छे जे साधन तनुजा वित्तजा: अने ए परिपाकदशामां स्नेहथी कर्या करे त्यारे ए साधन छे -- ते जो रोजगार*पणाए पैसो आपीने करावे ते चित्तने रजोगुण पेदा करीने आपणा चित्तने भगवानमां प्रवणपणुं करती नथी. त्यारे जो पैसो आपनारने सेवा थई तेणे रजोगुण पेदा कर्यो तेणे करीने तत्प्रवणरूपी फल न थाय. तेमज पैसो रोजगारपणाथी (विमर्शकाराभिमत केवल वेतनत्वेन नहीं अपितु वृत्त्यर्थ: भी) लईने शरीरथी सेवा करे तो जेम ऋत्विजो एटले होम करनारा ब्राह्मणो करे तेने यज्ञनुं फल मळे नहीं. तेम ए रोजगार लईने सेवा करनारने तत्प्रवणरूपी फल न थाय. वादी शंका करे छे के जेम ऋत्विजो पैसो लईने होम करे छे ते होम करनारने फले छे तेम आंई पैसो आपनारने फलशे! एवी शंका न करवी केमके त्यांहा ऋत्विजोने दान (भृतकको वेतनत्वेन नहीं अपितु अभृतक ऋत्विजोंको शास्त्रविहित कर्मदक्षिणारूप एक विलक्षण दानप्रकारत्वेन) आपवुं अने वरण करवुं, एम भक्तिमार्गमां भगवाने नथी कह्युं तेथी न करवुं. भक्तिमार्गमां तो जेम भगवाने रीत कही छे तेम करवी. त्यारे ज साधनरूपी तनुजा वित्तजा पोते फलने पेदा करती पोते फलरूप थई जाय. हवे श्रीपुरुषोत्तमजीए जेनी टीका करी ते श्रीगुसांईजीना वाक्य छे जे पैसा आपीने सेवा कराववी ते एक अने

पैसो लईने सेवा करवी ते बीजी ए बे सेवा ते मानसीसेवा सिद्ध करती नथी (अर्थात् क्रीत-विक्रीत यों दो तनुजा नहीं प्रत्युत तनुजा और वित्तजा) ए बतावववासारु समासवाळुं पद छे. एणे करीने निरउपाधीनी रीते पोतानुं सर्वस्व भगवानमां निवेदन करीने पोतानो देह पण भगवानमां लगाडवो. एम करवाथी एना मनमां एम आवे जे हवे म्हारूं कोण छे? म्हारा भगवान छे अने एम थाय जे आ देह अने पैसो (अर्थात् तनु और वित्त ही तत्साधन हैं; तनुजा-वित्तजा नहीं. : गो.श्या.म.)

(*केवल 'वेतनत्वेन' ही नहीं अपितु द्रष्टव्य :''रोजगार''-गुजरानमाटे करवानो धंधो, नोकरी के उद्यम : गुजरातविद्यापीठप्रकाशित जोडणीकोश)

भगवानमां लगाडवा. ते ज्यारे थाय त्यारे एने प्रेम थयो तेथी मानसी सिद्ध थाय.'' (संवत् १९४८ में ठ.दयालमूलजीद्वारा बोम्बे सीटीप्रेसमें मुद्रित कराकर प्रकाशित की गई प्रतिमें पृष्ठ: १९,२२ तथा २३-२५)

बडोंने मानसीसेवारूप फलकी सिद्धिमें निजतन-निजधनका केवल कारणसामग्रीघटक होना ही नहीं निरूपित किया है परन्तु वृत्त्यर्थ भगवत्सेवन उपधर्म है यह भी निरूपित किया है. कमसे कम सौ वर्षपूर्व हुए श्रीविठ्ठलरायजीको तो परम्पराप्राप्त अध्ययनकी दुहाई देने वाले विमर्शकारकी तरह इस विषयमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है. अतएव वे कहते हैं : ''सेवा कथा विगेरे करतो होय ते लाभसारु अने म्होटाई (पीठाधीशत्व) करतो होय ते उपधर्म छे...उपधर्म ते पाखंड त्यारे उपधर्मथी देवलकपणा विगेरे दोष पेदा थाय.'' (पृ.८५-८६)

इसी तरह श्रीनरसिंहलालजी भी कहते हैं --''श्रीकृष्णमें चित्त प्रथम कछूक मग्न होय, पीछे श्रीकृष्णके अधीन होय और ता पीछे श्रीकृष्णमें एकतानरूपकूं प्राप्त होय सो सेवा कही है. ऐसी सेवा सिद्ध होयवे के लिये तनुवित्तजा सेवा है. अर्थात् श्रीकृष्णमें चित्तकी एकतानता होयवेके तनुजा (शरीरसूं) तथा वित्तजा (धनसूं) सेवा है. यहां तनुजा तथा वित्तजा ऐसे भिन्न-भिन्न पद नहीं कहेते तनुवित्तजा ऐसे समस्तपद कह्यो है ताको अभिप्राय ऐसो है जो अन्यकूं मूल्य ('वेतनत्वेन' अथवा केवल वेतनबुद्धया ही नहीं :

गो.श्या.म.) रूप धन देके सेवा करावे सो वित्तजा सेवा भई; परन्तु ताकरिके राजस आय जाय तासूं मानसीसेवा सिद्ध न होय और मूल्य (वेतनबुद्ध्या ही केवल नहीं अपितु जैसे मनोरथोंके निर्धारित मूल्य लेकर पलना-फूलमंडली-छप्पनभोगके नाटक किये जा रहे हैं : गो.श्या.म.) रूप धन लेके शरीरसूं सेवा करे सो तनुजा सेवा भई. परन्तु सोहू मानसीसेवाकूं सिद्ध नहीं करे हैं. जैसे यज्ञमें जितने ब्राह्मणको वरण होय तिनकों यज्ञको फल नहीं होय है तैसे ही मूल्य लेके सेवा करे तनुजासेवाको फल (मानसी सिद्ध न होय. तासूं भगवानमें निष्काम (अर्थात् वृत्त्यर्थ नहीं तथा पीठाधीशपदप्राप्त्यर्थ नहीं : गो.श्या.म.) स्नेह होय और शरीरसू तथा धनसूं संग ही जो सेवा करे ताकूं मानसी सिद्ध होय.'' (पृ.१३३-३४). पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तोंके तथाकथित परम्पराधीत तत्त्वोंके कुविमर्शमें जैसे विमर्शकारका कहना है उससे सर्वथा विपरीत श्रीनरसिंहलालजी महाराज भी कहते हैं --''लौकिक अर्थ इच्छा राखिकें जो भगवद्भजनमें प्रवृत्त होय सो सर्वथा क्लेश पावे हैं. इतने कछु लाभके लिये पूजादिकमें प्रवृत्त होय सो तो पाखंडी और देवलक कह्यो जाय है.'' (पृ. ४४-४५) इन दोनों अंशोकी एकवाक्यता साधकर देखनेपर तनुवित्तजा जैसे मानसीकी साधिका वैसे ही तनुजा, अर्थात् सेवार्थ दूसरेका वित्त लेकर अपने देहसे की जाती सेवा, मानसीकी केवल असाधिका ही नहीं अपितु पाखंडकी मनोवृत्ति तथा शास्त्रत: निन्दित देवलकत्ववृत्ति भी है यह सौ वर्ष पूर्वतक तो पुष्टिमार्गकी विद्वत्परम्परामें मान्य था--इतना निश्चित है. इसके बाद ८वां अंश हमें देखना है.

(८) 'तत: संसारदु:खस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम्' : इस अंशपर श्रीकल्याणरायजीने एक महत्वपूर्ण बात यह कही है कि तनुवित्तजा सेवाके कारण सेवाकर्ताके अहंताममतात्मक संसारसंबंधी दु:खकी निवृत्ति होती है अर्थात् भगवद्भजनोपयोगी अहंताममतात्मक संसार तो उपादेय ही होता है.

श्रीपुरुषोत्तमजीने आधुनिक पुष्टिमार्गिओंके लिये सर्वदा अवधेय बात यह कही है कि व्रजभक्तों जैसा अधिकार न होनेपर भी मार्गप्रवर्तकाचार्यचरणोक्त प्रकारसे (अर्थात् तनुजा-वित्तजा भिन्नकर्तृक भी हो सकती है ऐसा स्वार्थवश मनघडंत अर्थ निकालकर नहीं.) अर्थात् सदुपदिष्ट

प्रकारसे शास्त्रार्थको समझकर आचरणोंमें उतारना चाहिये. (स्वार्थी असज्जनोंके अपने उदरभरणार्थ निकाले गये मनघडंत अर्थको सुनकर नहीं). अत: न केवल बाह्या तनुवित्तजा अपितु आभ्यन्तरी मानसी सेवा भी यथोक्त रूपोंमें संपन्न होनेपर ही फलसाधिका होती है.

श्रीवल्लभजीका कहना है कि सेवाके ऐसे स्वरूपके निरूपणद्वारा यह सिद्ध होता है कि किसी भी फलकी आकांक्षा रखे बिना अपने (नहीं कि दर्शनार्थी जनताके) यच्च यावत् द्रव्यादिका निवेदन करके कार्यान्तरमें अपने देहको विनियुक्त किये बिना जब भगवदर्थ विनियोग हम कर पाते हैं, तब क्रमश: प्रेम प्रकट होता है; और बादमें मानसी सेवा हो पाती है. अतएव श्रीप्रभुचरण ‘‘एतादृश्य अवान्तरं फलं भवति इति आहु: तत इति’’ अंशकी व्याख्यामें ‘‘निवेदितस्वीयसर्वस्वस्य भगवद्विनियुक्तदेहस्य पुरुषस्य तत: इति साधनरूपसेवाद्वयत:’’ जो कहते हैं, यहां भी क्योंकि एककर्तृक भगवदपेक्षित यावत्द्रव्यसमर्पणरूपा सेवा तथा शरीरजभगवद्यावत्सेवा का सन्दर्भ निर्दिष्ट है, अत: भगवदपेक्षित द्रव्य न होनेपर या वैसी शारीरिक सामर्थ्य न होनेपर निभ नहीं पायेगी, इस आशंकाके समानार्थ यह पंक्ति है--ऐसा भी निरूपित करते हैं, तनुवित्तजाको केवल निरुपाधितया करनेके उपदेशार्थ नहीं जैसा कि विमर्शकारद्वारा अभिप्राया प्रस्तावित किया गया है.

यही बात श्रीव्रजनाथजी भी कहते हैं. अन्तर केवल इतना ही है कि उनके अनुसार क्योंकि एककर्तृका ही सेवा मानसीकी साधिका होती है अत: भगवत्सेवार्थ अपेक्षित यावद्द्रव्यसमर्पणार्थ तथा भगवत्सेवार्थ अपेक्षित यावत्तनुव्यापारार्थ किसीके असमर्थ होनेपर यह अशक्योपदेश हो जायेगा परन्तु यह उपदेश अशक्योपदेश नहीं है, क्योंकि सेवाको तनुवित्तजा कहा गया है अत: किसी भी फलकी आकांक्षा रखे बिना जितनी स्वयंकी वित्तसामर्थ्य हो --जितनी स्वयंकी तनुसामर्थ्य हो तदनुसार सेवा करनेपर यह मानसीकी साधिका बनती है. अतएव ‘एतादृश’पदकी व्याख्यामें ‘निवेदितस्वीयसर्वस्व’ तथा ‘भगवत्सेवाविनियुक्त’पर भार दिया गया होनेसे अग्रिमांश ‘‘तत:’की व्याख्याके रूपमें जो साधनसेवाद्वय कहा है वहां भी एककर्तृक सेवाद्वय ही विवक्षित है--यह सभी निष्काम भक्तिमार्गियोंको समझनेमें तकलीफ नहीं

होगी. सकाम तो देवलकवृत्तिका समर्थन करनेमें भी लज्जा अनुभव नहीं करता तो अधिक क्या कहना?

अतएव श्रीलालुभट्टजीने तो '' 'ततः'=तनुवित्तजसेवातएव संसारदुःखस्य...'' स्पष्टतया निरूपित किया है. श्रीद्वारकेशजीने यहीं श्रीवल्लभजी-श्रीव्रजनाथजीका इंगित पाकर अंगी तनुवित्तजात्वरूप अवच्छेदकसे बाह्यसेवावृत्ति मानसीसेवासाधकत्वको अवच्छिन्न माना है. इसी तरह अंगभूत तनुजात्व-वित्तजात्व अवच्छेदकोंसे ब्रह्मबोधनसाधकताको तथा संसारनिवृत्तिसाधकताको अवच्छिन्न माना है. हेतु अतीव मजेदार दिया है कि तनु पांचभौतिक होनेसे ब्रह्मात्मक है अतः ब्रह्मविनियुक्त होनेपर ''गंगात्वं... तद्वदत्रापि'' न्यायसे ब्रह्मात्मक होकर वैसा बोध पैदा कर देता है. इसी तरह ममतास्पदीभूत वित्त व्यामोहिकामायाका कार्य होनेसे आसुरी होता है. अतः ब्रह्मविनियुक्त होते ही ममता निवृत्त हो जाती है. ये दोनों ही मानसीसेवाके लिये हैं फिर भी तनुजा कारकहेतु बनती है ओर वित्तजा ज्ञापक. अतः स्वीय वित्तका अविनियोग चित्तकी अभगवत्प्रवणताका ही ज्ञापक है.

(III) उपसंहार

वैसे तो ८ वर्षपूर्व श्रीवल्लभस्मृति (ग्रन्थमाला)में प्रकाशित ''पुष्टिने शीतल छांयडे'' में विमर्शाधिकारिचतुष्टयीमेंके एक श्रीबालुराजाने भी स्वीकारा ही था कि ''प्रभुनी सान्निध्यमां जे द्रव्य अथवा चीजवस्तु भेट धरवामां आवे ते देवद्रव्य कहेवाय छे. कारण के ते प्रभुने उद्देशीने ज भेट धरवामां आवतुं होय छे. आ रीते आवेलुं द्रव्य अथवा कोईपण वस्तु होय तेमां सीधुं देवलकत्व आवे छे. तेथी अग्राह्य छे. श्रीनी सन्मुख भेट धरायेलुं द्रव्य अमारी पेढीमां (महेताखानामां) जमा थतुं नथी. तेने स्पष्ट देवद्रव्य कही शकाय अने ते द्रव्यथी सिद्ध थती सामग्रीमां भगवत्प्रसादी थया पछी महाप्रसादपणुं तो आवे छे परन्तु तेनी साथे तेमां देवद्रव्यपणुं रहे ज छे. तेथी वैष्णवोए ए महाप्रसादने देवद्रव्य समजीने ज व्यवहार करवो जोईए. ते महाप्रसाद लेवामां देवद्रव्यनो बाध तो रहेलो ज छे.'' (पृ.१८६-१८७). इसी तरह ''आवी तत्प्रवणरूपा सेवासिद्धिमां तनुजा अने वित्तजा सेवाना साहचर्यनी पण तेटली ज जरुर छे.

तनुवित्तजाना ययोगथी ज मुख्य जे मानसी सधाय...'' (पृ.२१४) इन दोनों विधानोंकी भी एकवाक्यता करनेपर स्वयं श्रीबालुराजाद्वारा श्रीवल्लभस्मृति(ग्रन्थमाला) में लिखे गये उस ग्रन्थ तथा षष्ठपीठाधीशपदा-लाभार्थ प्रकाशित महाप्रभु श्रीयदुनाथ (स्मृतिवश प्रकाशित) ग्रन्थप्रकाशनके इस नवम 'विमर्श'ग्रन्थमें विभिन्न परम्पराएं दृष्टिगोचर हो रही हैं! यह वदतोव्याघात भी इस सन्दर्भमें कम उल्लेखनीय नहीं है.

ऐसी स्थितिमें सिद्ध हो जाता है कि 'निरुपधि:'विशेषणका जो सोपाधिक उपयोग तनुवित्तजाके अनुष्ठानोपयिक स्वरूपैक्यके खण्डनार्थ किया है वह देवलकोंका केवल अविचारितरमणीय कुशकाशावलम्बन ही है. दूसरे शब्दोंमें प्राचीन ग्रन्थोंके अभिप्रायोंका स्वार्थानुकूल्येन लुण्ठन करनेका महासाहस है !

देवलकवृत्ति शास्त्रत: कहीं निन्दित तो कहीं अनिन्दित भी हो सकती है. जैसे सौत्रामणिमें सुराका विधान है, अन्यत्र सुराका स्पर्श भी निषिद्ध है. ऐसे है नियोगपद्धतिसे देवरसे गर्भधारण करनेकी विधवाको छूट भी थी और कलियुगमें निषेध भी. ऐसे गवालंभन भी कहीं-कभी विहित था तो कहीं-कभी निषिद्ध. इसी तरह पुष्टिमार्गीयेतर वैष्णव या शैव उपासनामें कभी कहीं देवलकताको दोष न माना हो एतावता पुष्टिमार्गमें वह दोष नहीं--यह कहना उल्लिखित कण्ठोक्त निन्दाओंके रहते कितना बडा वाक्छल है! यह असन्मार्गसे वित्तोपार्जन करनेका कैसा अधर्माग्रह है? यदि पू.पा.गोस्वामी महाराजोंको उनके सेव्य भगवत्स्वरूपके निमित्त या उद्देश्य करके जो कुछ दर्शनार्थिओंके द्वारा भेट-सामग्री दी जाती हो उसपर दर्शनार्थी (मैं शिष्य नहीं लिखता क्योंकि दुकानोंकी तरह भक्तिके व्यापारार्थ चलनेवाले इन आधुनिक मंदिरोंमें शिष्य ही आते हैं इसकी कोई गैरन्टी नहीं है : गो.श्या.म.) जनताद्वारा दिये जाते वित्तपर जनताका स्वत्व रखना या नहीं यह गुरुकी इच्छापर अधीन हो और ऐसे सारेके सारे द्रव्यपर गुरुका पूर्ण स्वत्व हो जाता हो तो किशोरीबाईके ठाकुरजीके लिये दी गई सामग्रीपर किशोरीबाईका स्वत्व होना चाहिये था. यदि कहा जाये कि देनेवाला वैष्णव न तो किशोरीबाईके परिवारका था और न उनका शिष्य तो क्या हुआ? एक वैष्णव दूसरे

वैष्णवको कुछ उपहार नहीं दे सकता क्या? यदि नहीं तो पू.पा.महाराजोंकी मुखियादिकी फौजको सेवकी भी न दे पायेगा! इसका उत्तर अब खुलकर देना पडेगा. यदि एक वैष्णव दूसरेको उपहार दे सकता है परन्तु भगवदर्थ देनेसे वह देवद्रव्य बना जाता हो तो गोस्वामिओंके यहां भी वही व्यवस्था होनी चाहिये. या फिर आधुनिक गोस्वामी असन्मार्गवर्ती देवलक हैं--यह स्वीकारना चाहिये. और इस दोषको दूर करनेका प्रयत्न सर्वप्रथम मनसे, पश्चात् वाणीसे तथा अन्तत: कृति=आचरणसे भी करना ही चाहिये.

आजकल कुछ लोग कह रहे हैं कि अन्य भी ऐसे अनेक स्खलन हैं उन्हें सुधारनेकी बात न करके क्यों मंदिरोंपर ही महमद गजनवीकी तरह हमला किया जा रहा है? उत्तर सीधा है, कि अन्य स्खलन व्यक्तिगत है जिन्हें न तो वैष्णव धर्मबुद्ध्या देखते हैं और न पू.पा.महाराजश्री उन्हें खुलेआम धर्मबुद्ध्या अनुसरणीय घोषित करते हैं. अत: वह व्यक्तिगत समस्या है. साम्प्रदायिक नहीं.

अतएव मुझे भी इस परिच्छेदको समाप्त करनेसे पहले जहां-जहां वैयक्तिक सन्दर्भोंमें. सिद्धान्तापसिद्धान्तका विशोधन करना पडा है, अर्थात् विमर्शकारके जैसी शुद्ध निर्वैयक्तिक भाषामें सिद्धान्त मैं लिख नहीं पाया हूं, मुझे तो अपनी इस असामर्थ्यका भी न केवल पूर्ण भान है अपितु कुछ अपराधबोध भी है. परन्तु क्योंकि साथ ही साथ मुझे यह भी अच्छी तरह अवगत है कि स्वयं विमर्शकारने भी अपने शुद्ध सिद्धान्तबोधके आधारपर प्रस्तुत ग्रन्थ प्रकट नहीं किया है, अपितु अर्थलोलुपतावश तथा पदप्रतिष्ठामोहवश ही यह अकाण्डताण्डव किया है. अत: उस खीजमें मैंने भी यह प्रतिअकाण्डताण्डव कर दिया है! और इसके लिये हृदयसे क्षमायाचनाके अलावा मेरे पास अन्य कोई उपाय भी नहीं है. विमर्शकार मुझे क्षमा करके मेरी आपत्तिओंपर अपना कोई ठोस निराकरण प्रस्तुत करते हैं तो मैं उस ऋणसे कभी उऋण नहीं हो पाउंगा. यदि क्षमा नहीं करते और मौन धारण कर लेते हैं; जैसे ‘पुष्टिमार्गीय पीठाधीश : स्वरूप और कर्तव्य’के बारेमें धारण कर लिया था, तो भगवदिच्छा!

अन्तमें --

युक्तिभिरतिशिथिलाभिः समादधानो दृढान्दोषान् ।
वल्लभरायोपि विमर्शग्रन्थव्याजेन दूषणं वक्ति ।।

इस तरह गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मज श्याममनोहरविरचित सेवा-देवद्रव्यादिविमर्श तथा सेवादेवद्रव्यादिसारसंग्रह क्रोडपत्रसहितकी विशोधनिका में प्रथम सिद्धान्तमुक्तावल्युक्त-सेवास्वरूपविषयकसिद्धान्त-निरूपणार्थ सेवाप्रकरणनामक प्रथम प्रकरण यहां समाप्त होता है.*

(*इसके बाद (२) शास्त्रीय सन्दर्भमें पुष्टिमार्गीयसेवार्थ आजीविकासस्वरूप-विशोधनिका (३) वार्ताविमर्शविशोधनिका (४) ट्रस्टप्रकरणविमर्शविशोधनिका (५) भावसंगोपनविमर्शविशोधनिका तथा (६) क्रोडाक्रीडनकक्रीडाविभंग 'पुष्टिमार्गीय पीठाधीश स्वरूप और कर्तव्य' अन्तर्गत स्मृति-सदाचारप्रकरणरूप परिशिष्टोपेतका प्रकाशन क्रमशः होगा.)

।। सकलान्तरात्मा श्रीहरिः प्रसन्नो भवतु ।।

***